प्रमाण और उसके भेदों के प्रामाण्य की परीक्षा

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

निर्देशक :
प्रो० डी० एन० द्विवेदी
विभागाध्यक्ष
दर्शन विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद

प्रस्तुतकर्ता :
अरुण कुमार दुबे
दर्शन विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद

दर्शन विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद
1998

विषयानुक्रम

आमुख

आरम्भ मे दर्शन का सम्बन्ध परमसत्ता या इससे सम्बन्धित सर्वोच्च सत् से माना गया था। किन्तु आधुनिक काल के प्रारम्भ मे तत्त्व की अपेक्षा ज्ञान के विश्लेषण को महत्त्व दिया गया और काण्ट के दर्शन मे यह पूरी तरह से ज्ञान-मीमासा हो गया। समकालीन दर्शन मे इसका सम्बन्ध विश्लेषण से हो गया। इधर नवीनतम प्रवृत्तियो के अनुसार पुन दर्शन का सम्बन्ध सत्ता के सामान्य विश्लेषण से जुडने लगा है और हाइडेगर के इस कथन को अत्यधिक महत्वपूर्ण माना जाने लगा है कि "Metaphysics is the core of Philosphy" यदि तर्क के लिए हम यह मान भी ले कि दार्शनिक चिन्तन का केन्द्रबिन्दु तत्त्वमीमासा है, तो भी यह प्रश्न उठता ही है कि जिस तत्त्व या सत्ता सामान्य का अध्ययन तत्त्वमीमासा मे किया जाता है, उसके स्वरूप, सख्या आदि को जानने का साधन क्या है? इन प्रश्नो का निर्णायक उत्तर तब तक नही खोजा जा सकता, जब तक हम मानवीय ज्ञान की उत्पत्ति, स्वरूप, निकष तथा ज्ञान के साधनो के स्वरूप, भेद, प्रामाण्य व सीमा आदि से सम्बन्धित प्रश्नो का उत्तर नही खोज लेते। वस्तुत कोई भी विश्वास—चाहे तत्त्वमीमासीय हो या इससे भिन्न—तर्क के अभाव मे अधविश्वास मात्र माना जाता है। प्रमाणमीमासा मानव के सहज विश्वास को अन्धविश्वास होने से बचा लेती है। ज्ञान मीमासा की इसी महत्ता ने मुझे ज्ञानमीमासीय विषय पर शोध-कार्य करने के लिए प्रेरित किया और शोध विषय के रूप मे मैने **"प्रमाण और उसके भेदों के प्रामाण्य की परीक्षा"** को चुना। वैसे, दर्शन की अवधारणा से सम्बन्धित यह विवाद मुख्यत पाश्चात्य दर्शन मे दिखाई देता है। भारतीय दर्शन मे तो तत्त्वमीमासा एव ज्ञानमीमासा का निर्वाह साथ साथ हुआ है। न्याय दर्शन इसका सबसे उत्कृष्ट प्रमाण है। भारतीय दर्शन की इसी समन्वयात्मक दृष्टि के कारण प्रस्तुत शोध—प्रबन्ध प्रमाणमीमासा हेतु भारतीय दर्शनो को सीमा रेखा के रूप मे स्वीकार करता है। विषयवस्तु को अति विस्तार से बचाने के लिए सभव व एतिह्य प्रमाणो का विवेचन प्रस्तुत शोध प्रबन्ध मे नही किया गया है।

विषयवस्तु की दृष्टि से प्रस्तुत शोध प्रबन्ध उपसहार के अतिरिक्त सात का अध्यायो मे विभक्त है।

अध्याय प्रथम – **'प्रमा एवं प्रमाण'** के अतर्गत प्रमा और प्रमाण के सामान्य स्वरूप पर विचार करते हुए, विभिन्न भारतीय दर्शनो के अनुसार प्रमा एव प्रमाण के विभिन्न लक्षणो के निरूपण के साथ ही इनके लिए तर्कसगत निकष प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। विभिन्न भारतीय दर्शनों में मान्य प्रमाणों की सख्या का उल्लेख भी प्रस्तुत अध्याय में है।

अध्याय द्वितीय - **'प्रत्यक्ष प्रमाण'** मे प्रत्यक्ष के स्वरूप पर विचार करते हुए विभिन्न भारतीय दर्शनो के अनुसार प्रत्यक्ष के सामान्य स्वरूप, विशिष्ट लक्षण, प्रत्यक्ष की प्रक्रिया, प्रत्यक्ष प्रमा के करण और प्रत्यक्ष ज्ञान के विभिन्न घटको यथा—इन्द्रिय, सन्निकर्ष एव प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय के साथ ही प्रत्यक्ष के भेदो का विवेचन किया गया है। अन्त मे विवेच्य विषय के समस्त पक्षो पर एक आलोचनात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

अध्याय तृतीय – **'अनुमान प्रमाण'** के अन्तर्गत अनुमान प्रमाण के सामान्य स्वरूप की व्याख्या करते हुए उसके विशिष्ट लक्षण एव प्रामाण्य के बारे मे विभिन्न भारतीय दर्शनो का दृष्टिकोण प्रस्तुत करने की कोशिश की गयी है। इसी क्रम मे अनुमान के करण, घटक एव उसके तार्किक आकार पर विचार करते हुए उसके आधारभूत तत्त्वो यथा-व्याप्ति तथा पक्षधर्मता से सम्बन्धित विभिन्न पक्षों को उद्घाटित करने का प्रयास किया गया है। अन्त मे विभिन्न दर्शनो के अनुसार अनुमान के भेदो पर विचार करते हुए अनुमान प्रमाण से सम्बद्ध समस्त पक्षो का समालोचनात्मक विश्लेषण करने का प्रयास किया गया है।

अध्याय चतुर्थ – **'उपमान प्रमाण'** मे उपमान प्रमाण के सामान्य स्वरूप, विशिष्ट लक्षण, प्रामाण्य के साथ उपमान की प्रक्रिया, करण तथा सादृश्यानुमान व उपमान के सम्बन्धो पर विचार करते हुए उपमान के प्रयोजन का समीक्षात्मक विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

अध्याय पचम – **'शब्द प्रमाण'** के अन्तर्गत शब्द प्रमाण के सामान्य स्वरूप, विशिष्ट लक्षण, प्रामाण्य, शब्दार्थ, शब्दार्थ सम्बन्ध, वाक्य के स्वरूप, वाक्यार्थ बोध की विधियो के साथ शब्द प्रमाण के भेदो का आलोचनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

अध्याय षष्ठ– **'अर्थापत्ति प्रमाण'** के अन्तर्गत अर्थापत्ति के सामान्य स्वरूप पर विचार करते हुए विभिन्न भारतीय दर्शनो मे मान्य उसके विशिष्ट लक्षणो, भेदो, प्रामाण्य आदि पर विचार करते हुए अध्याय के अत मे अर्थापत्ति प्रमाण के समग्र पक्षो पर एक समीक्षात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया है।

अध्याय सप्तम – **'अनुपलब्धि प्रमाण'** मे अनुपलब्धि प्रमाण के स्वरूप, लक्षण, प्रामाण्य तथा उसके प्रमेयरूप अभाव के भेदो के विवेचन के साथ अनुपलब्धि प्रमाण के सम्पूर्ण पहलुओ पर एक समालोचनात्मक दृष्टि डाली गयी है।

अन्त मे, **'उपसंहार'** में शोध-प्रबन्ध की उपलब्धि एव स्थापना पर विचार करने का प्रयास किया गया है।

इसके अतिरिक्त शोध से सम्बन्धित आधार पुस्तको एव सहायक सदर्भ ग्रन्थो की सूची प्रस्तुत है।

शताब्दियो से सचित ऋषियो की ज्ञानराशि के प्रामाण्य की परीक्षा करना मुझ जैसे मन्दमति किन्तु 'कवि यश प्रार्थी' के लिए अत्यन्त दुरूह एव असभव है। फिर भी इस कार्य मे यत्किचित् सफलता प्राप्त हुई, उसका सम्पूर्ण श्रेय मेरे शोध-निर्देशक **आचार्य प्रवर प्रो0 देवकी नन्दन द्विवेदी, विभागाध्यक्ष, दर्शन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद** को है जिन्होने अपना बहुमूल्य समय निकाल कर अपने कुशल निर्देशन के द्वारा दुर्लभ तथ्यो को सुलभ कराया, तत्परतापूर्वक शोध-कार्य को सम्पन्न करने के लिए प्रेरित किया तथा अपना असीम स्नेह एव आशीर्वाद प्रदान करते हुए मेरे शोध-कार्य को पूर्णता तक पहुँचाया। इस महती सदाशयता एव अनुग्रह के लिए गुरूवर प्रो० द्विवेदी जी का मैं आजीवन आभारी रहूँगा।

अनवरत सरक्षक की भूमिका का निर्वाह करने वाले डॉ० जटाशकर त्रिपाठी, रीडर, दर्शन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, के प्रति भी मै हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होने तमाम व्यस्तताओ के बाद भी समय-समय पर उचित मार्गदर्शन के द्वारा मेरे शोध-कार्य को शीघ्रतिशीघ्र पूर्ण करने के लिए अपना हर सभव सहयोग दिया। सदैव मेरे कल्याण मे सन्नद्ध डॉ0 हरिशकर उपाध्याय, रीडर, दर्शन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, को भी मै हृदय से धन्यवाद देता हूँ जिनका पूर्ण सहयोग एव आशीर्वाद शोध-कार्य के दौरान निरन्तर मिलता रहा। श्री राममूर्ति पाठक, विभागाध्यक्ष, दर्शन विभाग, इलाहाबाद डिग्री कालेज, इलाहाबाद का मै आजीवन आभारी रहूँगा जिनकी सदाशयतापूर्ण असीमित सहायता के बिना यह दुरूह कार्य सम्पन्न न हो पाता।

मै परम श्रद्धेय गुरूप्रवर प्रो0 सगम लाल पाण्डेय, प्रो० राम लाल सिह, प्रो० जे०एस० श्रीवास्तव, डॉ० राजेन्द्र स्वरूप भटनागर, श्री श्याम किशोर सेठ, डॉ० छोटे लाल त्रिपाठी, डॉ० नरेन्द्र सिह, डॉ0 गौरी चट्टोपाध्याय, डॉ0 मृदुला रवि प्रकाश एव परम हितैषी अग्रज तुल्य डॉ0 विभुराम मिश्र के प्रति भी आभार व्यक्त करता हूँ जिनके स्नेहहिल झरनो से निस्सृत असीम कृपा एव आशीर्वाद के परिणामस्वरूप मेरे लिए दुर्बोध सा प्रतीत होने वाला यह विषय सुगम बन सका।

मैं इलाहाबाद विश्वविद्यालय पुस्तकालय, इलाहाबाद, केन्द्रीय ग्रन्थालय बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, आई०सी०पी०आर० लखनऊ एवं डॉ० गंगानाथ झा केन्द्रीय शोध सस्थान, इलाहाबाद के कर्मचारियो के प्रति भी आभार व्यक्त करना अपना परम कर्त्तव्य समझता हूँ जिन्होने मेरे शोध-विषय से सम्बन्धित प्रभूत सामग्री को तत्परतापूर्वक उपलब्ध कराने मे अभिरूचि प्रदर्शित की।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के प्रति भी मै अपना आभार व्यक्त करता हूँ जिसने वरिष्ठ शोध छात्रवृत्ति प्रदान करके मेरे शोध कार्य को सम्पन्न करने मे अपना अविस्मरणीय योगदान दिया है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के सफलता पूर्वक सम्पन्न होने के लिए मै गार्हस्थ्य जीवन के झझावात मे निरन्तर सघर्षरत, कर्मठता की प्रतिमूर्ति पूज्यपिता श्री पारसनाथ दुबे एव वात्सल्य तथा करूणा की साक्षात् प्रतिमूर्ति पूज्या माता श्रीमती उमराजी देवी का चिर ऋणी हूँ जिन्होने मुझे निरन्तर प्रेरणा एव आशीर्वाद प्रदान कर प्रस्तुत शोध कार्य योग्य बनाया। इसी क्रम मे मै अपनी सहधार्मिणी श्रीमती शशि दुबे, अनुज श्री अनिल कुमार दुबे एव बेटे शिवम् से शोध-कार्य योग्य मिलने वाले उपयुक्त वातावरण एव अन्य सभी प्रकार के सहयोग के लिए इनके प्रति मैं ह्वदय से धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ।

अब मै सुह्रद एवं बाल सखा श्री राम सागर शर्मा, श्री श्याम कान्त त्रिपाठी, श्री राजेश कुमार सिह, डॉ0 दीप नारायण यादव, श्रीयुत् श्री प्रकाश दुबे, श्री मिथिलेश कुमार तिवारी, श्री हरी कान्त मिश्र, श्री राम सागर गुप्त, श्री लालता प्रसाद यादव, श्री जगदम्बा प्रसाद सिह, श्री देवेन्द्र प्रताप सिह, श्री चन्द्र प्रकाश सिह, कुँवर विक्रम सिह, श्री अजय कुमार सिह एव अनुजवत् श्री जय प्रकाश तिवारी के प्रति कृतज्ञता प्रकट करता हूँ जिन्होने शोध-कार्य मे प्रत्यक्ष एव परोक्ष हर प्रकार का सहयोग दिया। मै जय दुर्गे मॉ कम्प्यूटर प्वाइट के श्री रतन खरे एव सुश्री प्रीति के प्रति भी धन्यवाद ज्ञापित करना आवश्यक समझता हूँ जिनके अथक प्रयास एव आत्मीय सहयोग के बिना मेरा यह कार्य शीघ्र सम्पन्न नही हो सकता था।

अन्त मे, मैं यह विनम्र निवेदन करना भी अपना कर्त्तव्य समझता हूँ कि यदि इस शोध-प्रबन्ध मे कुछ तथ्य सत्य व अनुकूल बन पडे हो, तो यह ऋषियो की महती साधना एव गुरूओ की महती कृपा का प्रतिफल है और यदि कुछ भी दुष्ट या अनुचित लगे, तो वह मेरे अपने ही अज्ञान से जनित है, अतएव क्षन्तव्य है।

23 अप्रैल, 1998

Dubey

अरूण कुमार दुबे
दर्शन विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

अध्याय : प्रथम

प्रमा एवं प्रमाण

अध्याय प्रथम

प्रमा एवं प्रमाण

भारतीय ज्ञानमीमासा मे ज्ञान शब्द का पाश्चात्य ज्ञानमीमासा पद **"नालेज"** की तुलना मे अधिक व्यापक अर्थ मे प्रयोग किया गया है। पाश्चात्य दर्शन मे प्रयुक्त नालेज (ज्ञान) शब्द केवल यथार्थ ज्ञान का वाचक है। **जी० ई० मूर** ने ज्ञान की प्रकृति को स्पष्ट करने के लिए **"उपयुक्त ज्ञान"** (Knowledge Proper) शब्द का प्रयोग किया है।[1] पाश्चत्य ज्ञानमीमासीय अवधारणा से भिन्न भारतीय ज्ञानमीमासीय चिन्तन मे ज्ञान के अन्तर्गत यथार्थ और अयथार्थ दोनो प्रकार के ज्ञान सम्मिलित है। इनमे से यथार्थ ज्ञान प्रमा तथा अयथार्थ ज्ञान अप्रमा कहलाता है । पाश्चात्य दर्शन की उपयुक्त ज्ञान की अवधारण भारतीय ज्ञानमीमासीय पद प्रमा के समान है। अनेक विचारको ने नालेज और प्रमा को अभिन्न माना है।[2]

यथार्थ ज्ञान को प्रमारुप मानने मे सभी भारतीय दार्शनिक मतैक्य रखते है किन्तु यह यथार्थता किन अवस्थाओ मे है अथवा किन ज्ञानो मे है इस विषय मे भारतीय दार्शनिको मे मतभेद परिलक्षित होता है । दूसरे शब्दो मे प्रमा की विशेषताओ तथा उसके मापदण्ड के बारे मे उनमे मतभेद है । यहाँ विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या प्रमा का कोई सर्वमान्य लक्षण और मापदण्ड स्थापित किया जा सकता है? क्या उस सर्वमान्य विशेषता मे प्रमा की अन्य विशाषताएँ अन्तर्भूत है या उसमे अन्य विशषताओ का निषेध हो जाता है? इन प्रश्नो पर विभिन्न दर्शनो मे अपनी-अपनी दार्शनिक मान्यताओ के अनुसार विचार किया गया है।

प्रमा का लक्षण

न्याय दर्शन मे यथार्थ अनुभव को प्रमा का एक मुख्य लक्षण माना गया है। **न्याय भाष्य** मे **वात्स्यायन ने ' यथार्थ विज्ञानम् सा प्रमा** कहकर प्रमा का लक्षण निर्धारित किया है तथा बाद मे **"तस्मिन्स्तदिति प्रत्यय** [3] के रुप मे अपने लक्षण को स्पष्ट किया है। इस लक्षण के अनुसार विषय के अनुरुप ही उसका अनुभव (ज्ञान) होने पर वह अनुभव प्रमारुप है अन्यथा अप्रमारुप है। दूसरे शब्दो मे यथा अर्थ (विषय) तथा अनुभव ही प्रमा का लक्षण है। इस प्रकार न्याय दार्शनिक किसी वस्तु के असदिग्ध तथा यथार्थ अनुभव को प्रमा कहते है । उनके अनुसार स्मृति चूँकि किसी अतीत घटना के अनुभव पर आधारित होती है, इसलिए उसे प्रमा रुप न मानकर अप्रमारुप ही माना जाना चाहिए।

प्रख्यात नैयायिक **जयन्त भट्ट** ने **"न्याय मजरी '** मे प्रमा को **' असदिग्ध तथा अव्यभिचारी अर्थोपलब्धि '** के रुप मे परिभाषित किया है।[4] उनके अनुसार अर्थोपलब्धि का अर्थ **"अर्थजन्योपलब्धि"** है। प्रभाकर की भॉति वे भी कहते है कि जो ज्ञान अर्थ अर्थात विषय से उत्पन्न हो वह प्रमा होता है । चूँकि स्मृति की उत्पत्ति विषय से न होकर पूर्वज्ञान के सस्कारो

से होती है अत उसे अर्थजन्योपलब्धि नही कहा जा सकता और इसी लिए स्मृति प्रमारूप न होकर अप्रमारूप है। इस प्रकार नैयायिक प्रमा को सवादी ज्ञान के रूप मे परिभाषित करते है। उनका यह मत पाश्चात्य दर्शन मे स्वीकृत सत्य के सवादिता सिद्धान्त के पर्याप्त निकट है जिसमे वस्तु व ज्ञान को परस्पर स्वतन्त्र माना जाता है।

किन्तु प्राचीन न्यायदर्शन मे स्वीकृत प्रमा का लक्षण दोषपूर्ण है। यहाँ कठिनाई यह है कि यदि वस्तु ज्ञान से स्वतन्त्र है और दोनो के भिन्न आयाम है तो दोनो के भिन्न आयाम है तो दोनो मे तुलना कैसे सभव है? तुलना के अभाव मे यह कैसे निर्णीत होगा कि ज्ञान वस्तु के अनुरूप है या प्रतिकूल? न्याय दर्शन मे इसका कोई तर्कसगत समाधान नही मिल पाता। पुनश्च जयन्त द्वारा निर्धारित प्रमा के लक्षण को मान लिया जाय तो प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य सभी ज्ञान अप्रमा की कोटि मे आ जायेगे। इतना ही नहीं, जयन्त की परिभाषा को मान लेने पर भूत कालीन तथा भविष्यकालीन वस्तुओ का ज्ञान भी विषय द्वारा उत्पन्न न, होने कारण अप्रमारूप ही होगा। अत प्राचीन न्याय द्वारा निर्धारित प्रमा का लक्षण अमान्य है।

इन्ही कठिनाइयो के कारण नव्य न्याय के जनक आचार्य गगेश ने प्रमा को "यथार्थानुभव या "अर्थोपलब्धि' के रूप मे परिभाषित न करके अन्य रूप मे परिभाषित करते है।[5] **तत्त्वचिन्तामणि"** मे उन्होने **"तद्वति तत्प्रकारकानुभवो वा"** के रूप मे प्रमा को परिभाषित किया है। अर्थात् जो वस्तु वास्तव मे जिस तरह की हो उसे उसी तरह का समझना प्रमा है। इसे स्पष्ट करते हुए वे कहते है कि **"यत्र यदस्ति तत्र तस्यानुभव प्रमा।"** अर्थात जहाँ जो है वहाँ उसी का अनुभव प्रमा है जैसे यदि क ख' मे है तो ख' मे क' का ज्ञान प्रमा है।

किन्तु **प्रो० जे०एन० मोहन्ती**[6] ने **"तद्वति तत्प्रकारकानुभवो वा"** की आलोचना करते हुए कहा है कि यह परिभाषा मूलत यथार्थता से भिन्न नही है। उनके अनुसार तद्वती तद् प्रकारकत्व मे तद्वती अश तात्त्विक स्थिति की ओर सकेत करता है जबकि तत्तप्रकारकत्व ज्ञानात्मक स्थिति की ओर निर्देश करता है। इस प्रकार इस परिभाषा का अर्थ हुआ कि यदि ज्ञानात्मक स्थिति तात्त्विक स्थिति के अनुरूप (सवादी) हो तो वह ज्ञान प्रमारूप होगा और यदि दोनो पक्षो मे सामञ्जस्य न हो तो वह अप्रमारूप होगा। लेकिन यहाँ प्रश्न यह है कि यदि वस्तु ज्ञान से स्वतत्र हो तो ज्ञान और विषय की समरूपता का ज्ञान कैसे होगा? यदि ज्ञान और वस्तु मे अव्यवहित सवादिता को स्वीकार किया जाय तो सशय और भ्रम जो अप्रमारूप है, की व्याख्या नही की जा सकती है। इस प्रकार गगेश द्वारा प्रस्तुत प्रमा का लक्षण यथार्थवाद की कठिनाइयो की ओर ले जाता है और इसीलिए अमान्य है।

साख्य दर्शन के अनुसार किसी विषय के यथार्थ निश्चित ज्ञान (अर्थपरिच्छित्ति) को "प्रमा" कहते है । **साख्य सूत्रकार कपिल** के अनुसार असन्निकृष्ट अर्थ का निश्चय करना प्रमा है और पुरूष इस प्रमारुपी फल का आश्रय है। **वाचस्पति** मिश्र ने **"चित्तवृत्ति '** के रूप मे प्रमा को परिभाषित किया है। उनके अनुसार प्रमा वह ज्ञान है जो उस विषय को बताता है जो

सशयरहित वास्तविक ओर नवीन हो—**"तच्चासदिग्धविपरीता— नधिगतविषयचित्तवृत्ति ।"**[7] साख्यो के अनुसार चैतन्य (पुरूष) के प्रकाश के बिना जड बुद्धि मे किसी विषय का ज्ञान नही हो सकता। लेकिन यहॉ कठिनाई यह है कि यदि पुरूष को प्रमाता माना जाय तो उसमे कर्त्तृत्व का आरोप करना होगा जो कि युक्तियुक्त नही है क्योकि पुरूष स्वभावत निष्क्रिय और प्रमा का साक्षी है। अत साख्य मत को भी निर्दोष नही माना जा सकता है।

जैन दर्शन मे प्रमा के लिए प्रमाण शब्द का प्रयोग किया है। **समन्तभद्र** के अनुसार स्व और पर' का अवभास कराने वाला ज्ञान प्रमाण है— **स्वपरावभासक यथा प्रमाण भुवि बुद्धि विलक्षणम् ।"** सिद्धसेन दिवाकर ने इसमे **"बाधविवर्जितम्"** को भी जोडा है – **'प्रमाण स्वपराभासिज्ञान बाधविवर्जितम् ।"**[8] **अकलकदेव, माणिक्यनन्दि** आदि कुछ आचार्य **"अपूर्व अनधिगत '** आदि पदो को जोडकर **नवीन ज्ञान** को प्रमाण मानने के पक्ष मे है जबकि **हेमचन्द्र** प्रभृति आचार्य अगृहीतग्रहण के अलावा गृहीतग्रहण को भी प्रमाण मानते है। जैनो के दो सम्प्रदायो मे से **दिगम्बर** अगृहीतग्राही को ही प्रमाण मानते है जबकि श्वेताम्बर गृहीतग्राही को भी प्रमाण मानते है। वस्तुत जैनियो का प्रमाण विचार बौद्धो व मीमासको से काफी साम्य रखता है। इसलिए इसमे बौद्ध व मीमासा मत मे विद्यमान सारे दोष आ जाते हैं।

जैनो की भॉति बौद्ध दार्शनिक भी प्रमा व प्रमाण मे अतर नही मानते है और दोनो के लिए **सम्यक् ज्ञान '** शब्द का प्रयोग करते **हैं**। **धर्मोत्तर** के अनुसार जिससे सभी प्रकार के पुरूषार्थ की सिद्धि हो ऐसी वस्तु का प्रदर्शक ज्ञान है प्रमाण[9] तथा अविसवादकत्व ही प्रमात्व है। **'धर्मोत्तर प्रदीप''** मे **धर्मोत्तर** ने अनधिगत विषय के ज्ञान को प्रमा माना है— **"अनधिगत विषय प्रमाण ।"**[10] **धर्मकीर्ति के अनुसार अविदिति अर्थ का ज्ञान कराने वाला सम्यक् तथा अविसवादक ज्ञान प्रमाण है— "अविसवादक ज्ञानम् सम्यग्ज्ञानम् अनाधिगत विषयम् प्रमाणम् ।"** इस प्रकार बौद्ध दार्शनिक केवल दो विशेषताओ से युक्त ज्ञान को प्रमारूप मानते है। पहला **अविसवादक ज्ञान** दूसरा **अनधिगत विषय से युक्त ज्ञान है**। अविसवादक ज्ञान से बौद्धो का आशय उपदर्शित वस्तु को प्राप्त करा देने वाले ज्ञान अर्थात् प्रयोजनपूरक ज्ञान या अर्थक्रिया कारी ज्ञान से है, जबकि अनधिगत विषय के ज्ञान से उनका आशय नवीन ज्ञान से है। प्रमा के इन दोनो लक्षणो मे से प्रथम का समर्थन **नैयायिको** व प्रभाकर मीमासको ने भी किया है, जबकि द्वितीय का समर्थन **मीमासक** करते है।

किन्तु प्रमा के उपर्युक्त दोनो लक्षण दोषपूर्ण हैं। सवादप्रवृत्ति या अर्थक्रियाकारित्व को प्रमा का लक्षण मानने का **मीमासको व अद्वैत वेदान्तियो** ने विरोध किया है। **धर्मराजाध्वरीन्द्र** के अनुसार कभी–कभी मिथ्या सज्ञान भी हमारे प्रयोजन को सिद्ध कर देता है। इस लिए प्रयोजन की पूर्ति मात्र अथवा **' सवादप्रवृत्यानुकूलता''** को प्रमा का स्वतन्त्र निकष नहीं माना जा सकता है। **नारायण** के अनुसार किसी ज्ञान की उपयोगिता के आधार पर उसके प्रमात्व का निर्धारण करने से 'अतिव्याप्त परिभाषा दोष उत्पन्न' हो जाता है, क्योकि स्मृति की उपयोगिता के आधार

पर उसे भी प्रमा कहा जा सकता है। पुनश्च कभी–कभी अतीतकाल और भविष्यकाल की वस्तुओ के ज्ञान का वर्तमान काल मे कोई उपयोग और अस्तित्व नही होता है। अत उनकी कोई उपयोगिता न होने के कारण उनका ज्ञान भी अप्रमा हो जायेगा।[11] इसके अतिरिक्त जिस व्यक्ति को प्यास न लगी हो उसके लिए जल का ज्ञान यथार्थ होते हुए भी अप्रमारूप हो होगा। इससे स्पष्ट होता कि उपयोगिता के आधार पर किसी ज्ञान के प्रमात्व का निर्धारण नही किया जा सकता । लेकिन इसका अर्थ यह नही है कि उपयोगिता का प्रमात्व निर्धारण मे कोई मूल्य नही है। भूतकालीन वस्तुएँ वर्तमान काल मे भले ही उपयोगी न हो किन्तु उनका प्रभाव बना रहता है। इसी प्रकार भविष्य सम्बन्धी वस्तुओ एव घटनाओ का ज्ञान वर्तमान वस्तु के किसी न किसी प्रभाव के रूप मे ही सभव होता है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि यद्यपि किसी ज्ञान के प्रमात्व निरूपण मे उपयोगिता भी महत्व पूर्ण हो सकती है तथापि इसे प्रमा का स्वतन्त्र लक्षण नही माना जा सकता है।

इसी प्रकार, अनधिगतता को भी प्रमा का लक्षण नहीं माना जा सकता है क्योकि अनधिगतता को प्रमा का लक्षण मान लेने पर भूत तथा भविष्य के विषय मे ज्ञान तथा अनुमान से प्राप्त ज्ञान की सत्यता पर भी सदेह उत्पन्न होने का भय है। इसलिए अविसवादक ज्ञान की भॉति ही अनधिगत ज्ञान को प्रमा का स्वतन्त्र लक्षण नही माना जा सकता है। अत प्रमा सम्बन्धी बौद्ध मत भी अमान्य है।

प्राभाकर मीमासक ज्ञानमीमासा तथा तत्वमीमासा दोनो ही क्षेत्रो मे धुर वस्तुवादी है। वे सभी ज्ञान को प्रमा रूप मानते है। उनके अनुसार ज्ञान इकाई रूप न होकर दो ज्ञानो का का मिश्रण होता है। ज्ञान वस्तु का प्रकाशक है और वस्तु को प्रकाशित करने मे ही उसका प्रमात्व है। चूँकि सभी ज्ञान वस्तु के प्रकाशक है इसलिए सभी ज्ञान प्रमारूप हो जायेगे। इस कठिनाई से बचने के लिए प्राभाकरो ने अनुभूति को प्रमा माना है। अनुभूति वस्तु व इन्द्रिय के सम्पर्क से प्रत्यक्षत उत्पन्न होती है, इसलिए वह प्रमारूप है। स्मृति अनुभूति रूप न देकर सस्कार जन्य है, इसलिए वह प्रमारूप नही है– **"अनुभूति प्रमाणम् सा स्मृतेरन्या स्मृति पुन पूर्व विज्ञान सस्कारमात्रजम् ज्ञानमुच्यते।"**[12]

प्राभाकरो के उपर्युक्त सिद्धान्त को मान लेने से धारावाहिक ज्ञान के विषय मे कठिनाई यह उठती है कि उसे प्रमारूप माना जाय या अप्रमारूप। प्राभाकरो की उपर्युक्त परिभाषा को मान लेने से धारावाहिक ज्ञान मे बाद के क्षणो का ज्ञान सस्कार जन्य होने से अप्रमा कहा जायेगा और इस प्रकार पूरा धारावाहिक ज्ञान अप्रमा हो जायेगा। किन्तु ऐसा मानना उचित नही होगा क्योकि हमे धारावाहिक ज्ञान से भी सत्य ज्ञान प्राप्त होता रहता है। उक्त कठिनाई का समाधान करते हुए **शालिकनाथ** ने कहा है कि बाद के क्षणो के वस्तु का ज्ञान भी इन्द्रियो और वस्तु के सन्निकर्ष से माना जायेगा क्योकि वे सभी ज्ञान पहले क्षण के ज्ञान से जुड़े हुए है। इसलिए पूरा धारावाहिक ज्ञान प्रमा के अन्तर्गत रखा जा सकता है। किन्तु प्रभाकर के अनुयायियो को अपनी प्रमा की

परिभाषा को सुरक्षित रखने मे तब कठिनाई होती है जब उनके सामने ऐसे सत्य का ज्ञान प्रदान करने वाले अनुमान का प्रश्न उपस्थित होता है जिनमे पक्ष इन्द्रियो के समक्ष उपस्थित नही होता और व्याप्ति के आधार पर अनुमान किया जाता है।

प्रभाकर के कुछ अनुयायियो ने **व्यवहार–अविसवाद** को भी प्रमा का लक्षण मान लिया है। उनके अनुसार जिस ज्ञान से व्यवहार मे वस्तु प्राप्ति होने पर हमारी आकाक्षा पूरी होती है वह प्रमा है और जिस ज्ञान से व्यवहार मे सफलता नही मिलती हो वह अप्रमा है। यहॉ प्राभाकरो का मत बौद्धो व नैयायिको के सदृश हो जाता है। अत प्राभाकर मत मे भी वे कठिनाइयॉ आ जाती है जो बौद्धो व नैयायिको के मत मे विद्यमान है।

इस प्रकार प्राभाकरो के मत मे एक विकास–क्रम दिखाई देता है। वे क्रमश प्रमा के तीन रूपो की चर्चा करते हैं। प्रथम स्तर पर वे सभी ज्ञान को प्रमा मानते हैं। किन्तु यह मत अव्यवहारिक है। द्वितीय स्तर पर वे केवल अनुभूति को प्रमा मानते है। इस अर्थ मे स्मृति प्रमा नही है। इस मत की रक्षा करने मे उन्हे बहुत कठिनाई का सामना करना पडता है। तीसरे स्तर वे व्यवहार मे अविसवादी ज्ञान को प्रमा मानते है। किन्तु यहॉ भी वे अपने को निर्दोष नही रख पाते। इस प्रकार प्राभाकर मीमासक प्रमा की परिभाषा मे निरन्तर सुधार करते रहे किन्तु कोई निर्दोष एव सर्वमान्य परिभाषा देने मे से सफल नही हो पाये।

कुमारिल भट्ट ने प्रमा को परिभाषित करते हुए लिखा है –

"तस्मात् दृढ यदुत्पन्न नाऽपि सवादमिच्छति।
ज्ञानान्तरेण विज्ञान तत् प्रमाण प्रतीयताम् ।।"[13]

अर्थात प्रमा वह दृढ (निश्चित) ज्ञान है जिसके सवाद (प्रामाण्य सत्यापन) के लिए किसी अन्य ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती है। **उम्बेक के अनुसार** प्रमाण की उक्त परिभाषा मे **'दृढ'** पद प्रमा को सशय से अलग करता है तथा न **सवादमिच्छति"** (जिसका अन्य किसी ज्ञान से बाध नही होता) प्रमा का भ्रम से भेद करता है। **पार्थसारथि मिश्र** के अनुसार प्रमा वह ज्ञान है जो कारण–दोष से रहित, बाधकज्ञान से रहित तथा अगृहीतग्राही (अनधिगत नवीन) हो **कारणदोषाबाधकज्ञानरहितम् अग्रहीतग्राहिज्ञानम् प्रमाणम्।** '[14]

स्पष्टत भाट्ट मीमासको का प्रमा लक्षण प्राभाकर मीमासको के प्रमा लक्षण से भिन्न है। **प्राभाकर व्यवहार** अविसवाद को भी प्रमा का लक्षण मानते है, जबकि भाट्ट मत मे व्यवहार अविसवाद को प्रमा का लक्षण नही बताया गया है। इस वैषम्य के बाद भी दोनो अनधिगतता को समान रूप से प्रमा का लक्षण मानते है। **बौद्ध** भी अनधिगतता को प्रमा का लक्षण मानते है। लेकिन दोनो मे प्रमुख अतर यह है कि बौद्ध धारावाहिक ज्ञान को प्रमा का लक्षण नहीं मानते, जबकि मीमासक धारावाहिक ज्ञान को प्रमारूप मानते है। इस प्रकार मीमासा दर्शन मे प्रमा की चार विशेषताएँ मानी गयी है– 1 अनधिगतता, 2 दृढता 3 कारणदोषरहितता, 4 बाधकज्ञानरहितता।

अब यहाँ प्रश्न यह है कि क्या प्रमा के लिए ज्ञान मे उपर्युक्त सभी विशेषताऐ होनी आवश्यक हैं? क्या प्रमा के उपर्युक्त लक्षणो एव मानदण्डो को किसी सर्वोच्च लक्षण एव मानदण्ड के अन्तर्गत रखा जा सकता है? उपर्युक्त मे से **नवीनता या अनधिगतता** को प्रमा का लक्षण नही माना जा सकता क्योकि ऐसी स्थिति मे भूत तथा भविष्य के बारे मे ज्ञान तथा अनुमान से प्राप्त ज्ञान की सत्यता पर भी सन्देह होने लगेगा। इसलिए नवीनता को प्रमा का लक्षण नही माना जा सकता। **दृढता** या **निश्चितता** को प्रमा को विशेषता मानी जा सकती है। किन्तु किसी ज्ञान के प्रमात्व का निरूपण मनोवैज्ञानिक निश्चितता के आधार पर नही किया जा सकता है। मनोवैज्ञानिक निश्चितता प्रमा के साथ–साथ भ्रम (अप्रमा) मे भी पायी जाती है। अत प्रमा के लिए वस्तुनिष्ठ निश्चितता आवश्यक है। जब किसी ज्ञान की सत्यता की निश्चितता के लिए हमारे पास कोई तार्किक आधार होता है तो उसे प्रमा कहते है। अत दृढता को प्रमा का लक्षण माना जा सकता है किन्तु दृढता का आधार मनोवैज्ञानिक नही बल्कि तार्किक होना चाहिए। इसी प्रकार **कारण–दोषरहितता", बाधकज्ञानरहितता''** को भी प्रमा की विशेषता मानने मे कोई मतभेद नही है।

मीमासको ने जिसे बाधकज्ञानरहितता' कहा है, अद्वैत वेदान्तियो ने उसे ही अबाधितविषयज्ञान कहा है। धर्मराजाध्वरीन्द्र अबाधिता को प्रमा का प्रमुख लक्षण निर्धारित करते हुए लिखा है– **प्रमात्व अनधिगताबाधित–विषयज्ञानत्वम्।**[15] अर्थात अनधिगत और अबाधित विषय का ज्ञान ही प्रमा है। दूसरे शब्दो मे, जिस ज्ञान का उत्तर काल मे बाध न हो ऐसे ज्ञान को प्रमा मानना चाहिए। यह लक्षण अनुभव तथा स्मृति दोनो पर समान रूप से घटित होता है इसलिये वेदान्तियो ने स्मृति को प्रमा मानने का विरोध नहीं किया। उनके अनुसार स्मृति को भी प्रमा माना जा सकता है। **जैन** और **वैशेषिक** दार्शनिको ने भी स्मृति को प्रमा रूप माना है।

किन्तु **नव्य न्याय के जनक आचार्य गगेश** ने अबाधिता को प्रमा का लक्षण मानने का इस आधार पर विरोध किया है कि अबाधिता को प्रमा का लक्षण मान लेने पर अप्रमा को भी प्रमारूप माना पडेगा क्योकि कभी–कभी अज्ञान भी काफी समय तक अबाधित रहता है। उनके अनुसार यद्यपि एक सत्य ज्ञान को असत्य ज्ञान बाधित करता है, किन्तु यह बाधा उसी समय होगी, जब एक ज्ञान सत्य और दूसरा ज्ञान असत्य होगा। किन्तु यदि दोनो ही ज्ञान असत्य होगे तो बाधा होगी ही नही। गगेश यह भी कहते है कि यदि हम यह मान भी ले कि एक ज्ञान दूसरे से बाधित हो जाता है, तो इससे यह निष्कर्ष निकालना सभव नही है कि इन दोनो ज्ञानो मे से कौन सा ज्ञान प्रमारूप है। इसीलिए गगेश अबाधिता को प्रमा का लक्षण मानने का विरोध करते है।

किन्तु अद्वैत वेदान्तियो के विरूद्ध गगेश का आक्षेप उचित नहीं है। वस्तुत गगेश का आक्षेप केवल तभी प्रयोज्य हो सकता है, जब हम यह मान ले कि जिस समय एक ज्ञान दूसरे ज्ञान से बाधित होता है और अन्य ज्ञान के रूप में परिवर्तित होता है, तो यह परिवर्तन आकस्मिक

या अकारण होता है। किन्तु अद्वैत वेदान्तियो का ऐसा कोई मन्तव्य नही है। उनके अनुसार अबाधिता का अर्थ यह है कि यदि दो ज्ञानो मे विरोध हो तो इस विरोध की कोई न कोइ उपयुक्त व्याख्या अवश्य उपलब्ध होनी चाहिए अन्यथा उसे प्रमा नही कहा जा सकता है।

अबाधिता के उपर्युक्त अर्थ को स्वीकार करके **न्याय दर्शन** मे स्वीकृत यथार्थता की विशेषताओ से उत्पन्न कठिनाइयो को भी सुलझाया जा सकता है। अबाधिता को स्वीकार कर लेने पर कारण दोषरहितता और निश्चितता की विशेषताऐ स्वत ही स्वीकृत हो जायेगी। अबाधिता को स्वीकार किये बिना प्रमा की अन्य विशेषताएँ स्वीकार नही की जा सकती है। इससे सिद्ध होता है कि अबाधिता वह सर्वोच्च मापदण्ड है जिसके अन्तर्गत अन्य सभी मापदण्ड स्वत स्थापित हो जायेगे। अत अबाधित सत्य ज्ञान को प्रमा का निर्दोष लक्षण माना जा सकता है।

प्रमाण

प्रमा के विवेचन प्रकरण मे यह स्पष्ट किया गया है कि अर्थ विषयक यथार्थ (अबाधित) ज्ञान को प्रमा कहते है। इस सन्दर्भ मे यहॉ एक स्वाभाविक प्रश्न यह उठता है कि इस यथार्थता को परखने की कसौटी क्या है? अथवा सत्य का बोध कराने के लिए साधन क्या है ? इन प्रश्नो पर विचार करना इस लिए आवश्यक है कि साधन के अभाव मे न तो अर्थ विषयक यथार्थ ज्ञान हो सकता है और न ही यथार्थज्ञान (प्रमा) का अयथार्थ ज्ञान (अप्रमा) से विभेद ही किया जा सकता है। उक्त परिपेक्ष्य मे यह माना जाता है कि प्रमाता को जिन साधनो के द्वारा विषय का यथार्थ (अबाधित) ज्ञान होता है उन्हे दार्शनिक शब्दावली मे **प्रमाण** कहा जाता है। कहा भी गया है कि प्रमाणो के अधीन प्रमेय की व्यवस्था और प्रमाणो की व्यवस्था उनके लक्षणो पर अवलम्बित होती है– **मानाधीना मेयसिद्धिर्मानसिद्धिश्च लक्षणात्।**"[16] वस्तुत प्रमाण विषयक परिचर्चा के अभाव मे कोई भी ज्ञान सिद्धान्त तार्किक रूप से पगु ही रहता है। यह प्रमाण ही है जो कि ज्ञेय को बौद्धिक स्तर पर व्याख्यायित करने का प्रयास करता है। एक अर्थ मे प्रमाणमीमासा ज्ञान की समूची प्रक्रिया का बौद्धिकीकरण है। अतएव ज्ञान के सन्दर्भ मे प्रमाण के स्वरूप प्रकार आदि पर विचार करना न केवल महत्वपूर्ण है बल्कि अनिवार्य भी है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से प्रमाण शब्द **'प्र'** उपसर्ग पूर्वक **मा'** धातु मे ल्युट प्रत्यय जोडकर बना है। ल्युट जब भाव मे होता है तो इसका अर्थ है **'प्रमा** (यथार्थ ज्ञान) परन्तु ल्युट जब करण अर्थ मे किया जाता है, तब इसका अर्थ होता है– प्रमा का करण या साधन–**"प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम्।"** इस प्रकार प्रमाण शब्द के उपर्युक्त दो अर्थ विवक्षित होते है फिर भी इसका अधिक प्रयोग प्रमा के करण के रूप मे ही किया जाता है। विवेच्य प्रसग मे भी प्रमाण शब्द का प्रयोग इसी दूसरे अर्थ मे किया गया है।

जिस प्रकार प्रमा को यथार्थानुभवरूप मे स्वीकार करने मे दार्शनिको मे मतभेद नहीं दिखाई देता, उसी प्रकार प्रमाण को प्रमा के करण के रूप मे **(प्रमाकरण प्रमाण)**[17] स्वीकार

करने मे दार्शनिको मे कोई विप्रतिपत्ति दृष्टिगोचर नही होती। लेकिन करण शब्द की व्याख्या को लेकर दार्शनिको मे मतभेद दृष्टिगोचर होता है।

करण शब्द की व्याख्या करते हुए **महर्षि पाणिनि** ने कहा है कि **"साधकतम् करणम्"**[18] अर्थात् क्रिया की सिद्धि मे जो सबसे प्रकृष्ट उपकारक अथवा सर्वाधिक सहायक कारण होता है उसे करण कहा जाता है। साधकतम् उसे कहते है जो क्रिया का प्रकृष्टोपकारक अर्थात सबसे अधिक समीपवर्ती हो जिसका व्यापार होते ही क्रिया के फल की निष्पत्ति हो जाये तथा बीच मे किसी वस्तु का व्यवधान न हो।

करण शब्द की व्याख्या को लेकर **प्राचीन नैयायिको** व **नव्य नैयायिको** मे मतभेद है। **प्राचीन नैयायिको** के अनुसार करण का अर्थ है ऐसा कारण (साधन) जो व्यापारवत और असाध ारण हो—**"व्यापारवद् असाधारणम् कारण करणम्"**। यहॉ असाधारण कारण से आशय ऐसे कारण से है जिसकी अनुपस्थिति मे कार्य की उत्पत्ति न हो सके। यहॉ पर **असाधारण** शब्द **करण** को अन्य कारणो से अलग करता है जबकि **व्यापार** शब्द इस प्रकार के विषयो को छोड देता है जो कार्य करने के समय व्यापारवत् नही है किन्तु ऐसा करने की (व्यापार की) क्षमता रखते है। किन्तु **नव्य नैयायिक** करण की इस व्याख्या को अस्वीकार करते है। उनके अनुसार **करण** ऐसा कारण (साधन) है जिसके होने से तुरन्त कार्य उत्पन्न होता है— **"फलयोग्यावच्छिन्न कारण तज्जनकताप्रयोजक जनकताकत्व व्यापारत्वम्।"**[19] इस प्रकार प्राचीन नैयायिक जहॉ करण को द्रव्यस्वरूप मानते है वहॉ नव्य नैयायिको के अनुसार करण स्वय व्यापार का स्वरूप है। जैसे कुल्हाडी से लकडी काटने की स्थिति मे प्राचीन नैयायिको के अनुसार स्वय कुल्हाडी करण है जबकि नव्य नैयायिको के अनुसार कुल्हाडी का प्रहार (कुल्हाडी का व्यापार) करण है।

वस्तुत करण की व्याख्या के सम्बन्ध मे प्राचीन और नव्य नैयायिको के मतो मे अतर होते हुए भी कोई आत्यन्तिक विरोध नही है क्योकि पाणिनि के सूत्र **"साधकतम करणम्"** से दोनो ही लक्षण निष्पन्न हो सकते है। दोनो लक्षणो मे साधकतम कारण से ही क्रिया की निष्पत्ति होती है।[20] इस प्रकार करण के दोनो लक्षणो द्वारा प्रमाण की निष्पति होती है।

प्रमाण का लक्षण

प्रमाकरण प्रमाणम् इस रूप मे प्रमाण को परिभाषित करते हुए भी अपनी—अपनी दार्शनिक मान्याताओ के आधार पर विभिन्न दर्शनो मे प्रमाण के विशिष्ट लक्षण निर्धारित किये गये हैं, जिनका विवेचन अधोवत् है—

न्याय दर्शन मे यथार्थ अनुभव को प्रमा तथा उसे साधन को प्रमाण माना गया है। **वात्स्यायन** के अनुसार **"उपलब्धि[21] अर्थात ज्ञान[22] अथवा प्रमा के साधन को प्रमाण कहते है।"** उनके अनुसार विषय के अनुरूप ज्ञान उत्पन्न करने वाला साधन प्रमाण है। **वाचस्पति मिश्र**

के अनुसार जिस साधन के द्वारा अर्थ की उपलब्धि होती है उसे प्रमाण कहा जाता है **"उपलब्धि हेतु प्रमाणम्।"**[23] उनके अनुसार "उपलब्धि' मात्र से स्मृतिभिन्न अभिव्यभिचारी रूप प्रमा ज्ञान अभिप्रेत है जबकि लक्षण मे "हेतु पद प्रमारूप फल से भिन्नता प्रदर्शित करने के लिए दिया गया है। किन्तु अर्थ की उपलब्धि के स्मरणात्मक एव भ्रमात्मक ज्ञान से भिन्न होने पर भी सशयात्मक होने की सभावाना बनी रहती है। इसका निराकरण करने के लिए **जयन्त भट्ट** ने अपने अर्थोपलब्धिरूप प्रमाण लक्षण मे **"अव्यभिचारिणी"** पद के साथ **"असदिग्ध"** पद का निवेश किया है। इस प्रकार जयन्त भट्ट के अनुसार **"सशय और विपर्यय से भिन्न अर्थ विषयक ज्ञान को उत्पन्न करने वाला कारण समूह ही प्रमाण है।"** यहॉ एक विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि पाणिनि ने जहॉ **"साधकतम् करण प्रमाणम्"** माना है वहॉ जयन्त भट्ट ने मुख्य और गौण सभी कारणो के समूह को प्रमाण माना है। उनका कहना है कि किसी एक भी कारण के न रहने से प्रमा का उत्पादन असभव है। इसलिए प्रमा ज्ञान के सभी कारणो का समूह ही प्रमाण है। **भासर्वज्ञ** के अनुसार सम्यक् अनुभव ही यथार्थ ज्ञान है उसके साधन को प्रमाण कहते है। सक्षेप मे, प्राचीन न्यायाचार्यो ने सवादी ज्ञान के साधन को प्रमाण माना है। उनके अनुसार यथार्थ अनुभव का साधन ही प्रमाण है।

किन्तु प्रमाण का यह लक्षण दोषपूर्ण है क्योकि यदि वस्तु ज्ञान से स्वतन्त्र है तो दोनो मे तुलना सभव नही होगी और तुलना के अभाव मे इसका निर्णय नही हो पायेगा कि ज्ञान वस्तु के अनुरूप है। ऐसी स्थिति मे यथार्थनुभव (यथा वस्तु तथा ज्ञान) के साधन को प्रमाण भी नही माना जा सकता है। इन कठिनाइयो के निवारणार्थ **गगेश** ने कहा कि **"तद्वति तत्प्रकारकानुभव "** प्रमा है अर्थात जो वस्तु जिस तरह की हो उसे उसी तरह का समझना प्रमा है और उसके असाधारण कारण को प्रमाण कहते है। जगदीश, विश्वनाथ तथा अन्न भट्ट ने गगेश का अक्षरश समर्थन किया है। किन्तु प्रमाण का यह लक्षण भी दोषपूर्ण है क्योकि गगेश द्वारा निर्धारित प्रमा का लक्षण मूलत यथार्थता से भिन्न नहीं है। अत उनकी प्रमा की परिभाषा दोषपूर्ण होने से उनकी प्रमाण की परिभाषा भी दूषित हो गयी है। सक्षेप मे नैयायिको का यह मत उचित नहीं है कि यथार्थ अनुभव ही प्रमा है और उसका साधन (असाधारण कारण) प्रमाण है।

वैशेषिक दार्शनिको के अनुसार प्रमा के करण को प्रमाण कहा जाता है। उनके अनुसार तत्त्वानुभव अर्थात् यथार्थ अनुभव प्रमा और जो उसके अयोग (सम्बन्धाभाव) से व्यवच्छिन्न हो, वह प्रमाण कहलाता है। **"तत्त्वानुभव प्रमा। प्रमायोगव्यवच्छिन्न प्रमाणम्।"**[24]

साख्य दार्शनिक विज्ञानभिक्षु के अनुसार अनधिगत (अज्ञात या जो पूर्व मे न जाना गया हो) अर्थ का अवधारण अर्थात् निश्चयात्मक ज्ञान ही प्रमा है। यह आत्मा और बुद्धि दोनो को अथवा दोनो मे से एक आत्मा को होने वाला यथार्थ ज्ञान है। प्रमा के साधकतम् कारण जिसके तत्काल अनन्तर प्रमा की उत्पत्ति हो जाती है, वह प्रमाण कहलाता है। साख्य दर्शन

मे प्रमाण केवल बोधस्वरूप या ज्ञान रूप ही है और यह ज्ञान विषयाकार परिणाम स्वरूप होने के कारण एक मात्र वुद्धि का ही धर्म है इन्द्रियादि का नही। साख्य की भॉति **योग दर्शन** मे भी बुद्धिनिष्ठ ज्ञान प्रमाण और पुरूषनिष्ठ ज्ञान प्रमा कहा जाता है।

जैन दार्शनिक समन्तभद्र के अनुसार समग्र वस्तु को अखण्ड (युगपद्) रूप से जानने वाला ज्ञान ही प्रमाण है– **"तत्त्वज्ञान प्रमाण ते युगपत् सर्वभासकम्।"** अन्यत्र उन्होने **स्व** और **'पर** के अवभासक ज्ञान को भी प्रमाण कहा है। **सिद्धसेन दिवाकर** ने इसमे एक अन्य पद **"बाध विवर्जितम्"** भी जोडा है। उनके अनुसार **"बाधविहीन स्वपराभासी ज्ञान ही प्रमाण है"**।[25] कुछ जैन दार्शनिक अगृहीतग्रहण को तथा कुछ गृहीतग्रहण को प्रमाण मानते है। जैनो का प्रमाण सम्बन्धी विचार बौद्धो व मीमासको के काफी निकट है। अत इसमे भी उनके दोष आ गये है।

बौद्ध दार्शनिक धर्मोत्तर ने अनधिगत विषय के ज्ञान के साधन को प्रमाण माना है–**"अनधिगत विषय प्रमाण।"**[26] **धर्मकीर्ति** के अनुसार **"अविदित अर्थ का ज्ञान कराने वाला सम्यक् तथा अविसवादक ज्ञान प्रमाण है।"** इस प्रकार बौद्धो के अनुसार नवीन और अर्थक्रियाकारी ज्ञान का साधन प्रमाण है। चूँकि विज्ञानवादी बौद्ध दार्शनिक वाह्यार्थ की सत्ता को स्वीकार नही करते इसलिए ज्ञानगत योग्यता ही उनके मत मे प्रमाण है। स्पष्टत बौद्धो का प्रमाण लक्षण उनके प्रमा लक्षण पर आधारित है और प्रमा विवेचन प्रकरण मे इनके प्रमा के लक्षण को दोषपूर्ण सिद्ध किया जा चुका है, इसलिए इनका प्रमाण लक्षण भी निर्दोष नही है।

मीमासक प्रभाकर अनुभूति को प्रमाण मानते है– **"अनुभूति प्रमाणम्** ।"[27] प्रभाकर के कुछ अनुयायियो ने व्यवहार अविसवाद (प्रयोजन को पूर्ति करने वाला) के साधन को प्रमाण माना है। किन्तु अनुभूति को प्रमाण मानने से धारावाहिक ज्ञान की व्याख्या नही हो पायेगी और व्यवहार अविसवादक को प्रमाण मानने से बहुत से ऐसे साधनो को प्रमाण मानना पडेगा जो प्रमाण नही है तथा बहुत से ऐसे साधनो को प्रमाण से वाहिष्कृत करना पडेगा जो वस्तुत प्रमाण है। अत प्राभाकर मत भी ठीक नही है।

भाट्ट मीमासको ने चार विशेषताओ से युक्त ज्ञान को प्रमा तथा इनके साधन को प्रमाण कहा है। ये है – 1 नवीनता, 2 दृढता 3 कारण दोष से रहित होना, 4 बाधकज्ञान से रहित होना। लेकिन नवीनता को प्रमा का लक्षण नही माना जा सकता है क्योकि ऐसा मानने पर भूत तथा भविष्य के विषय मे ज्ञान तथा अनुमान से प्राप्त ज्ञान की सत्यता पर भी सन्देह होने लगेगा। इसी लिए 'अग्रहीतग्राहिज्ञानम्' के साधन को प्रमाण नही माना जा सकता है। शेष तीनो विशेषताओ से युक्त ज्ञान को प्रमा तथा उनके साधन को प्रमाण माना जा सकता है।

सामान्यत प्रमा के करण को प्रमाण[28] घोषित करते हुए स्मृति को प्रमा न मानने वालो तथा प्रमा मानने वालो को ध्यान मे रखकर **धर्मराजाध्वरीन्द्र** ने प्रमा के दो लक्षण व्यक्त किये है। प्रथम स्मृति व्यावृत्त प्रमा का लक्षण इस प्रकार है– अनधिगत तथा अबाधित अर्थात दूसरे

प्रमाणो से अथवा उत्तर ज्ञान से मिथ्या सिद्ध न होने वाला वस्तु विषयक ज्ञान ही यथार्थ ज्ञान है– **"तत्र स्मृतिव्यावृत्त प्रमात्व अनधिगताबाधितविषयज्ञानत्वम्।"**[29] स्मृति का विषय पूर्व अधिगत होता है क्योकि वह अनुभव सापेक्ष होता है। अत अनधिगत" पद से स्मृति की व्यावृत्ति की गयी है। इसी प्रकार **शुक्तौ इद रजतम्** अर्थात शुक्ति मे रजत का ज्ञान होता है रजत ही इस ज्ञान का विषय है। परन्तु प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा स्पर्श करने पर उत्तर काल मे उसका बाध हो जाता है इसलिए इस मिथ्या ज्ञान का व्यवच्छेदन करने के लिए लक्षण मे "अबाधित पद का निवेश किया गया है। यथार्थ विषयिणी होने के नाते तथा उत्तरकाल के ज्ञान से बाधित न होने कारण ही कुछ दार्शनिको ने स्मृति को भी प्रमा माना है। अद्वैत वेदान्त मे इसका विरोध नही किया गया है। इसी कारण **धर्मराजाध्वरीन्द्र** ने प्रमा का द्वितीय लक्षण इस प्रकार से दिया है–**"अबाधितविषयज्ञानत्वम्"।** अर्थात उत्तर काल के ज्ञान से बाधित न होने वाले विषय का ज्ञान ही प्रमा है। इसी लक्षण को वे स्मृति साधारण के नाम से ज्ञापित करते हैं–**"स्मृति साधारण तु अबाधितविषयज्ञानत्वम्।"**[30] अनेक मे रहने वाले को साधारण कहते है। यह लक्षण समान रूप से अनुभव और स्मृति दोनो मे घटित हो जाता है, इसी कारण इस लक्षण को स्मृति साधारण कहा गया है एव प्रथम लक्षण को स्मृति व्यावृत्ति। सफल प्रवृत्ति को उत्पन्न करने वाली स्मृति का प्रमा सिद्ध करने के लिए ही यह द्वितीय लक्षण प्रयुक्त हुआ है और अबाधित प्रमा के करण को ही प्रमाण कहा गया है।

अब यहॉ प्रश्न यह है कि अबाधिता को प्रमा का निर्दोष लक्षण और एक मात्र निकष माना जा सकता है या नहीं? इस सन्दर्भ मे प्रमा के विवेचन प्रकरण मे व्यापक विचार–विमर्श के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला गया है कि अबाधिता को प्रमा का निर्दोष लक्षण एव अन्तिम कसौटी माना जा सकता है। यहॉ उसका पुनर्विवेचन पुनरूक्ति दोष का प्रसग उपस्थित करेगा। अत सिद्धात रूप मे यही कहना उचित होगा कि अबाधित अर्थविषयक ज्ञान ही प्रमा तथा उसका करण प्रमाण है।

निष्कर्ष यह है कि प्रमाण वह है जिसके द्वारा प्रमिति हो–**"प्रमीयते येन तत्प्रमाणम्"**। इस साधन अर्थ मे प्रमाण को निर्विवाद रूप से सभी दार्शनिको ने स्वीकार किया है। लेकिन प्रमाण के जो विशिष्ट लक्षण बताये गये हैं, उनका कारण प्रमा ज्ञान का विशेष विवेचन है। चूकि **अद्वैत वेदान्त** का प्रमा विवेचन तर्कसगत है, इसलिए उसका प्रमाण का विशिष्ट लक्षण भी अधिक तार्किक और ग्राह्य है।

इस अध्याय को समाप्त करने से पूर्व प्रमाण की सख्या पर भी विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। प्रमा और प्रमाण के विशिष्ट लक्षण की ही भॉति भारतीय दार्शनिको मे प्रमाण की सख्या को लेकर मतभेद है। विभिन्न दर्शनो मे मान्य प्रमाणो की सख्या इस प्रकार है –

चार्वाक – 1 प्रत्यक्ष

बौद्ध एव वैशेषिक – 1 प्रत्यक्ष 2 अनुमान

साख्य	–	1 प्रत्यक्ष 2 अनुमान एव 3 शब्द
न्याय	–	1 प्रत्यक्ष 2 अनुमान 3 उपमान 4 शब्द
मीमासा (प्रभाकर)	–	1 प्रत्यक्ष 2 अनुमान 3 उपमान 4 शब्द 5 अर्थापत्ति
मीमासा (कुमारिल)	–	1 प्रत्यक्ष 2 अनुमान 3 उपमान 4 शब्द 5 अर्थापत्ति
और अद्वैत वेदान्त		6 अनुपलब्धि।
पौराणिक	–	1 प्रत्यक्ष 2 अनुमान 3 उपमान 4 शब्द 5 अर्थापत्ति 6 अनुपलब्धि 7 सभव 8 एतिह्य।

निष्कर्षत कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण भारतीय दर्शन मे तत्वमीमासीय चिन्तन के साथ–साथ ज्ञानमीमासीय चिन्तन भी परिलक्षित होता है। समग्र भारतीय दर्शन मे ज्ञान के स्वरूप प्रकार ज्ञान के साधनो एव प्रमाणिकता के बारे मे व्यापक रूप से विचार किया गया है। पाश्चात्य ज्ञानमीमासा की तुलना मे भारतीय ज्ञानमीमासा मे ज्ञान शब्द का प्रयोग अधिक विस्तृत अर्थ मे किया गया है। उसमे ज्ञान की परिधि मे यथार्थ व अयथार्थ दोनो प्रकार के ज्ञानो को समाहित किया गया है तथा यथार्थ ज्ञान को प्रमा तथा अयर्थाथ ज्ञान को अप्रमा कहा गया है। यह प्रमा का सामान्य लक्षण है। प्रमा के विशेष लक्षण के बारे मे दार्शनिको मे मतभेद है। इसमे से सर्वाधिक तर्कसगत मत **अद्वैत वेदान्त** का है जिसके अनुसार अबाधित अर्थ विषयक ज्ञान ही प्रमा है। अन्य मतो के दोषो का विवेचन सम्बन्धित स्थल पर किया गया है।

प्रमा की तरह ही भारतीय दार्शनिको मे प्रमाण के सामान्य लक्षण के बारे मे यह सहमति है कि प्रमा का करण ही प्रमाण है। किन्तु प्रमाण विशेष के लक्षण को लेकर उनमे मतभेद परिलक्षित होता है जिसमे सर्वाधिक सन्तोषजनक मत **अद्वैत वेदान्त** का है जिसके अनुसार अबाधित अर्थविषयक ज्ञान का करण ही प्रमाण है। प्रमाण की इस विशेषता को मान लेने से प्रमाण की अन्य विशेषताएँ स्वत ही इसमे समाहित हो जाती है, और अन्य लक्षणो मे आने वाले दोष भी वारित हो जाते है। प्रमाणो की सख्या के बारे मे भी भारतीय दार्शनिको के बीच मतभेद है। भारतीय दर्शन मे एक से लेकर आठ प्रमाण तक स्वीकार किये गये है, जिनमे सभव व एतिह्य के अतिरिक्त शेष छ बहुत महत्वपूर्ण है। इसीलिए अगले अध्यायो मे केवल उन्हीं का विवेचन किया गया है।

सदर्भ-ग्रथ-सूचिका

1 *Some Main Problems of Philosophy, Moore, G E, George Allen and Unwin, London, 1953, pp 81-82*

2 *Perception, Matilal, B K, Clarendon Press, Oxford, 1986, p 22 and The Nyay Theory of Knowledge, Chatterjee, S C, Calcutta University, Press 1978, pp 20-21*

3 *न्याय भाष्य 2 1 36 वात्स्यायन कलकत्ता सस्कृत ग्रन्थमाला ग्रन्थाक 18 कलकत्ता 1936*

4 *न्यायमजरी भट्ट जयन्त चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी 1936 पृ012*

5 *गगेशाज थ्योरी आफ ट्रुथ मोहन्ती, जे०एन० शान्तिनिकेतन विश्वभारती 1966 पृ0 45*

6 *तत्त्वचितामणि–1, उपाध्याय, गगेश चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी 1917, पृ0 500*

7 *साख्यतत्त्व कौमुदी मिश्र, वाचस्पति सत्य प्रकाशन बलरामपुर हाउस इलाहाबाद 1962 पृ0 5*

8 *न्यायावतार श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल बम्बई 1950 पृ0 1*

9 *न्यायविन्दुटीका धर्मोत्तर काशी प्रसाद जायसवाल अनुशीलन सस्था पटना 1955 पृ0 3*

10 *धर्मोत्तर प्रदीप धर्मोत्तर काशी प्रसाद जायसवाल अनुशीलन सस्था पटना 1955 पृ0 19*

11 *मानमेयोदय भट्ट, नारायण, थियोसोफिकल पब्लिशिग हाउस अडयार मद्रास 1933 पृ0 7*

12 *प्रकरणपचिका मिश्र, शालिकनाथ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय मुद्रणालय काशी 1961 पृ0 127*

13 *श्लोकवार्तिक 2 80 भट्ट, कुमारिल मद्रास विश्वविद्यालय प्रकाशन मद्रास, 1940*

14 *शास्त्रदीपिका मिश्र, पार्थसारथि चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी 1913 पृ0 55*

15 *वेदान्तपरिभाषा धर्मराजाध्वरीन्द्र व्याख्या–मुसलगाँवकर श्री गजानन शास्त्री चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी 1983 प्रत्यक्ष परिच्छेद, पृ0 9*

16 *तत्त्वप्रदीपिका श्लोक 18 चित्सुख उदासीन सस्कृत विद्यालय काशी 1956 पृ0 356*

17 *वेदान्तपरिभाषा धर्मराजाध्वरीन्द्र व्याख्या–मुसलगॉवकर, श्री गजानन शास्त्री चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी 1983 प्रत्यक्षपरिच्छेद पृ0 9*

18 *(अष्टाध्यायी) पाणिनिसूत्र 1 4 42 पाणिनि रामलाल कपूर ट्रस्ट बहालगढ सोनीपत 1973*

19 *तर्कभाषा मिश्र, केशव चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी 1953 पृ0 21*

20 *न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका मिश्र, वाचस्पति कलकत्ता सस्कृत ग्रन्थमाला ग्रन्थाक 18 1936 पृ0 16–17*

21 *न्यायभाष्य वात्स्यायन कलकत्ता सस्कृत ग्रन्थमाला, ग्रन्थाक 18 कलकत्ता 1936 पृ0 91*

22 *वही पृ0 24*

23 *न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, मिश्र, वाचस्पति कलकत्ता सस्कृत ग्रन्थमाला ग्रन्थाक 18 1936, पृ0 16*

24 *सप्तपदार्थी महादेव केशव काले गिरगाँव बम्बई, 1919 पृ0 140*

25 *न्यायावतार, सिद्धसेन दिवाकर श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल बम्बई, 1950 पृ0 1*

26 धर्मोत्तरप्रदीप धर्मोत्तर काशी प्रसाद जायसवाल अनुशीलन सस्था पटना 1955 पृ0 19

27 प्रकरणपचिका मिश्र, शालिकनाथ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय मुद्रणालय काशी 1961 पृ0 127

28 वेदान्तपरिभाषा धर्मराजाध्वरीन्द्र व्याख्या—मुसलगॉवकर श्री गजानन शास्त्री चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी 1983 प्रत्यक्ष परिच्छेद पृ0 9

29 वही पृ0 9

30 वही पृ0 10

● ●

अध्याय द्वितीय

प्रत्यक्ष प्रमाण

प्रत्यक्ष प्रमाण

भारतीय दर्शन मे स्वीकृत समस्त प्रमाणो मे प्रत्यक्ष प्रमाण का सर्वप्रथम और सर्वप्रमुख स्थान है। यह अन्य समस्त प्रमाणो का उपजीव्य है। इसीलिए सम्पूर्ण भारतीय दार्शनिक वाडमय मे प्रत्यक्ष प्रमाण की विस्तृत विवेचना पायी जाती है। जिस प्रकार से प्रमाण शब्द का प्रयाग प्रमा और प्रमाकरण दोनो के लिए उपलब्ध होता है और इन दो विभिन्न अर्थो मे भी अकेला प्रमाण शब्द का प्रयोग आधारहीन नही कहा जा सकता ठीक उसी प्रकार प्रमाणो के अन्तर्गत आने वाले प्रत्यक्ष प्रमाण मे **प्रत्यक्ष शब्द का प्रयोग–इन्द्रिय जन्य प्रमा उस प्रमा के करण तथा उस प्रमा के विषयभूत पदार्थ आदि तीन विभिन्न अर्थो मे होता है।** इसलिए इन तीनो मे भी अकेला प्रत्यक्ष शब्द का प्रयोग आधारशून्य नही कहा जा सकता। यह प्रत्यक्ष शब्द की तीन विभिन्न व्युत्पत्तियो पर आधारित होता है जिनका विवेचन अधोवत् है।

प्रथम व्युत्पत्ति के अनुसार **"प्रति–विषय प्रति गतम् अक्षम् इन्द्रिय यस्मै प्रयोजनाय तत् प्रत्यक्षम्"**[1] प्रत्यक्ष शब्द इन्द्रियजन्य ज्ञान का बोधक होता है क्योकि उसी ज्ञानात्मक प्रयोजन को सम्पन्न करने के लिए इन्द्रिय विषय के प्रति गमन करता है। द्वितीय व्युत्पत्ति के अनुसार **"प्रतिगतम्–विषय प्रतिगतम् अर्थात विषयसन्निकृष्टम् अक्ष प्रत्यक्षम्"** अर्थात् प्रत्यक्ष शब्द प्रत्यक्ष प्रमा के करण का बोधक होता है, क्योकि विषयसन्निकृष्ट इन्द्रिय को ही मुख्यत प्रत्यक्ष प्रमाण माना जाता है। तृतीय व्युत्पत्ति के अनुसार **"प्रति–य विषय प्रति गतम् अक्ष स प्रत्यक्ष ।"** अर्थात प्रत्यक्ष शब्द प्रत्यक्ष प्रमा के विषयभूत अर्थ का बोधक होता है क्योकि जिस विषय के प्रति इन्द्रिय का गमन होता है अर्थात जो अर्थ इन्द्रियसन्निकृष्ट होता है वही प्रत्यक्ष प्रमा का विषय होता है। अत विभिन्न व्युत्पत्तियो के आधार पर प्रत्यक्ष शब्द का प्रयोग प्रत्यक्ष प्रमा, प्रत्यक्षप्रमाकरण, तथा प्रत्यक्षप्रमा के विषय के रूप मे होने पर भी किसी प्रकार का भ्रम नहीं होना चाहिए।

सम्पूर्ण भारतीय दर्शन मे प्रत्यक्ष और अर्थापत्ति को छोडकर अन्य किसी शब्द का प्रयोग प्रमा और प्रमाण (प्रमा के साधन) के लिए नही हुआ है। जैसे अनुमान उपमान शब्द व अनुपलब्धि से जन्य प्रमा को क्रमश अनुमिति उपमिति शाब्दी प्रमा व अभाव– प्रमा व इनके साधन को क्रमश अनुमान, उपमान शब्द व अनुपलब्धि कहा जाता है। किन्तु प्रत्यक्ष और अर्थापत्ति शब्द का प्रयोग प्रमा और प्रमाण इन दोनो अर्थो मे होता है। **"पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते** इस आधार पर **"रात्रौ भुङ्क्ते** – जो प्रमा होती है वह अर्थापत्ति है और उस प्रमा को उत्पन्न करने वाले पुष्टत्वज्ञान रूप करण को भी अर्थापत्ति कहते है।[2] किन्तु **केशव मिश्र** प्रभृति कुछ नैयायिक प्रमा व प्रमाण दोनो के लिए प्रत्यक्ष" शब्द का प्रयोग किये जाने का विरोध करते हैं। इनके अनुसार प्रत्यक्ष से व्युत्पन्न ज्ञान के लिए "साक्षात्कार' शब्द का प्रयोग किया जाना चाहिए। प्रत्यक्ष शब्द का प्रयोग केवल प्रत्यक्ष प्रमाण के लिए ही किया जाना चाहिए– **"साक्षात्कारिप्रमाकरण प्रत्यक्षम्।**

साक्षात्कारिणी च प्रमा, सा एवोच्यते या इन्द्रियजा। [3] लेकिन अधिकाश विद्वान प्रत्यक्ष को प्रमा व प्रमाण दोनो का बोधक मानते है।

यूँ तो प्रमाणो के विचार–प्रसग मे सभी प्रमाण प्रमुख है परन्तु प्रत्यक्ष ही एक ऐसा प्रमाण है जिसका विवेचन सभी भारतीय दर्शनो मे हुआ है और इसी लिए यहाँ विभिन्न दृष्टियो से प्रत्यक्ष की परिभाषा प्रस्तुत की गयी है। सर्वप्रथम यहाँ यह बताया गया है कि प्रत्यक्ष की उत्पत्ति कैसे हुई है? कहा गया है कि प्रत्यक्ष शब्द प्रति और अक्ष इन दो शब्दो के योग से बना है जिसमे प्रति का अर्थ है समीप तथा अक्ष का अर्थ ऑख से लिया जाता है। यहाँ ऑख के साथ–साथ अन्य इन्द्रियॉ भी शामिल हो सकती है। अत जो वस्तु इन्द्रियो के समाने हो उससे प्राप्त ज्ञान को यहाँ प्रत्यक्ष कहा गया है। अर्थात 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य ज्ञान प्रत्यक्षम्" इस परिभाषा के विश्लेषण से हम पाते है कि इसमे तीन महत्वपूर्ण तत्त्व है– इन्द्रिय अर्थ और सन्निकर्ष। प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति के लिए अर्थ के साथ इन्द्रिय के सन्निकर्ष का होना परम आवश्यक है अन्यथा प्रत्यक्ष ज्ञान की प्राप्ति नही हो सकती। इसीलिए प्रत्यक्ष की उक्त परिभाषा स्वीकृत की गयी। **प्रत्यक्ष की इसी परिभाषा को मानने वाले दार्शनिको मे हैं– न्याय दर्शन के प्रवर्तक गौतम वैशेषिक** भाट्ट मीमासक एव कई अन्य दार्शनिक।

लेकिन प्रत्यक्ष की उपर्युक्त परिभाषा ज्यादा दिनो तक टिक नहीं पायी और कई अन्य दर्शनो ने इसमे **'अतिव्याप्ति दोष** बताकर उसे मानने से अस्वीकार कर दिया। इनके अनुसार चूँकि प्रत्यक्ष का सम्बन्ध साक्षात् प्रतीति से है, जिसे हम **"इमिडियट नालेज"** कहते है अत साक्षात्प्रतीति को ही प्रत्यक्ष मानना चाहिए। प्रत्यक्ष की इस परिभाषा को मानने वालो मे नव्य–नैयायिक प्रभाकर मीमासक तथा वेदान्ती आते है। नव्य–न्याय के प्रवर्तक गगेश उपाध्याय ने 'ज्ञानाकरणक ज्ञान प्रत्यक्षम्" माना है। अर्थात् प्रत्यक्ष मे किसी ऐसे विषय की साक्षात् प्रतीति होती है, जिसमे मन का सयोग रहता है। परन्तु कुछ **अद्वैत वेदान्ती** अतरिन्द्रिय मन को नहीं मानते है। इसी प्रकार **बौद्ध दार्शनिक** कहते है कि **"Perception is the knowledge of the unique particular object that is given directly"** जीतवनही जीम`मदेमश्श इस तरह हम देखते है कि भिन्न–भिन्न दर्शनो मे प्रत्यक्ष का भिन्न–भिन्न लक्षण निर्धारित किया गया हैं जिनका विवेचन इस प्रकार है।

प्रत्यक्ष का लक्षण

चार्वाक दर्शन मे केवल प्रत्यक्ष को ही एकमात्र प्रमाण माना गया है। **"बृहस्पतिसूत्र'** मे स्पष्ट कहा गया है। **"प्रत्यक्षमेवेक प्रमाणम्।** अर्थात प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है। प्रत्यक्ष को ही एकमात्र प्रमाण मानने के पीछे चार्वाको का तर्क है कि जिस प्रमाण के द्वारा यथार्थ, निश्चित और असन्दिग्ध ज्ञान की प्राप्ति सभव हो, केवल वही प्रमाण माना जा सकता है। अनुमान, शब्दादि प्रमाणो से प्राप्त ज्ञान मे उपर्युक्त विशेषताओ का अभाव पाया जाता है, इसलिए उन्हे प्रमाण नही

माना जा सकता है। वस्तुत ज्ञेय वस्तु की सत्यता या असत्यता की ही मुख्यत ज्ञेय वस्तु का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष होना है।

प्रत्यक्ष को ही ज्ञान प्राप्ति का एक मात्र प्रामाणिक साधन मानते हुए भी चार्वाको ने निश्चित रूप से प्रत्यक्ष को परिभाषित नही किया है। फिर भी चार्वाक दर्शन मे प्रत्यक्ष का जो विवेचन किया गया है उसके आधार पर कहा जा सकता है कि चार्वाको के अनुसार प्रत्यक्ष वह ज्ञान है जो इन्द्रिय और अर्थ (विषय) के सन्निकर्ष से उत्पत्र होता है। प्रारम्भ मे चार्वाक केवल चाक्षुष प्रत्यक्ष को ही मानते थे किन्तु कालान्तर मे वे अन्य इन्द्रिय से उत्पन्न ज्ञान को भी प्रत्यक्ष की कोटि मे रखने लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि चार्वाक दर्शन मे प्रत्यक्ष के दो भेद स्वीकृत हुए– **वाह्य तथा मानस**। वाह्य प्रत्यक्ष ऑख नाक, कान त्वचा तथा जिह्वा के द्वारा होता है जबकि मानस प्रत्यक्ष मानसिक अनुभूतियो के साथ मन के सयोग से होता है। इस तरह बाद मे चार्वाक दर्शन मे प्रत्यक्ष के कुल छ भेद स्वीकृत हुए–चाक्षुष, श्रौत स्पार्शन रासन घ्राणज तथा मानस।

जैन दर्शन मे स्वीकृत प्रत्यक्ष की अवधारणा अन्य दर्शनो की प्रत्यक्ष की अवधारणा से भिन्न है। अन्य दर्शनो मे साधारणतया इन्द्रिय–प्रत्यक्ष को ही प्रत्यक्ष कहा गया है किन्तु जैन दर्शन मे आत्म–सापेक्ष ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा गया है। उनके अनुसार जिस ज्ञान को आत्मा स्वय जानता है, और जिसके लिए आत्मा को इन्द्रिय या मनरूपी माध्यम या उपकरण की आवश्यकता नहीं होती, वह ज्ञान प्रत्यक्ष है तथा जो ज्ञान इन्द्रिय–मन सापेक्ष है, अर्थात जिस ज्ञान के लिए आत्मा को इन्द्रिय या मन या दोनो की आवश्यकता होती है, वह ज्ञान परोक्ष होता है। प्रख्यात जैनाचार्य **कुन्दकुन्द** के अनुसार अन्य दार्शनिक इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते है किन्तु इन्दियॉ अनात्म होने से परद्रव्य है। अत इन्द्रियो से उपलब्ध ज्ञान प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है? इससे स्पष्ट होता है कि जैन दर्शन मे प्रत्यक्ष को सामान्य इन्द्रियजन्यज्ञान से भिन्न अपरोक्ष ज्ञान के अर्थ मे प्रयुक्त किया गया है और प्रत्यक्ष को विशद ज्ञान कहा गया है–**"प्रत्यक्षस्य वैशद्य स्वरूपम्।** [4] स्पष्टता या निर्मलता या स्वच्छतापूर्वक भासित होने वाला ज्ञान विशद ज्ञान है और यही प्रत्यक्ष है। वस्तुत जैन दर्शन मे प्रत्यक्ष को तीन अर्थो मे परिभाषित किया गया है– 1 विशद ज्ञान (पारमार्थिक) के अर्थ मे, 2 आत्मा के अर्थ मे, 3 परापेक्षारहित के अर्थ मे।

जैनो के अनुसार प्रत्यक्ष एक स्पष्ट सविकल्पक तथा व्यभिचाररहित ज्ञान है, जो सामान्यरूप द्रव्य और विशेषरूप पर्याय तथा अपने स्वरूप का भी बोध कराता है–

"प्रत्यक्ष लक्षण प्राहु स्पष्ट साकारमजसा।
द्रव्यपर्यायसामान्य विशेषार्थात्म-वेदनम्।।"

जो ज्ञान केवल आत्मा से होता है, उसे प्रत्यक्ष कहते है। अज्ञ, ज्ञा और व्याप् धातुऍ एकार्थवाचक है, इसलिए अक्ष का अर्थ है आत्मा–**"अक्ष्णोति, व्याप्नोति जानातीत्यक्ष आत्मा। तमेव प्रतिनियत प्रत्यक्षम्।"** [5] अर्थात् मन, इन्द्रिय, परोपदेश आदि परद्रव्यो की अपेक्षा रखे बिना

एकमात्र आत्मस्वभाव को ही कारणरूप से ग्रहण करके सर्वद्रव्य पर्यायो के समूह मे एक समय मे ही व्याप्त होकर प्रवर्तमान जो ज्ञान केवल आत्मा के द्वारा ही उत्पन्न होता है, उसे प्रत्यक्ष कहते है।

इन्द्रिय और मन की अपेक्षा के बिना व्यभिचार रहित जो साकार ग्रहण होता है उसे ही प्रत्यक्ष कहते है– **"इन्द्रियानिन्द्रियापेक्षमतीत व्यभिचार साकार ग्रहण प्रत्यक्षम्।"**[6] इससे स्पष्ट होता है कि जैन दर्शन द्वारा निर्धारित प्रत्यक्ष का लक्षण अन्य दर्शनो के प्रत्यक्ष लक्षण से भिन्न है।

भारतीय ज्ञानमीमासीय चिन्तन मे प्रत्यक्ष की परिभाषा विभिन्न दृष्टिकोणो से की गई है। प्रत्यक्ष विषयक सभी बौद्धेतर परिभाषाएँ भावात्मक दृष्टिकोण से निरुपित की गयी है। किन्तु बौद्ध दार्शनिक इसे उचित नही मानते है। बौद्ध नैयायिको ने व्यावृत्ति (अपोह) के नियम के द्वारा प्रत्यक्ष को परिभाषित करने का प्रयास किया है। उनका मत है कि किसी वस्तु की स्वलक्षणात्मक परिभाषा सभव ही नही है क्योकि प्रत्येक धारणा अपने प्रतिरुप के साथ सम्बद्ध होती है। यथा– नील और नीलेतर। नील की वास्तविक परिभाषा केवल व्यावृत्ति नियम के द्वारा इस प्रकार दी जा सकती है कि 'नील' वह है जो नीलेतर' नही है। बौद्ध दर्शन मे विशेषकर दिङ्नाग और धर्मकीर्ति के द्वारा प्रत्यक्ष की परिभाषा प्रत्यक्ष का लक्षण और प्रत्यक्ष के विषय का निरुपण इसी दृष्टिकोण से निषेधात्मक और विभेदात्मक रुप मे किया गया है। ऐसा करने मे उनका द्विविध प्रयोजन अभिप्रेत है,जो इस प्रकार है–

1 प्रमाण के प्रत्यक्ष स्रोत का विज्ञान के अन्य माध्यमो से विभेद करना और
2 इस बौद्ध अवधारणा का तद्विषयक बौद्धेतर दृष्टिकोणो से विभेद करना।

ज्ञान के अन्य माध्यमो से प्रत्यक्ष के विभेद की स्थापना के लिए बौद्ध नैयायिक **"प्रमाणव्यवस्थावाद"** का प्रतिपादन करते है। इसके अनुसार ज्ञान का एक साधन ज्ञान के दूसरे साधन के विषय एव क्षेत्र मे न तो क्रियाशील हो सकता है और न ही उसका अतिक्रमण कर सकता है। अर्थात् प्रत्यक्ष का विषय न तो अनुमान का विषय हो सकता है और न ही अनुमान का विषय प्रत्यक्ष का विषय हो सकता हो सकता है। इसी आधार पर बौद्धो ने प्रतिपादित किया कि प्रत्यक्ष का विषय विशेष (स्वलक्षण) है जो अर्थक्रिया मे समर्थ होता है और अनुमान का विषय सामान्य (सामान्य लक्षण) है जो अर्थक्रिया मे समर्थ होता है।[7]

अपने दूसरे उद्देश्य की पूर्ति हेतु बौद्ध प्रत्यक्ष विषयक विभिन्न मतवादो का खण्डन करके अपनी धारणा का मण्डन करते है। बौद्धेतर प्रत्यक्ष विषयक विभिन्न मतो की दो सामान्य विशेषताएँ है–

1 यह इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है, और
2 इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न प्रत्यक्ष, नाम-जाति–गुण आदि पूर्वक होता है। इसके लिए बौद्ध पूर्वपक्ष के रुप मे **अक्षपाद गौतम** को लेते है, जिनके अनुसार **"इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्न ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मक प्रत्यक्षम्"** प्रत्यक्ष की परिभाषा

है।[8]

"न्यायसूत्र" मे प्रत्यक्ष के चार लक्षणो का विधान किया गया है– 1 इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न 2 अव्यपदेश्य 3 अव्यभिचारी एव 4 व्यवसायात्मक। **दिङ्नाग** इन लक्षणो मे दोष दिखाते है। उनके अनुसार प्रथम लक्षण मे प्रत्यक्ष इन्द्रिय मात्र तक सीमित हो जाने के कारण **अव्याप्ति दोष** से ग्रस्त है (एक देशवृत्तित्त्वम् अव्याप्ति)। द्वितीय एव तृतीय **अव्यपदेश्य** और **अव्यभिचारी** लक्षण प्रत्यक्ष की प्रमाणता के कारण अनावश्यक है। चतुर्थ लक्षण **व्यवसायात्मक** मनोभ्रान्ति और अनुमानादि मे भी प्रयुक्त होने के कारण **अतिव्याप्ति दोष** से ग्रसित है (अधिकदेशवृत्तित्त्वम् अतिव्याप्ति)।

इसके अतिरिक्त उक्त परिभाषा मे दिये गये लक्षण परस्पर व्याघातक है। यदि प्रत्यक्ष इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न है तो यह कभी भी निश्चयात्मक नही हो सकता क्योकि इन्द्रियॉ कभी भी प्रत्यक्ष को निश्चयात्मक नही बना सकती है। यदि इन्द्रिय और अर्थ से उत्पन्न ज्ञान निश्चयात्मक है, तो फिर प्रत्यक्ष के लक्षण मे **अव्यपदेश्य** शब्द को सम्मिलित नही किया जाना चाहिए, क्योकि जो निश्चयात्मक है, उसे अवश्य व्यक्त किया जा सकता है। **नैयायिको** के अनुसार इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से जाति व्यक्तियुक्त पदार्थ का प्रत्यक्ष होता है– **"सामान्य विशेष उभयमपि गृह्णाति।"**[9] लेकिन **दिङ्नाग** के अनुसार यदि रुपादि धर्म ही इन्द्रियो के विषय है तो वे धर्म जिस द्रव्य मे रहते है उनका प्रत्यक्ष इन्द्रियो द्वारा नहीं हो सकता है।[10] यदि रुपादि धर्म से उस द्रव्य का स्वतन्त्र अस्तित्त्व है तो उसका अवश्य इन्द्रिय–ग्रहण होना चाहिए। यदि वह इन्द्रिय ग्राह्य गुणो का समुच्चय मात्र है, तो वह नाममात्र हमारी मानसिक सरचना मात्र ही सिद्ध होता है।

इस प्रकार बौद्धो द्वारा बौद्धेतर प्रत्यक्ष की अवधारणा का खण्डन विभिन्न तर्कों के द्वारा किया गया है। यहॉ प्रत्यक्ष विषयक बौद्धेतर मतो के खण्डन का मौलिक आधार यह है कि किसी भी ज्ञान की सरचना मे इन्द्रिय और बुद्धि दो मौलिक तत्वो का योगदान होता है। **कान्ट** ने भी कहा है कि इन्द्रियो के द्वारा ज्ञान की सामग्री प्राप्त होती है और बुद्धि उन्हे व्यवस्थित कर निश्चयात्मक ज्ञान का रुप देती है। बौद्ध न्याय की भाषा मे **इसे प्रत्यक्ष की ग्राह्यता तथा प्रापकता** कहते है। ग्राह्यता का अर्थ है इन्द्रियो द्वारा प्राप्त वस्तु का निर्विकल्पक विज्ञान (सवेदन मात्र) जो इन्द्रिय और वस्तु के सन्निकर्ष का प्रथम क्षण होता है। प्रापकता का अर्थ है सविकल्पक अध्यवसायात्मक ज्ञान जो बौद्धो की दृष्टि मे बौद्धिक विकल्पात्मक है। यद्यपि नैयायिक भी प्रत्यक्ष के निर्विकल्पक एव सविकल्पक दो भेद मानते है, लेकिन सविकल्पक को ही वे प्रत्यक्ष का साक्षात् फल (ग्राह्यता) मानते है। ज्ञानमीमासा की सूक्ष्म व्याख्या मे एक सैद्धान्तिक आग्रह निहित है कि ज्ञान की सरचना मे इन्द्रिय और बुद्धितर का पृथक –पृथक स्पष्टीकरण किया जाय। लेकिन पदार्थ और इन्द्रिय के सन्निकर्ष से उत्पन्न सविकल्पक ज्ञान के रुप मे इन्द्रिय प्रत्यक्ष की परिभाषा करने वाले इस तथ्य पर कोई ध्यान नहीं देते है कि शुद्ध विज्ञान एक नवीन विज्ञान होता है– किसी

नवीन वस्तु का विज्ञान होता है न कि प्रत्यभिज्ञा और ऐसा प्रत्येक विज्ञान का केवल प्रथम क्षण ही होता है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष–यथार्थ इन्द्रिय प्रत्यक्ष–प्रत्यक्ष का केवल प्रथम क्षण ही होता है। परवर्ती क्षणो मे जब ध्यान जागृत हो जाता है तो यह शुद्ध इन्द्रिय प्रत्यक्ष इन्द्रिय प्रत्यक्ष नही रह जाता जो यह प्रथम क्षण मे था।

इसके अतिरिक्त बौद्धेतर "इन्द्रिय प्रत्यक्ष" की सामान्य परिभाषा मे इन्द्रिय प्रत्यक्ष के कार्य तथा उसके अन्य सहवर्ती सामान्य कारणो के कार्य के बीच एक प्रच्छन्न अस्तव्यस्तता मिलती है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष का स्वय अपना कार्य स्वय अपना विषयार्थ और स्वय अपना कारण होता है। इसका कार्य विषयार्थ को इन्द्रियो के समक्ष उपस्थित करना होता है (साक्षात्कारित्व व्यापार)। यद्यपि यह कार्य किसी विषयार्थ को इन्द्रिय–ग्राह्यता के क्षेत्र मे हठात्[11] खीच कर लाने के आशय से नही किया जाता, परन्तु ज्ञान के रुप मे –ज्ञानाकार स्वरुप मे–प्रस्तुत किया जाता है। इसका विषयार्थ कोई वस्तु विशेष[12] (स्वलक्षण) होता है क्योकि मात्र यही यथार्थ वस्तु हो सकता है जो यथार्थ व प्रापक होने के कारण इन्द्रियो मे उद्दीपन उत्पन्न कर सकता है। कारण अथवा कारणो मे से एक पुन एक विशेष वस्तु होता है। समस्त प्रमाण या ज्ञान की सामान्य विशिष्टता यह है कि उसे उत्पन्न करने वाले कारणो मे से एक कारण के साथ ही उसका विषयार्थ भी होता है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष का कार्य किसी विषयार्थ की इन्द्रिय गोचर क्षेत्र मे उपस्थिति का सकेत मात्र होता है। उसके (विषयार्थ) स्वरुप की सरचना एक भिन्न कार्य है (यथा– यह घट है,' यह पट है" आदि) जिसे एक दूसरा निकाय (माध्यम) सम्पन्न करता है। यह परवर्ती कार्य प्रथम क्षण के पदचिह्नो का अनुसरण करता है। स्पष्टत बौद्ध मत स्वरुप सरचना की सम्पूर्ण क्रिया को विकल्पात्मक मानता है जो निर्विकल्पक विज्ञान की नीव पर एक पक्षीय आत्मगत पहुँच है। यही निर्विकल्पक विज्ञान सम्पूर्ण ज्ञानमीमासा का आधार परमार्थ सत् है। **श्चेरवात्स्की** ने इसे **"Sensational core of perception"** कहा है।[13] अत इन्द्रिय प्रत्यक्ष की मौलिक विशेषता इसका "रचनात्मक" न होना है। इसके पश्चात् विकल्पो द्वारा मानसिक चित्रो की रचना होती है, किन्तु यह स्वय अरचनात्मक होता है जिससे निर्विकल्पक विज्ञान नाम जाति, गुण आदि से सप्रयुक्त होकर सविकल्पक के रुप मे प्राप्त होता है क्योकि विकल्प किसी विशेष सन्दर्भ मे कल्पना चित्र के अतिरिक्त और कुछ नही होता। स्पष्ट है कि शुद्ध इन्द्रिय प्रत्यक्ष समस्त स्मृति धर्मो से रहित होता है। इसे तो इन्द्रिय प्रत्यक्ष भी नही कहा जा सकता है। यह शुद्ध विज्ञान प्रत्यक्ष का विज्ञानात्मक केन्द्र है।

निष्कर्ष यह है कि इन्द्रिय प्रत्यक्ष उसका कार्य एव विषय प्रत्यक्ष की उत्तरवर्ती विकल्पात्मक क्रिया से भिन्न होता है। प्रथम किसी विषय की उपस्थिति का सकेत मात्र होता है, यही शुद्ध प्रत्यक्ष है और द्वितीय कल्पना चित्र का निर्माण होता है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष की परिच्छेदित एव विशेषीकृत परिभाषा मे इस अतर का स्पष्टीकरण होना चाहिए, जो बौद्धेतर दार्शनिक नहीं करते हैं। बौद्धो के अनुसार यह अतर इस परिभाषा से स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्यक्ष, प्रमाण का वह

स्रोत है जिसका कार्य विषयार्थ को इन्द्रिय गोचर क्षेत्र मे उपस्थित कर देना होता है और तदुपरान्त उसके कल्पना–चित्र (आकार) का निर्माण आता है।[14] इस परिभाषा से तात्पर्य यह निकलता है कि केवल प्रथम क्षण ही इन्द्रिय–प्रत्यक्ष होता है इसके बाद का चित्र स्मृतिजन्य होता है।

इस प्रकार बौद्ध दार्शनिक प्रत्यक्ष के अन्य लक्षणो मे उपस्थित दोषो को दिखाकर स्वमत के अनुसार प्रत्यक्ष का निरुपण करते है। सामान्यत बौद्धाचार्य कल्पनारहित और निर्भान्त ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते है। बौद्ध न्याय मे विशेषकर बसुबन्धु दिङनाग धर्मकीर्ति तथा मोक्षाकर गुप्त द्वारा प्रत्यक्ष लक्षण का विवेचन किया गया है।

आचार्य बसुबन्धु ने वाद-विधि नामक ग्रन्थ (जो अब अनुपलब्ध है) मे **"ततोऽर्थाद् विज्ञान प्रत्यक्ष"**[15] प्रत्यक्ष लक्षण किया है। न्यायवार्तिक तात्पर्यटीका मे तथ्य विश्लेषण के धनी **वाचस्पति मिश्र** बसुबन्धु कृत प्रत्यक्ष को व्याख्यायित करते हुए कहते है कि **जिस अर्थ का जो ज्ञान होता है, यदि उससे ही वह होता है, अन्य अर्थ से नही तो उसे प्रत्यक्ष कहते है।"**[16] प्रत्यक्ष का लक्षण इस प्रकार किये जाने से प्रत्यक्ष की प्रत्यक्षाभास अनुमान[17] तथा सवृत्तिज्ञान[18] से व्यावृत्ति हो जाती है।

बसुबन्धु के उक्त लक्षण पर आक्षेप करते हुए **न्यायवर्तिककार** कहते है– **'यदि शब्दो के अनुसार ही इस सूत्र का अर्थ मान लिया जाय, तो भी इस प्रकार का ज्ञान प्रत्यक्ष नही हो सकता क्योकि ग्राह्य अर्थ और ग्राहक ज्ञान एक साथ नही रहते है।** [19] इसकी व्याख्या करते हुए **वाचस्पति मिश्र** लिखते है–

यतो भवति ज्ञान स ग्राह्योऽर्थ कारण ग्राहक च ज्ञान
कार्य तयोरयुगपदभावात् वर्तमानाभ ज्ञानमतीते न प्रत्यक्ष स्यात्।
तत्समानकालयोस्तु कार्यकारणभावाभावात् ततो नास्तीति भाव।[20]

अर्थात् जिससे ज्ञान होताा है, वह ग्राह्य अर्थ ही ज्ञान का कारण है और उसका ग्राहक ज्ञान उसका कार्य है। वे दोनो एक साथ नही रहते (क्योकि ज्ञान के क्षण मे अर्थ नष्ट हो जाता है), इसलिए वर्तमान रुप मे भासित होने वाला ज्ञान नष्ट हुई वस्तु के विषय मे होगा तथा वह मिथ्या होगा और मिथ्या होने के कारण प्रत्यक्ष न कहलायेगा। समकालीन वस्तुओ का तो कार्यकारण भाव ही नहीं हो सकता। इसलिए "उसी अर्थ से उत्पन्न होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष है, यह (लक्षण) नहीं हो सकता।'

बौद्धो की ओर से इस आक्षेप का परिहार करते हुए कहा गया है कि पदार्थ क्षणिक है इसलिए समानक्षण (एक काल) मे ही कारण का नाश तथा कार्य की उत्पत्ति होती है इस प्रकार ज्ञान का कारण जो अर्थ है, वह ज्ञान से भिन्न काल मे अर्थात् पूर्व क्षण मे रहता है, तथापि वह ज्ञान का ग्राह्य है, क्योकि उसकी ग्राह्यता का अभिप्राय यह है कि वह अपने समानाकारक ज्ञान को ही उत्पन्न करता है। इसके अतिरिक्त ग्राह्यता का कोई अभिप्राय नहीं है। इसी के समर्थन

मे **धर्मकीर्ति** ने भी कहा है कि यदि सशय इस बात का है कि जो अर्थ भिन्न काल मे रहता है, वह किस प्रकार से ग्राह्य है तो इसके समाधान मे कहा जा सकता है कि अर्थ की ग्राह्यता का अभिप्राय है– ज्ञान का हेतु होना और जो अर्थ किसी विज्ञान मे अपना आकार अर्पित करने की क्षमता रखता है वही ज्ञान का हेतु कहलाता है। इस कारण हेतु से होने वाला ज्ञान मिथ्या नही है क्योकि अर्थ के द्वारा किया हुआ नीलाकार इत्यादि ज्ञान मे विद्यमान (वर्तमान) रहता है। इसलिए ज्ञान की वर्तमानता उचित ही है।[21] इस प्रकार बसुबन्धु के अनुसार **ततोऽर्थाद्विज्ञानम्** यह प्रत्यक्ष का लक्षण है।

किन्तु बौद्धदर्शन मे बसुबन्धुकृत प्रत्यक्ष-लक्षण बहुत महत्वपूर्ण नहीं है, क्योकि यह बौद्ध दर्शन के सभी प्रयोजनो को पूरा नही कर पाता है। **दिङ्नाग** ने इस लक्षण की कटु आलोचना करते हुए कहा है कि यह लक्षण वस्तुवादियो के "इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्षम् से बहुत साम्य रखता है। इस पर दिङनाग की टिप्पणी है – **"नाचार्यस्य वादविधि।"[22] श्चेरवात्स्की** का भी कहना है कि वसुबन्धु का यह लक्षण विज्ञानवाद की दृष्टि से सगत नही है।[23]

न्याय दार्शनिको एव बसुबन्धु के प्रत्यक्ष लक्षण को दोषपूर्ण सिद्ध करने के उपरान्त बौद्ध न्याय के जनक **आचार्य दिङ्नाग** प्रत्यक्ष का सर्वथा मौलिक लक्षण प्रस्तुत करते है। उन्होने **प्रमाणसमुच्चय** मे प्रत्यक्ष के लिए **'प्रत्यक्ष कल्पनापोढ इति"** लक्षण प्रस्तुत किया है। वर्तमान समय मे उपलब्ध "प्रमाणसमुच्चय" मे यह पाठ **"प्रत्यक्ष कल्पनापोढ नामजात्याद्यसयुतम्"[24]** के रुप मे है। इसके अनुसार जो ज्ञान नाम जाति गुण द्रव्य क्रिया आदि पचविध विकल्पनाओ से सर्वथा रहित हो, वही प्रत्यक्ष है।

यहॉ प्रश्न उठता है कि यह कल्पना क्या है? दिङ्नाग के अभिमत को स्पष्ट करते हुए **उद्योतकर** कहते है कि नाम, जाति (आदि) की योजना ही कल्पना है। अत जो न नाम (सज्ञा किसी भी तरह की) से कहा जाये, न जाति आदि से जिसका निर्देश किया जाये, ऐसा विषय के स्वरुप का अनुसरण करने वाला (विषय के स्वरुप को दर्शाने वाला) विषय का व्यवस्थापक (परिच्छेदक) स्वसवेद्य (जिसका अनुभव अपने द्वारा ही किया जाता है) ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है–

'अपरे तु मन्यते –प्रत्यक्ष कल्पनापोढमिति। अथ केय कल्पना? नामजातियोजनेति। यत् किल नाम्नाऽभिधीयते न च जात्यादिभिर्व्यपदिश्यते विषयस्वरुपानुविधायि परिच्छेदकमात्मसवेद्य तत्प्रत्यक्षमिति।'[25]

दिङ्नाग ने अपने प्रत्यक्ष लक्षण मे इसे इस प्रकार से स्पष्ट किया है कि नाम इत्यादि शब्द अनेक प्रकार के होते है, जैसे – यदृच्छाशब्द गुणशब्द, जातिशब्द, क्रियाशब्द व द्रव्यशब्द। इस प्रकार की कल्पना जिस ज्ञान मे अर्थ से या स्वरुप से नही है, वह कल्पना से रहित है और वही प्रत्यक्ष है। इसी से कहा गया है कि जिसका अर्थ से या स्वरुप से नाम द्वारा कथन नही।किया जाता, न ही जाति आदि से जिसका निर्देश किया जाता है, वह प्रत्यक्ष है।

उक्त लक्षण मे व्यभिचार दोष को दूर करने के लिए "विषय स्वरुपानुविधायि" पद द्वारा

विषय को ज्ञान का कारण कहा गया है। विषय का परिच्छेदक या व्यवस्थापक बतलाकर ज्ञान की प्रामाणिकता कही गयी है तथा आत्मसवेद्य पद द्वारा इसकी विज्ञानरुपता प्रकट की गयी है। प्रत्यक्ष स्वसवेद्य है। अर्थात् इसका स्वत ही अनुभव किया जाता है कोई दूसरा इसका ग्राहक नहीं है। इस कारण से यह कल्पना रहित (निर्विकल्पक) है– **' लक्षणवादिन उत्तर नामेति प्रत्यक्ष कल्पनापोढम् प्रत्यक्षेनैवसिध्यति।"**[26] कहा भी गया है– जो प्रत्यक्ष है वह कल्पना-रहित है। उसके कल्पनाविनिर्मुक्तता की सिद्धि आत्मसवेदन रुप प्रत्यक्ष से होती है।[27]

वस्तुत दिङनाग ने प्रत्यक्ष का जो लक्षण निर्धारित किया उसका उद्देश्य बौद्धेतर प्रत्यक्ष की सामान्य परिभाषा मे व्याप्त अतिव्याप्ति आदि दोषो को दूर करके यथार्थवादियो व विज्ञानवादियो दोनो को सन्तुष्ट करना था। उनके प्रत्यक्ष लक्षण से प्रत्यक्ष का सविकल्पक प्रत्यक्ष जिसमे नामजात्यादि की योजना सम्मिलित होती है से व्यावृत्ति हो जाती है तो अनुमानादि से इसकी व्यावृत्ति के लिए क्या पूछना? लेकिन दिङनाग का प्रत्यक्ष लक्षण भी पूर्णत निर्दोष नही रह पाता। **उद्योतकर** ने इस लक्षण की भ्रान्ति मे **अतिव्याप्ति** प्रदर्शित की। आगे चलकर धर्मकीर्ति ने दिङनाग के लक्षण मे **"अभ्रान्त"** पद का अधिक निवेश कर उसका परित्याग कर दिया।

अपने पूर्ववर्ती आचार्य दिङनाग द्वारा किये गये प्रत्यक्ष लक्षण का परिष्कार करते हुए धर्मकीर्ति ने अपने सूत्रग्रन्थ **"न्यायविन्दु"** मे प्रत्यक्ष का लक्षण इस प्रकार किया है– **"प्रत्यक्ष कल्पनापोढमऽभ्रान्तम्" ।**[28] अर्थात प्रत्यक्ष वह ज्ञान है जो कल्पनारहित (निर्विकल्पक) तथा निर्भान्त (सभी सशयो से मुक्त) होता है। यह प्रत्यक्ष दो विशेषताओ या लक्षणो से युक्त है। **प्रथम** तो वह निर्विकल्पक (अकल्पनात्मक) है एव **द्वितीय** उसमे भ्रान्ति का सर्वथा अभाव है। यहॉ निर्विकल्पक से धर्मकीर्ति का आशय साक्षात् ज्ञान से है। जो वस्तु जैसी है यदि उसी रुप मे हमे ज्ञात हो सके तो ऐसे प्राप्त हुए ज्ञान को हम साक्षात्कारात्मक ज्ञान कहेगे।[29] यही निर्विकल्पक या अकल्पनात्मक ज्ञान है।

वस्तुत, धर्मकीर्ति विहित प्रत्यक्ष के दोनो लक्षण दो प्रकार की विप्रतिपत्तियो के निराकरणार्थ है। **"कल्पनापोढ'** शब्द के ग्रहण से सविकल्पक प्रत्यक्ष और अनुमान से प्रत्यक्ष की व्यावृत्ति हो जाती है। **"अभ्रान्त'** पद के द्वारा भ्रम-विभ्रम आदि ज्ञान से प्रत्यक्ष को व्यावृत्त किया गया है। धर्मकीर्ति के अनुसार दिङ्नाग ने अपने लक्षण मे "अभ्रान्त" पद का निवेश न करके गलती किया है। अभ्रान्त पद का ग्रहण न करने पर चलते हुए वृक्ष, द्विचन्द्रादि का दर्शन भी प्रत्यक्ष सीमा मे होगा, क्योकि वह कल्पनारहित ज्ञान है। इसी समस्या से बचने के लिए लक्षण मे "अभ्रान्त" शब्द का निवेश किया गया है।

धर्मोत्तर यद्यपि यह मानते है कि 'कल्पनापोढ" शब्द मे ही 'अभ्रान्त" शब्द के अर्थ का भी समावेश हो सकता है, किन्तु वे धर्मकीर्ति के इस मत का समर्थन करते है कि गाडी आदि से यात्रा करते समय लोगो को मार्ग के दोनो ओर पीछे छूटते हुए पेडो आदि के चलने या दौडने का जो भ्रम होता है, उसका परिहार 'अभ्रान्त" शब्द के प्रयोग के बिना नहीं हो सकता। वैसे वे

दिङनाग के इस मत को भी उचित बताते है कि आनुभविक भ्रमो के सम्बन्ध मे कल्पनापोढ शब्द ही पर्याप्त है। धर्मोत्तर के अनुसार धर्मकीर्ति 'अभ्रान्त शब्द द्वारा इस बात का सकेत करना चाहते थे कि प्रत्यक्ष से स्वलक्षण वस्तु का ज्ञान होता है।[30]

वस्तुत प्रत्यक्ष के लक्षण मे अभ्रान्त पद का प्रयोग बौद्ध दर्शन मे विवाद का विषय रहा है। **असग** ने प्रत्यक्ष के लक्षण मे अभ्रान्त" पद का ग्रहण किया था लेकिन दिड्नाग ने इसे अनावश्यक समझकर छोड दिया। दिङनाग के अनुसार भ्रान्ति मानसिक है तथा प्रत्यक्षाभास अथवा भ्रान्ति कल्पनाजन्य होती है। धर्मकीर्ति ने यद्यपि 'प्रमाणवार्तिक मे प्रत्यक्ष लक्षण के लिए सद्य अभ्रान्त पद का ग्रहण नही किया है[31] लेकिन न्याय बिन्दु" मे अभ्रान्त पद का निवेश किया है। धर्मकीर्ति द्वारा अभ्रान्त पद की प्रयुक्ति तथा दिङनाग द्वारा उसके त्याग के प्रश्न पर विभिन्न लोगो का विभिन्न मत है।

दिङनाग ने प्रत्यक्ष के लक्षण मे अभ्रान्त पद का ग्रहण नही किया, क्योकि वे प्रत्यक्ष, जो वाह्य वस्तुओ की सत्ता सिद्धि का प्रखर प्रमाण माना जाता है की विज्ञानवादी व्याख्या करना चाहते थे। प्रत्यक्ष की विज्ञानवादी व्याख्या का आधारभूत तर्क यह है कि 'इन्द्रिय और अर्थ से उत्पन्न प्रत्यक्ष की असाधारण ग्राह्यता विज्ञान है, जो स्वय वस्तु नही है। उसी निर्विकल्पक विज्ञान (जो प्रत्ययमात्रै) को बुद्धि नामजाति आदि विकल्पो से युक्त कर वाह्य वस्तु के रुप मे प्रक्षिप्त करती है और विज्ञान की अविसवादकता, विज्ञान के कारण घटपदादि के सारुप्य के आधार पर निश्चय करती है। यह सब विज्ञान क्षण पश्चात् बुद्धि की विकल्पात्मक क्रिया है। विकल्पात्मक परिधि मे प्रत्यक्ष सविकल्पक होने से शुद्ध प्रत्यक्ष नहीं रह जाता है। शुद्ध प्रत्यक्ष तो प्रत्यक्ष की प्रक्रिया मे विज्ञानात्मक केन्द्र तक सीमित है। इस विज्ञानात्मक केन्द्र मे भ्रम –विभ्रम के लिए कोई स्थान नही है। भ्रम और विभ्रम तो प्रत्यक्ष के विकल्पात्मक बौद्धिक क्षेत्र मे स्पष्ट होते है। प्रत्यक्ष की असाधारण ग्राह्यता विज्ञानमात्र के भ्रान्त-अभ्रान्त का कोई प्रश्न ही नही बनाता है, क्योकि इस स्थल मे ग्राह्य- ग्राहक, विषर्य-विषयी भ्रान्त-अभ्रान्त का कोई विग्रह ही सभव नहीं है। इसलिए दिड्नाग ने प्रत्यक्ष-लक्षण मे कल्पनापोढता (जिसे स्वसवेद्यता से विज्ञानरुप सिद्ध किया गया है) के अतिरिक्त अभ्रान्त पद का निवेश अनावश्यक एव असगत समझा। अत दिड्नाग का लक्षण मूलत विज्ञानवादी है। प्रत्यक्ष लक्षण मे अभ्रान्त पद का निवेश करने पर उसे वस्तुवाद का आग्रही होने से नही बचाया जा सकता है। दिड्नाग बौद्ध दर्शन के आद्यान्त अवस्तुवादी एव अपनी विज्ञानवादी प्रवृत्ति को सुरक्षित रखने मे सफल रहे है।

धर्मकीर्ति दिङनाग के शिष्य होते हूए भी प्रत्यक्ष का लक्षण उसके विज्ञानात्मक केन्द्र का अतिक्रमण करके व्यवसायात्मिकम् बुद्धि के क्षेत्र मे जाकर करते है। ऐसा करके वे प्रत्यक्ष की ग्राह्यता विज्ञान और प्रत्यक्ष की प्रापकता-घटपटादि वाह्य वस्तु (जो बुद्धिरचित हैं) के भेद पर निर्मित बौद्ध प्रमाण मीमासा को विवादास्पद बना देते हैं, क्योकि प्रत्यक्ष के उस केन्द्र मे कोष्ठीकृत होकर जहॉ प्रत्यक्ष की भ्रान्तता और अभ्रान्तता का परिच्छेदन हो गया है, वहॉ बौद्ध प्रमाणमीमासीय

गति के अनुसार बुद्धि की विकल्पात्मक क्रिया सम्पूर्ण प्रत्यक्ष को विकल्पावृत्त कर चुकी होती है तब प्रत्यक्ष को कल्पनापोढ रुप से लक्षित करना सभव नही होगा। इस प्रकार प्रत्यक्ष के लक्षण मे कल्पनापोढता और अभ्रान्तता विरुद्ध पद होगे। फिर प्रत्यक्ष के इस बौद्धिक पक्ष मे स्वलक्षण को प्रत्यक्ष के विषय के रुप मे भी निर्देशित कर पाना सभव नही होगा क्योकि प्रत्यक्ष के इस बौद्धिक केन्द्र से स्वलक्षण का विकल्पात्मक ग्रहण ही होगा और उसे परमार्थ सत् मानना पडेगा।

वस्तुत जहॉ दिडनाग यह मानते है कि प्रत्यक्ष की परिभाषा मे केवल 'कल्पनापोढम् पद के प्रयोग से ही सत्य को सभी प्रकार की भ्रान्तियो से मुक्त रखा जा सकता है वहॉ धर्मकीर्ति यह मानते है कि सत्य को सभी प्रकार की भ्रान्तियो से मुक्त रखने के लिए प्रत्यक्ष की परिभाषा मे कल्पनापोढम् पद के साथ ही ''अभ्रान्त शब्द का समावेश आवश्यक है। इसमे कोई सन्देह नही है कि उक्त दृष्टिकोण से ' प्रत्यक्ष कल्पनापोढमऽभ्रान्तम् ' के रुप मे प्रत्यक्ष की परिभाषा और अधिक स्पष्टता और प्रखरता को प्राप्त कर लेती है। लेकिन ऐसा कर धर्मकीर्ति नैयायिको के लोक सामान्य पर आधारित वस्तुवाद का विरोध तो कर देते है लेकिन इससे न तो शुद्ध वस्तुवाद का विरोध हो पाता है और न यह परिभाषा आत्मविरोध के दोष से ही मुक्त हो पाती है।

बौद्धो के प्रत्यक्ष लक्षण की अन्य दार्शनिको ने भी आलोचना की है। **मीमासको** ने कहा है कि इन्द्रिय ज्ञान के द्वारा जाति आदि की योजना सहित पदार्थ का जो सविकल्पक प्रत्यक्ष होता है उसका निराकरण नही किया जा सकता क्योकि यह अनुभवसिद्ध है कि जाति गुण आदि की प्रतीति द्रव्य से अलग नही हो सकती है। जब प्रतीति होती है तब द्रव्य के साथ ही होती है। केवल इन्ही की अलग से प्रतीति हो ऐसा व्यवहार मे नहीं देखा जाता। वस्तु का जो लक्षण किया जाता है वह व्यवहार के लिए ही किया जाता है। इसलिए सविकल्पात्मक प्रत्यक्ष जो कि जाति गुण आदि की योजना के साथ होता है, उसका निराकरण नही किया जा सकता–

"एतत् अनुपपन्न सविकल्पक विज्ञानाना जात्यादियोजना
उदीयमानानाम् इन्द्रियज्ञानाना प्रत्यक्षतयाकरणात्। यथोच्यते
जाति गुणयोद्रव्यात् पृथक्त्वेन अग्रहणात् भेद एव नास्ति।"

नाम आदि की योजना को भी असगत मानना ठीक नही है, क्योकि अय देवदत्त यह ज्ञान प्रत्यक्षात्मक होता है, यह प्रतीति सिद्ध है– **"नामकल्पनापि देवदत्तो यमिति प्रत्यक्षम्, इन्द्रियव्यापारान् विद्याऽभित्वात्।** इन्द्रियो से होने वाले ज्ञान मे नाम योजना आवश्यक है। इसलिए नामयोजना के द्वारा उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष नही होता है–यह मानने वालो का मत समीचीन नही है। रूप से रहित पदार्थ के विषय मे रूपवान् –यह ज्ञान नहीं हो सकता। गुण की योजना, जाति की योजना नाम की योजना प्रत्यक्ष ज्ञान मे आवश्यक है। सभी प्रत्यक्षात्मक ज्ञानो से यह ज्ञात होता है कि यह वस्तु इस प्रकार की है। जब वस्तु के प्रकार का बोध होता है, तो यह कैसे माना जा सकता है कि उसका ज्ञान नाम, जाति, गुण आदि की योजना से रहित हो रहा है। उसमे नाम, जाति, गुण आदि की योजना स्वयमेव हो जाती है। जाति और गुण सभी विषयो के विशेषण

है, इसलिए जाति गुण से हीन प्रतीति नही हो सकती। सभी ऐन्द्रिक ज्ञान दोनो से युक्त होते है। अत कल्पनापोढ यह विशेषण भी निरर्थक है।[32] इस प्रकार बौद्धो का प्रत्यक्ष लक्षण दूषित हो जाता है।

न्याय दर्शन मे प्रत्यक्ष को भिन्न रूप मे परिभाषित किया गया है। यह एक सामान्य तथ्य है कि प्रत्येक इन्द्रिय का आपना अलग-अलग विषय होता है और उसी विषय को वह इन्द्रिय ग्रहण करती है। जब इन्द्रियॉ क्रियाशील होकर अपने-अपने विषय को ग्रहण करती है और उसके अनन्तर जो ज्ञान होता है उसे प्रत्यक्ष कहते है। **"न्यायभाष्य"** मे इसे इस तरह से कहा गया है– **अक्षस्य प्रतिविषयम् वृत्ति प्रत्यक्षम्।** इसी सिद्वान्त को मानते हुए प्रत्यक्ष की एक सामान्य परिभाषा न्याय दर्शन मे की गयी है जिसके अनुसार इन्द्रिय और विषय के सम्पर्क के उत्पन्न होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष है– **इन्द्रियार्थ सन्निकर्षजन्य ज्ञान प्रत्यक्षम्।** न्याय दर्शन के प्रणेता की अमर कृति **न्यायसूत्र** मे इसी परिभाषा के अनुरूप प्रत्यक्ष की दूसरी परिभाषा दी गयी है जिसके अनुसार **'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न ज्ञानमत्यपदेश्यमव्यभिचारि– व्यवसायात्मक प्रत्यक्षम्।** [33] अर्थात इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न, अव्यपदेश्य अर्थात् अकथनीय या अशाब्द अव्यभिचारी अर्थात् सशय-विपर्ययादि से रहित जो व्यवसायात्मक (निश्चयात्मक) ज्ञान है वह प्रत्यक्ष है। स्पष्ट है कि यहॉ गौतम ने प्रत्यक्ष का जो लक्षण किया है वह यथार्थ अनुभवरूप है। उन्होने प्रत्यक्ष प्रमा और उसके करण का स्पष्ट प्रतिपादन नही किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हे प्रत्यक्ष ज्ञान से प्रत्यक्ष प्रमा और उसका करण दोनो अभीष्ट रहा हो। परन्तु परवर्ती नैयायिको ने प्रत्यक्ष की परिभाषा मे प्रत्यक्ष प्रमा और उसके करणत्व का स्पष्ट उल्लेख किया है। **उनके अनुसार इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न तथा यथार्थ ज्ञान को प्रत्यक्ष-ज्ञान तथा उसके करण को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं।**

प्रत्यक्ष लक्षण प्रतिपादक उपर्युक्त सूत्र मे आये हुए शब्दो की व्यााख्या को लेकर नैयायिको मे मतभेद है। **"अव्यपदेश्य"** पद की व्याख्या करते हुए **वात्स्यायन** ने लिखा है कि प्रत्यक्षीकृत वस्तु को नाम से अभिहित करने मे उसकी शुद्व प्रत्यक्षता नष्ट हो जाती है और वह शब्द ज्ञान हो जाता है। इसलिए प्रत्यक्ष के लक्षण मे अव्यपदेश्य' विशेषण दिया गया है। **"अव्यपदेश्य** (शब्दो मे न प्रकट कर सकने लायक) पद के द्वारा प्रत्यक्ष प्रमाण का शब्द प्रमाण से भेद किया गया है –**"नामधेयशब्देन व्यपदेश्यमान सत् शाब्द प्रसज्यते, अत आह अव्यपदेश्यमिति।** [34]

इस सन्दर्भ मे **उद्योतकर** वात्स्यायन से अपनी असहमति व्यक्त करते हुए कहते है शब्द प्रमाण से प्रत्यक्ष की भिन्नता तो प्रत्यक्ष की परिभाषा मे परिगणित दूसरे लक्षण इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न से स्पष्ट हो जाती है। दूसरी बात यह है कि यदि अव्यपदेश्य' का अर्थ शब्दो मे न व्यक्त किया जा सकने वाला" लिया जाय और इसी आधार पर यह कहा जाय कि शब्द प्रमाण से अतर के लिए ऐसा किया गया है तो यह उचित नहीं है, क्योंकि शब्दवाच्यतामात्र से कोई ज्ञान प्रत्यक्षेतर नही हो जाता और यदि प्रतीति स्वय ही भ्रान्ति हो तो उसके परिहार के लिए सूत्र मे प्रयुक्त अभिच्यारि' शब्द ही पर्याप्त हैं। अत यह कहना अनुचित है कि प्रत्यक्ष की

परिभाषा को शब्द प्रमाण से अलग करने के लिए अव्यपदेश्य पद का प्रयोग किया गया है।

उत्तरवर्ती नैयायिक **अन्नभट्ट** तथा **विश्वनाथ** ने भी प्रत्यक्ष की परिभाषा मे से अव्यपदेश्य शब्द को छोड दिया है। इनके अनुसार शब्द ज्ञान के प्रति श्रोतेन्द्रिय और शब्द का सान्निकर्ष कारण नही है। अत शब्द प्रमाण मे प्रत्यक्ष प्रमाण के लक्षण की अतिव्याप्ति का प्रश्न ही नही उठता। ऐसी स्थिति मे उसके परिहार के लिए अव्यपदेश्य विशेषण अनावश्यक है।

परिभाषा मे **अव्यभिचारि** पद के प्रयोग को लेकर व्याख्याकारो मे कोई विशेष मतभेद नहीं दिखाई देता है। प्राय सभी न्यायचार्य वात्स्यायन के इस मत को मानते है कि गौतम ने प्रत्यक्ष की परिभाषा मे अव्यभिचारि पद का समावेश इसलिए किया है ताकि भ्रान्ति मे प्रत्यक्ष लक्षण की अतिव्याप्ति न हो जाए।

लेकिन परिभाषा मे **व्यसायात्मक** पद के प्रयोग के बारे मे व्याखकारो मे मतभेद है। **वात्स्यायन** के अनुसार सशय को प्रत्यक्ष के क्षेत्र से बहिष्कृत करने के लिए प्रत्यक्ष के लक्षण मे व्यवासात्मक शब्द का प्रयोग किया गया है। किन्तु **वाचस्पति मिश्र** का कहना है कि व्यवसायात्मक शब्द से गौतम ने सविकल्पक प्रत्यक्ष का उल्लेख किया है क्योकि सशय का निवारण तो **"अभिव्यभिचारी"** पद से ही हो जाता है। लेकिन जयन्त भट्ट सशय और भ्रम को दो अलग–अलग वस्तुएँ मानते है। इसिलए उनके अनुसार भ्रम की व्यावृत्ति के लिए अव्यभिचारी तथा सशय की व्यावृत्ति के लिए व्यवसायात्मक शब्द का प्रयोग किया है।

इस प्रकार हम देखते है कि गौतम द्वारा निर्धारित प्रत्यक्ष की परिभाषा मे प्रयुक्त विशेषणो के अर्थ को लेकर नैयायिको मे मतभेद है, किन्तु नव्य न्याय के सभी पूर्ववर्ती आचार्य गौतम के इस विचार से सहमत है कि प्रत्यक्ष इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न अव्यपदेश्य अव्यभिचारी और व्यवसायात्मक ज्ञान है।

प्रत्यक्ष की उपर्युक्त परिभाषा से यह सिद्ध होता है कि प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए इन्द्रिय और विषय दोनो की स्थिति आवयश्यक है। किन्तु दोनो के रहने पर भी तब तक ज्ञान नही हो सकता जब तक इन्द्रिय और विषय का आपस मे सम्बन्ध स्थापित न हो। इन्द्रिय और विषय के सम्पर्क से ही प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति होती है। जैसे– हम घडे को देखते है और देखकर यह व्यवहार करते है कि मै घडे को जानता हू। यह घट का ज्ञान तब तक नहीं होता जब तक कि घटरूप विषय के साथ नेत्रेन्द्रिय का सम्बन्ध नही होता। सम्बन्ध होने के बाद घट का ज्ञान होता है और यही प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है। इसी प्रत्यक्ष को प्रमाण माना जाता है क्योकि प्रमा के तीन लक्षण-अनुभव असदिग्धत्व और यथार्थत्व–इसमे घटित होते है।

प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए केवल इन्द्रिय और विषय का सम्बन्ध होना ही महत्वपूर्ण नहीं है और न केवल इन्द्रिय और विषय के सम्बन्ध से ही प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, बल्कि उसके लिए मन, आत्मा आदि का सम्बन्ध भी अपेक्षित है। इसलिए माना जाता है कि आत्मा से मन का सम्बन्ध होता है, मन का इन्द्रिय से सम्बन्ध होता है और इन्द्रिय का विषय से जब तक मन का इन्द्रिय के साथ

सम्बन्ध नही होता तब प्रत्यक्ष नही हो सकता। इसलिए यह अनुभूति सत्य है कि जब हमारा मन कही दूसरी जगह रहता है तब हम सामने रखी वस्तु को भी नही देख सकते और उसके बारे मे सुनते हुए भी नही सुन पाते। तात्पर्य यह है कि हमारी ज्ञानेन्द्रियॉ कोई भी काम इस स्थिति मे सफलता पूर्वक नहीं कर पाती। इसके अतिरिक्त न्याय दर्शन यह भी मानता है कि केवल इन्द्रिय और मन का सम्बन्ध होना भी प्रत्यक्ष का मूल कारण नही है अपितु प्रत्यक्ष के लिए मन का आत्मा के साथ सम्बन्ध होना भी आवश्यक है क्योकि ज्ञान को प्राप्त करने वाला तथा ज्ञान का आधार आत्मा ही है। न्याय दर्शन आत्मा को ही ज्ञान का अधिकरण या आश्रय मानता है। ज्ञान समवाय सम्बन्ध से आत्मा मे ही रहता है और आत्मा ज्ञान का आश्रय है। इसलिए प्रत्यक्ष ज्ञान हेतु मन का आत्मा के साथ सम्बनध होना आवश्यक है।

प्राचीन न्याय द्वारा प्रतिस्थापित प्रत्यक्ष–लक्षण की इस परिभाषा को सामान्य रूप से स्वीकार कर लिया गया है किन्तु नव्य न्याय के जनक आचार्य गगेश उपाध्याय अद्वैत वेदान्ती तथा कुछ अन्य दार्शनिको ने इस प्रत्यक्ष लक्षण का खण्डन किया है। इस लक्षण मे मुख्यत तीन दोष बताये जाते है –अतिव्याप्ति अव्याप्ति तथा अन्योन्याश्रय।

अतिव्याप्ति दोष इस लक्षण मे इसलिए है कि न्याय सहित प्राय अधिकाश भारतीय दार्शनिको ने मन को पृथक् इन्द्रिय स्वीकार किया है। इस प्रकार कुल इन्द्रियॉ छ हो जाती है। प्रत्यक्ष ज्ञान मे जब वस्तु के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध होता है तो उसी समय उसके साथ मन का सम्बन्ध होना भी अनिवार्य है, इस बात को न्याय दर्शन स्वीकार करता है, क्योकि बिना मन के साथ सम्बन्ध हुए विषय का स्पष्ट ज्ञान नहीं हो सकता। न्याय दर्शन के अनुसार मन का विषय के साथ सम्बन्ध होना केवल प्रत्यक्ष मे ही अनिवार्य नहीं है, अपितु अनुमानादि मे भी आवश्यक है। अत मन के साथ यदि वस्तु का सम्बन्ध प्रत्यक्ष है, तो वस्तु के साथ मन का सम्बन्ध तो अनुमान मे भी होता है, अत यह प्रत्यक्ष लक्षण अनुमान मे भी चला जायेगा। इसलिए लक्षण अव्यािप्ति दोष से दूषित होने के कारण हेय है।

प्रत्यक्ष के लक्षण मे दूसरा दोष **अव्याप्ति** है। न्याय के अनुसार प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए इन्द्रिय और विषय का सम्बन्ध **आवश्यक** है। लेकिन न्याय दर्शन का यह भी मत है कि ईश्वर को प्रत्यक्ष ज्ञान बिना किसी इन्द्रिय के होता है। अत ईश्वरीय ज्ञान मे ईश्वर के इन्द्रिय न होने के कारण उसका विषय से सम्बन्ध कैसे बनेगा और बिना सम्बन्ध के कैसे प्रत्यक्ष होगा? अत या तो इस लक्षण के अनुसार ईश्वर को प्रत्यक्ष ज्ञान नही होना चाहिए और यदि ईश्वर को ज्ञान होता है तो यह लक्षण ठीक नही माना जाना चाहिए। इसलिए इस परिभाषा को उचित नहीं माना जा सकता।

इस लक्षण मे तीसरा दोष **अन्योन्याश्रय** है, क्योकि इस लक्षण मे इन्द्रिय और वस्तु के सम्बन्ध को प्रत्यक्ष माना गया है। इस विषय मे जब यह प्रश्न उठता है कि इन्द्रिय किसे कहते हैं तो न्याय दर्शन कहता है कि जिसके द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, उसे इन्द्रिय कहते हैं। प्रत्यक्ष

किसे कहते है? इसके उत्तर मे नैयायिको का कहना है कि प्रत्यक्ष वह है जो इन्द्रियो के द्वारा होता है। इस प्रकार नैयायिको के अनुसार प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए इन्द्रिय आवश्यक है और इन्द्रिय सिद्धि के लिए प्रत्यक्ष आवश्यक है। इसलिए इसमे अन्योन्याश्रय दोष है।

बौद्ध नैयायिक दिड् नाग प्रत्यक्ष की न्याय-परिभाषा का खण्डन करते हुए कहते है कि उक्त परिभाषा मे दिये गये लक्षण परस्पर व्याघातक है। यदि इन्द्रिय और अर्थ से उत्पन्न प्रत्यक्ष ज्ञान निश्चयात्मक है तो फिर प्रत्यक्ष के लक्षण मे अव्यपदेश्य पद को नही सम्मिलित किया जाना चाहिए क्योकि जो निश्चयात्मक है उसे अवश्य ही व्यक्त किया जा सकता है। इसलिए प्रत्यक्ष के लक्षण मे अव्यपदेश्य पद निरर्थक है। प्राभाकर मतानुयायी **शालिकनाथ मिश्र** ने उपरोक्त प्रत्यक्ष लक्षण मे प्रयुक्त अव्यपदेश्य पद की सार्थकता को तो अगीकृत किया है किन्तु वे अव्यभिचारी और व्यवयात्मक विशेषण को मान्यता नहीं देते है, क्योकि उनके मत मे विपर्यय एव सशय नामक कोई ज्ञान होता ही नहीं है। अत उसकी व्यावृत्ति के लिए किसी भी विशेषण की आवश्यकता नही है।[35] किन्तु **प्राभाकर मीमासको** का यह आक्षेप उचित नही प्रतीत होता है क्योकि व्यवहार मे सशय और विपर्यय की प्रतीति सभी को होती है। लेकिन इसके अतिरिक्त अन्य सभी आरोप न्याय के उपर्युक्त लक्षण पर पूर्णत लागू होते है।

प्रत्यक्ष प्रमाण की उपर्युक्त परिभाषा सम्बन्धी दोषो से बचने के लिए नव्य नैयायिको ने प्रत्यक्ष की नवीन परिभाषा दी है। उनके अनुसार इन्द्रिय-वस्तु सम्पर्क प्रत्यक्ष का सामान्य लक्षण नही है बल्कि साक्षात् प्रतीति प्रत्यक्ष का सामान्य लक्षण है। नव्य न्याय के जनक **गगेश** के शब्द है– **'प्रत्यक्षस्य साक्षात्कारित्व लक्षणम्।** [36] यह साक्षात्कारित्व इन्द्रिय अर्थ व मनसादि के सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है। उनका मत है कि जब कोई पदार्थ हमारे सामने आता है, तो हमको बिना किसी व्यवधान के उसका ज्ञान होता है, उस पदार्थ विशेष के ज्ञान के लिए हमको किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती है। अत पदार्थ की साक्षात् प्रतीति को ही प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण मानना उचित होगा। इस परिभाषा को मान लेने से सुख दु खादि मानसिक अनुभूतियो योगि प्रत्यक्ष एव ईश्वरीय प्रत्यक्ष की भी व्याख्या हो जाती है। अत यह परिभाषा प्राचीन न्याय की तुलना मे अधिक सन्तोषजनक है, क्योकि इसके माध्यम से लौकिक एव अलौकिक मानवीय तथा ईश्वरीय सभी प्रत्यक्षो की व्याख्या हो जाती है। इसी आधार पर उत्तरवर्ती आचार्यो ने प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण 'साक्षात्कारी प्रमा का करण' किया है और साक्षात्कारी प्रमा को इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य बताया है–**'साक्षात्कारिप्रमाकरण प्रत्यक्षम्।** [37] न्यायसिद्धान्तमञ्जरीकार ने भी साक्षात्काररूप प्रमा के करण को प्रत्यक्ष कहा है– **'साक्षात्कारप्रमाकरण प्रत्यक्षम्।** [38]

गगेश उपाध्याय ने इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष की एक अन्य परिभाषा निश्चित की है। उनका कहना है कि प्रत्यक्ष प्रमाण के अतिरिक्त जितने भी प्रमाण हैं, उनमे साक्षात् प्रतीति न होकर कुछ न कुछ व्यवधान के साथ प्रतीति होती है। अर्थात उनके लिए अन्य ज्ञानो की आवश्यकता होती है। जैसे, अनुमान जन्य ज्ञान के पूर्व व्याप्ति का ज्ञान आवश्यक होता है,

उपमिति के पूर्व सादृश्य-ज्ञान आवश्यक है, शाब्द-ज्ञान के पूर्व पद का ज्ञान आवश्यक है और स्मृति के पूर्व अनुभव आवश्यक है। किन्तु प्रत्यक्ष ही ऐसा प्रमाण है जिसमे किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नही पडती। दूसरे शब्दो मे प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति का कारण कोई अन्य ज्ञान नही है। इसीलिए गगेश ने साक्षात्कारित्व के अतिरिक्त प्रत्यक्ष की एक दूसरी परिभाषा देते हुए कहा कि प्रत्यक्ष वह ज्ञान है जो बिना किसी माध्यम के होता है या जिसका कारण कोई अन्य ज्ञान नहीं है–"**ज्ञानाकारणक ज्ञान प्रत्यक्षम्। विश्वनाथ पचानन** ने भी उसी मत का समर्थन करते हुए लिखा है कि– **ज्ञानाकरण ज्ञान प्रत्यक्षम्।** [39]

लेकिन विश्वनाथ समर्थित **गगेश** कृत प्रत्यक्ष की द्वितीय परिभाषा ज्ञानाकारणक ज्ञान प्रत्यक्षम् निर्दोष नही प्रतीत होती है क्योकि सविकल्पक प्रत्यक्ष (ज्ञान) मे यह लक्षण **अव्याप्त** है। अत ज्ञानाकारणक ज्ञान प्रत्यक्ष के रूप मे प्रत्यक्ष का लक्षण सदोष हो जाता है। दूसरी बात यह है कि ज्ञानाकरणक ज्ञानत्वरूप प्रत्यक्ष का लक्षण केवल तभी माना जा सकता है जब हम मन को अतरिन्द्रिय के रूप मे स्वीकार कर ले। अर्थात् हम यह मान ले कि प्रत्यक्ष मे हमे किसी ऐसे विषय की साक्षात् प्रतीति होता है जिसमे मन का सयोग रहता है। किन्तु जो दार्शनिक मन को अतरिन्द्रय नही मानते, जैसे कुछ अद्वैत वेदान्ती उनके लिए प्रत्यक्ष की यह परिभाषा सन्तोषजनक नही रह पाती। वे तो ऐसी साक्षात् प्रतीति को प्रत्यक्ष मानेगे जिसमे मन का सयोग नहीं होता। अत कुछ शर्तो के साथ साक्षात्कारित्व ज्ञान को प्रत्यक्ष का लक्षण माना जा सकता है।

वैशेषिक दर्शन मे प्रत्यक्ष का जो लक्षण निर्धारित किया गया है वह बहुत कुछ प्राचीन न्याय के समान है। **प्रशस्तपाद** ने प्रत्यक्ष शब्द की जो व्युत्पत्ति दी है उसके अनुसार प्रत्यक्ष शब्द ज्ञान सामान्य का वाचक है–चाहे वह यथार्थ (प्रमा) हो या अयथार्थ (अप्रमा)–"**तत्राक्षम् अक्ष प्रतीत्योत्पद्यते, इति प्रत्यक्षम्।"**[40] प्रशस्तपाद के अनुसार प्रत्यक्ष वह ज्ञान है जिसमे वस्तु का सामान्य और विशेष के आगमन से रहित आलोचनमात्र होता है– "**सामान्यविशेष ज्ञानोत्पत्तौ अविभक्तम् आलोचनमात्र प्रत्यक्षम्।"**[41] प्रशस्तपादभाष्य ' मे प्रत्यक्ष की एक वैकल्पिक परिभाषा यह भी दी गई है कि आत्मा, मन, इन्द्रिय और वस्तुओ के सन्निकर्ष से उत्पन्न निर्दोष तथा शब्द द्वारा अकथनीय ज्ञान प्रत्यक्ष है–"**अथवा सर्वेषु पदार्थेषु चतुष्टयसन्निकर्षाद् अवितथम् अव्यपदेश्य यद् ज्ञान उत्पद्यते तत् प्रत्यक्षम्।"**[42]

प्रत्यक्ष के उपर्युक्त लक्षण मे अव्यपदेश्य पद के सन्निवेश के औचित्य की व्याख्या करते हुए प्रशस्तपाद ने कहा है कि सन्निहित पदार्थ मे चक्षुरिन्द्रिय के व्यापार के पश्चात 'गौ है– ऐसा शब्द सुनकर गौ' का जो ज्ञान होता है उसमे इन्द्रिय की भी कारण है किन्तु वह प्रत्यक्ष नही है, क्योकि उस ज्ञान मे शब्द ही अतिशय साधक है, इन्द्रिय तो केवल सहायक मात्र है। अत प्रत्यक्ष के क्षेत्र से ऐसे ज्ञान की व्यावृत्ति के लिए लक्षण मे 'अव्यपदेश्य पद का सन्निवेश किया गया है।

साख्य दर्शन मे प्रत्यक्ष की परिभाषा से सम्बन्धित तीन परम्पराएँ दृष्टिगोचर होती है

जिनका प्रतिनिधित्व करने का श्रेय क्रमश महर्षि कपिल विन्ध्यवासिन और ईश्वरकृष्ण को है। **साख्यकार कपिल** के अनुसार प्रत्यक्ष वह प्रमाण है जो वस्तुओ के साथ इन्द्रियो का सम्बन्ध होने पर उनके आकार का ज्ञान कराता है-- **"यत् सम्बन्ध सत् तदाकारोल्लेखि विज्ञान तत् प्रत्यक्षम्।"** विन्धयवासिन ने प्रत्यक्ष को **"श्रोतादिवृत्तिरविकल्पिका"** के रूप मे परिभाषित किया है। उनके मत की व्याख्या करते हुए **गुणरत्न** ने कहा है कि अपने-अपने विषयो के सम्पर्क मे आने पर ज्ञानेन्द्रियॉ विषयो का रूप धारण कर लेती है। **ईश्वरकृष्ण** ने प्रत्यक्ष को **"प्रतिविषयाध्यवसाय"** के रूप मे परिभाषित किया है। उनके अनुसार इन्दियो का विषय के साथ सम्पर्क होने पर उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष (अध्यवसाय) है। **वाचस्पति मिश्र** ने अध्यवसाय" को निश्चायक ज्ञान का पर्याय माना है।

साख्य दर्शन मे प्रत्यक्ष की प्रक्रिया न्याय-वैशेषिक की प्रक्रिया से भिन्न है। साख्य के मत मे इन्द्रियो के माध्यम से बुद्धि का सस्कार प्रत्यक्ष का कारण है, न कि इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष, जैसा कि न्याय-वैशेषिक मे माना गया है। साख्य मे दो प्रकार के करण माने गये है-- अन्त करण और बाह्यकरण। बुद्धि अहकार और मन ये तीन अत करण हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान कराने मे ये द्वारि (प्रधान) है और बाह्यकरण अर्थात् पच ज्ञानेन्द्रियॉ द्वार अर्थात् सहकारी कारण है। अन्त करणो की सहायता से बुद्धि ही प्रत्यक्षयोग्य सभी विषयो का ज्ञान प्राप्त करती है। यह कार्य जड बुद्धि पुरुष के चैतन्य से प्रतिविम्बित होने के बाद ही करती है।

योग दर्शन मे प्रत्यक्ष प्रमाण के विषय मे अलग से कुछ विशेष नहीं कहा गया है। इस सम्बन्ध मे उसे साख्य पूरक कहा जा सकता है। **दोनो मे प्रमुख अतर यह है कि साख्य के प्रतिबिम्बवाद के स्थान पर योग दर्शन मे पारस्परिक प्रतिबिम्बवाद का आश्रय लिया गया है। वाचस्पति मिश्र** के अनुसार जब विषयाकारक बुद्धि पर पुरूष के चैतन्य का प्रतिबिम्ब पडता है, तब बुद्धि की अचेतन बुद्धि उद्भासित हो उठती है और वह प्रकाशित होकर प्रत्यक्ष ज्ञान के रूप मे परिणत हो जाती है। यही **प्रतिबिम्बवाद** है। **विज्ञानभिक्षु** इसका खण्डन करते हैं[43] और **पारस्परिक प्रतिबिम्बवाद** का प्रतिपादन करते है।[44] इनके अनुसार केवल पुरूष का चैतन्य ही बुद्धि मे प्रतिबिम्बित नहीं होता, बल्कि बुद्धि भी अपने अर्थाकाररूप से पुरूष मे प्रतिबिम्बित होती है। पुरूष मे प्रतिम्बित होने वाला ज्ञान ही प्रत्यक्ष प्रमाण है।

वस्तुत, विज्ञानभिक्षु आत्मा मे बुद्धि का प्रतिबिम्बित होना इसलिए मानते है कि इससे आत्मा के सुखद खादि अनुभव की व्याख्या हो जाती है अन्यथा शुद्ध चैतन्यरूप आत्मा को जो सभी विकारो से रहित है सुख दु ख का अनुभव नहीं हो सकता। पारस्परिक प्रतिबिम्बवाद को न मानने से ये अनुभव केवल बुद्धि को ही हो सकते है, पुरूष को नही। अत पुरूषो के प्रत्यक्षसिद्ध सुखदु खादि अनुभवो के उपपादन के लिए पारस्परिक प्रतिबिम्बवाद का आश्रय लिया गया है। "योगसूत्र" को **"वेदव्यासी"** टीका में भी इसी मत का समर्थन किया गया है।[45]

पूर्वमीमासा दर्शन का उदेश्य प्रमाण विवेचन के स्थान पर धर्म या वेदार्थ विचार करना

है। सूत्रकार जैमिनि का उद्देश्य केवल यह बताना था कि धर्म का ज्ञान केवल वेद से होता है प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणो से नहीं फिर भी मीमासासूत्र" मे उन्होने प्रत्यक्ष का उल्लेख इसलिए किया जिससे धर्म के ज्ञापन मे प्रत्यक्ष की अप्रामाणिकता को सिद्ध किया जा सके। उनके अनुसार इन्द्रियो के अर्थ के साथ सम्बन्ध होने पर पुरूष मे जो बुद्धि (ज्ञान) की उत्पत्ति होती है, उसे प्रत्यक्ष कहते है। यह प्रत्यक्ष विद्यमान वस्तु का ज्ञान कराने वाला होने से धर्म के ज्ञान मे निमित्त नही हो सकता–**"सत् सम्प्रयोगे पुरूषस्येन्द्रियाणा बुद्धिजन्य तत्प्रत्यक्षम् अनिमित्त विद्यमानोपलम्भनत्वात्।"**[46] भाष्यकार **शबर स्वामी** भी सूत्रकार का समर्थन करते हुए कहते है कि चूँकि प्रत्यक्ष सत् अर्थात् विद्यमान (वर्तमान कालिक) विषय का ज्ञान कराने वाला है अविद्यमान (असत्) विषय का नही इसलिए प्रत्यक्ष से भविष्य विषयक धर्म का ज्ञान नही हो सकता। **वृत्तिकार उपवर्ष** प्रभृति कुछ आचार्यो का कहना है कि प्रत्यक्ष की शुद्ध परिभाषा के लिए जैमिनि सूत्र' मे समाविष्ट शब्दो के क्रम मे परिवर्तन करके इस रूप मे पढ़ने की आवश्यकता है– **"तत् सम्प्रयोगे पुरूषस्य इन्द्रियाणा बुद्धिजन्य तत् प्रत्यक्षम।"** इस प्रकार परिभाषा मे तत् और सत" का स्थानान्तरण कर देने से प्रत्यक्ष की शुद्ध परिभाषा प्राप्त हो जाती है जिसके अनुसार **"किसी व्यक्ति की ज्ञानेन्द्रियो का केवल उस वस्तु के सम्पर्क से उत्पन्न ज्ञान ही प्रत्यक्ष है जिसका वह प्रत्यक्षण करता है।"**

कुमारिल भट्ट के अनुसार "ज्ञानेन्द्रियो का अपने सत् (वास्तविक रूप मे विद्यमान) विषयो के साथ सम्यक् सम्बन्ध होने से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष है।" कुमारिल भट्ट के अनुसार "जैमिनिसूत्र मे सत् शब्द का प्रयोग धर्म के ज्ञान मे प्रत्यक्ष की अप्रामाणिकता तथा योगज प्रत्यक्ष के निराकरण हेतु किया गया है–

'अविद्यमान सयोगात् प्रत्यक्षत्वानिराकृति।
योगिना केन लभ्येत नेष्ट सद्ग्रहण यदि।।[47]

कुमारिल का यह भी कहना है कि प्रत्यक्ष ज्ञान मे सशय व भ्रम आदि का सन्निवेश रोकने के लिये सत्सम्प्रयोगे" शब्द का प्रयोग किया गया है। यदि सत्सप्रयोगे' शब्द के स्थान पर केवल प्रयोग' शब्द का प्रयोग किया गया होता, तो यह लक्षण 'शुक्तमिद रजतम्" रूप भ्रान्ति क्षेत्र मे व्याप्त करा देता। इसी को वारित करने के लिये परिभाषा मे सत्सम्प्रयोगे" शब्द का प्रयोग किया गया है–

'सम्यगर्थे च शब्दो दुष्प्रयोग निवारण।
प्रयोग इन्द्रियाणा च व्यापारो येषु कथ्यते।।[48]

प्राभाकर मीमासको का प्रत्यक्ष लक्षण **गगेश उपाध्याय** से पर्याप्त साम्य रखता है। **प्रभाकर मिश्र** ने साक्षात् प्रतीति को प्रत्यक्ष माना है–**"साक्षात् प्रतीति प्रत्यक्षम्।"**[49] साक्षात् प्रतीति का अर्थ है– प्रमाता को अपने स्वय के रूप मे विषय (वस्तु) का साक्षात् ज्ञान। इनके अनुसार प्रत्यक्षज्ञान स्थल मे विषय, आत्मा और ज्ञान तीनो का (त्रिपुटी) प्रत्यक्ष होता है। प्रत्यक्ष

का उपर्युक्त लक्षण अनुमान प्रमाणादि मे घटित नही हो सकता क्योकि अनुमानादि सभी ज्ञान-स्थलो मे आत्मा एव ज्ञान का प्रत्यक्ष होता है। अनुमान स्थल मे इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष होने पर विषय का अपने रूप मे ज्ञान अपने (स्व-अग्नि) द्वारा नही होता वल्कि स्वतिरिक्त (अग्नि से अतिरिक्त) जो पर (दूसरा धूमादि लिग) है उससे सम्बद्ध होकर ज्ञान होता है।[50] इसलिए अनुमिति की साक्षात प्रतीति (ज्ञान) न होने के कारण उसे प्रत्यक्ष नही कहा जा सकता।

शालिकनाथ मिश्र भी प्रभाकर के प्रत्यक्ष लक्षण से सन्तुष्ट है। इनके अनुसार प्रतीति दो प्रकार की होती है– 1 परामर्श आदि कारणो से जानित और 2 उससे अजनित साक्षात प्रतीति।

इनमे से **द्वितीय प्रकार** की प्रतीति ही प्रत्यक्ष है। इसे ही **नैयायिको** ने ज्ञानाकरण ज्ञानम् कहा है। प्रत्यक्ष की व्याख्या मे इसी आशय से प्रभाकर ने प्रत्यक्ष को विषय के साक्षात् ज्ञान का स्वरूप बताया है।[51] इद रजतम् इत्यादि भ्रम ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण नही माने जाते (अन्यसप्रयुक्ते चक्षुष्यन्यविषय ज्ञान च प्रत्यक्षमिति। कथ तर्हि विपर्यय? अग्रहणादेव-इति वदाम)[52] क्योकि प्रमाण का सामान्य रूप अर्थात् अनुभूतित्व उसमे (भ्रम ज्ञान मे) प्राप्त नही है अपितु इद अश मे वह ज्ञान प्रत्यक्ष तथा रजताश मे स्मरण माना जाता है। इन दो ज्ञानो मे इद विषयक ज्ञान मे साक्षात्व तथा रजत ज्ञान मे स्मृतित्व मान्य है। मेय माता और प्रमा– इन तीनो विषयो का ज्ञान प्रत्यक्ष मे होता है। आशय यह है कि अय घट" इत्याकारक ज्ञान का पूर्ण स्वरूप है– अय घट – घटमह जानामि।' इस प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञान मे तीन विषय प्रस्फुरित होते है–घट घट ज्ञान और ज्ञान का आश्रय भूत आत्मा। यही प्रभाकर सम्मत **'त्रिपुटी** है, जिसका मान (प्रकाश) प्रत्येक ज्ञान मे होता है। इसका उल्लेख **शालिकनाथ मिश्र** ने प्रकरण पञ्चिका मे किया है।[53]

इस प्रकार सम्पूर्ण पूर्वमीमासा दर्शन मे प्रत्यक्ष का जो विवेचन किया गया है उसके विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि प्रत्यक्ष के लिये निम्नलिखित बाते आवश्यक है–

1 विषय की उपस्थिति

2 इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष तथा

3 पुरूष (आत्मा) की उपस्थिति, जिसमे ज्ञान की उत्पत्ति होती है।

लेकिन **नैयायिको** ने मीमासको की प्रत्यक्ष की परिभाषा की तीव्र आलोचना की है। नैयायिको का कहना है कि 'मीमासा सूत्र" मे प्रत्यक्ष की जो परिभाषा दी गयी है, वह उचित नही है, क्योकि उसे मान लेने से सशय और विपर्यय भी प्रत्यक्ष के विषय बन जायेगे, क्योकि इन्द्रियार्थ सम्बन्ध (सत्सप्रयोग) उनमे भी होता है। इस सम्बन्ध मे **कुमारिल भट्ट का यह तर्क भी ठीक नहीं है** कि "इन्द्रियो का विषयो के साथ सम्यक् (सम्) सम्बन्ध (प्रयोग) होने पर (सत्) जो ज्ञान **होता है वह प्रत्यक्ष है और इस प्रकार 'सशय' और 'विपर्यय' जैसे असम्यक् सम्बन्ध स्वत ही** प्रत्यक्ष की परिधि से बाहर हो जाते है,' क्योकि इन्द्रिय-विषय-सम्बन्ध की सम्यग्ता का ज्ञान तो **एक अतीन्द्रिय तत्त्व है। सम्यग्ता प्रत्यक्षगोचर नहीं हुआ करती। यदि उत्तरवर्ती प्रभाव के आधार**

पर उसका अनुमान करने की बात कही जाय तो यह भी इस कारण अस्वीकार्य है कि सूत्र मे सत् शब्द ज्ञान के साथ विशेषण के रूप मे प्रयुक्त नही हुआ है। यह कहना तो और भी हास्यास्पद होगा कि बोधब्य ज्ञान के साथ सत्' विशेषण को स्वय ही जोड लेगे क्योकि यदि बोधव्य इतने ज्ञानी है तो उनको प्रत्यक्ष की परिभाषा समझाने की आवश्यकता ही क्या रह जाती है?

वृत्तिकार उपवर्ष का सुझाव भी अमान्य है क्योकि उनके सुझाव को मान लेने पर भी सशय और विपर्यय पर भी लागू होने के कारण परिभाषा मे अतिव्याप्ति दोष का निवारण नही हो पाता। पुनश्च, मीमासको का यह कहना कि योगिक प्रत्यक्ष धर्म का ज्ञान कराने मे असमर्थ है स्वय उनके लिये बदतोव्याघात है क्योकि वे योगिक प्रत्यक्ष को कोरी कल्पना समझते है। अत नैयायिको के अनुसार महर्षि जैमिनि के सूत्र मे दी गयी प्रत्यक्ष की परिभाषा सत्सम्प्रयोगे पुरूषस्येन्द्रियाणा बुद्धिजन्य तत् प्रत्यक्षम् ठीक नही है।

अद्वैत वेदान्त मे अन्य सभी दर्शनो द्वारा प्रतिपादित प्रत्यक्ष की परिभाषाओ के लक्षणो के प्रति सामूहिक अरूचि प्रदर्शित करते हुए यह कहा गया है कि प्रत्यक्ष-लक्षण की पूर्ण परिभाषा किसी के भी मत से नही बनती। प्रत्यक्ष की परिभाषा एव व्यवहार के अनुसार प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञात सभी वस्तुओ का ज्ञान पृथक-पृथक रूप से स्पष्ट होना चाहिए। प्रत्यक्ष के द्वारा व्यावहारिक जगत मे दो प्रकार का ज्ञान होता है। **एक** तो यह कि ज्ञान प्रत्यक्ष है । जैसे, घट विषयक ज्ञानवानहम्' अर्थात् मै घट विषयक ज्ञानवान् हूँ और **दूसरा** यह कि विषय प्रत्यक्ष जिसमे केवल घटादि विषयो का ही प्रत्यक्ष होता है। इन दोनो प्रक्रियाओ का निर्वाह किसी भी मत मे नही हो पाता इसलिये सभी का प्रत्यक्ष लक्षण अपूर्ण है। अद्वैत वेदान्त ने इन दोनो व्यवहारो को ध्यान मे रखकर **प्रत्यक्ष प्रमाण के ज्ञानगत प्रत्यक्ष एव विषयगत प्रत्यक्ष** दो भेद किये है।

प्रत्यक्ष के समय इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि वास्तव मे प्रत्यक्ष किसका होता है? वेदान्त मत मे प्रथम साक्षात्कार प्रकाश या चैतन्य का ही होता है और प्रकाश या चैतन्य के विशेषण के रूप मे अन्य वस्तुओ का भान होता है। इसकी पुष्टि के लिये यह उदाहरण दिया जा सकता है कि घनान्धकार सयुक्त किसी कमरे मे नानाविध वस्तुऍ है किन्तु घनान्धकार के कारण कोई उनको देख नहीं सकता। यदि इस कमरे मे कोई छिद्र कर दिया जाय या खिडकी खोल दी जाय अर्थात यदि किसी भी तरह उसमे प्रकाश जाने की व्यवस्था कर दी जाय, तो सबसे पहले उस कमरे मे प्रकाश दिखाई पडेगा। प्रकाश के अनन्तर अन्य वस्तुऍ दिखाई पडेगी। प्रकाश के पूर्व कुछ भी नही दिखाई पडेगा। इससे यह सिद्ध होता है कि सर्व प्रथम प्रत्यक्ष प्रकाश का ही होता है। प्रकाश विशेषणतया अन्त मे अन्य वस्तुओ का ज्ञान होता है। इसी लिए उपनिषदो मे कहा गया है– **"तमेव भान्तम् अनुभाति सर्वं, तस्य भासा सर्वमिद विभाति।"** इस प्रकाश को ही अद्वैत वेदान्त स्वप्रकाश मानता है। अत यही वास्तविक प्रत्यक्ष है। चूँकि अद्वैत वेदान्तानुसार प्रकाश या चैतन्य की प्रतीति साक्षात् रूप से ही होती है, इसलिए प्रत्यक्ष को **नव्य न्याय की तरह**

साक्षात्प्रतीतिरूप माना गया है– **"साक्षात् प्रतीति प्रत्यक्षम्।"** लेकिन मन के इन्द्रिय को लेकर उनमे मतभेद है। न्याय दर्शन मे मन को इन्द्रिय मानकर मानस प्रत्यक्ष सहित कुल छ प्रकार के प्रत्यक्ष माने गये है। लेकिन धर्मराजाध्वरीन्द्र ने मन के इन्द्रियत्व का निषेध करके पॉच ज्ञानेन्द्रियो से होने वाले पॉच प्रकार के ही प्रत्यक्ष-ज्ञान माने है।

लेकिन यहॉ प्रश्न यह यह है कि यदि चैतन्य ही प्रत्यक्ष प्रमा है' तो इसका अर्थ यह है कि चैतन्य कारणरहित या उत्पत्तिरहित है। ऐसी स्थिति मे प्रत्यक्ष प्रमा रूप चैतन्य मे चक्षु श्रोतादिरूप पचज्ञानेन्द्रियो को प्रमाण (कारण) कैसे माना जा सकता है?

इसके उत्तर मे वेदान्तपरिभाषाकार का कहना है कि **"चैतन्यस्यानादित्वेऽपि तदभिव्यञ्जकान्त करणवृत्तिरिन्द्रियसन्निकर्षादिना जायते इति वृत्तिविशिष्ट चैतन्यमादिमदित्युच्यते। ज्ञानावच्छेकत्वाच्च वृतौ ज्ञानत्वोपचार।** [54] अर्थात् साक्षात् ब्रह्मात्मभूत चैतन्य यद्यपि अनादि है फिर भी उस नित्य चैतन्य को अभिव्यक्त करने वाली अन्त करणवृत्ति इन्द्रियसन्निकर्षादि निमित्त से उत्पन्न होती है। अन्त करणवृत्ति मे नित्य-चैतन्य का प्रतिविम्ब पडता है। इसी को वृत्तिविशिष्टचैतन्य (चिदाभाष) कहते है। अन्त करण की वृत्ति इन्द्रिय-सन्निकर्षादि के कारण प्रतिक्षण उत्पन्न होती रहती है। अर्थात् वह स्वभावत जन्य है। इस कारण इस जन्य वृत्ति से विशिष्ट (युक्त) चैतन्य को भी आदिमत् (उत्पन्न होने वाला) कह सकते है। इसलिए चक्षुरादि इन्द्रियो मे उस जन्य चैतन्य के प्रति करणत्व प्रतीत होता है, जिससे उन्हे प्रमाण कहा जा सकता है।

वस्तुत वेदान्तपरिभाषाकार का तो यहॉ तक कहना है कि चक्षुरादि इन्द्रियो का अविशिष्ट (शुद्ध) चैतन्य के प्रति करण न बनना हमे इष्ट ही है क्योकि अविशिष्ट शुद्ध चैतन्य मे स्वय प्रकाशत्व होता है। इसलिए चैतन्यात्मा मे प्रमाण व्यापार की अपेक्षा नही होती। अर्थात् स्वयप्रकाश चैतन्यात्मा की सिद्धि मे प्रमाण व्यापार की आवश्यकता नही पडती परन्तु अप्रकाशित पदार्थ को प्रकाशित करने के लिये अन्त करण वृत्तिरूप प्रमाण की अपेक्षा रहती है।

प्रमादि को सामान्य से विशेष रूप देने वाले **प्रत्यक्षत्व के स्वरूप पर अद्वैत वेदान्त मे दो दृष्टियो से विचार किया गया है–** ज्ञान (प्रमा) के विषय को ज्ञान के स्वरूप भेद का नियामक या ज्ञान मे विशेषता लाने वाला मानते हुए तथा ज्ञान के उत्पादक करण को ही ज्ञान के स्वरूपभेद का नियामक या ज्ञान मे विशेषता लाने वाला मानते हुए।

प्रश्न उठता है कि ये दो दृष्टियॉ क्यो बनी? इसका रहस्य यही जान पडता है कि अद्वैत वेदान्त मे प्रत्यक्ष पद चैतन्य अर्थ मे रूढ है। यह भी अकारण नहीं है। न्याय दर्शन मे चर्चित प्रत्यक्ष-लक्षण के निष्कृष्ट रूप ज्ञानाकरणक ज्ञान प्रत्यक्षम्" (जिस ज्ञान के उत्पन्न होने मे कोई दूसरा ज्ञान करण न बना हो) – मे निहित धारणा (अन्य ज्ञान के अधीन न होना, स्वतन्त्र ज्ञान होना) की पराकाष्ठा स्वयप्रकाशत्व की धारणा मे होती है। अपनी उत्पत्ति तथा ज्ञाप्ति के लिये किसी अन्य प्रकाश की अपेक्षा न रखना[55] किसी का ज्ञेय या प्रकाश्य न होते हुए अपरोक्ष व्यवहार

के योग्य होना[56] स्वय प्रकाशत्व है– ऐसा **चित्सुखाचार्य** ने **"तत्त्वप्रदीपिका"** मे तथा **मधुसूदन सरस्वती** ने **"अद्वैतसिद्ध"** मे निरूपित किया है। **भामतीकार** के अनुसार स्वय प्रकाशत्व ही चित्व है– **"स्वप्रकाशत्व चित्त्वम्। अबाधितास्वयप्रकाश ।"** **श्रुति** मे भी स्वय प्रकाश चित्तत्व को पत्यक्ष पदार्थ कहा गया है– **'यत्साक्षाद्परोक्षाद् ब्रह्म।'**[57]

प्रत्येक ज्ञान चाहे वह जन्य हो या नित्य स्वय प्रकाश होने के कारण प्रत्यक्ष है, क्योकि किसी भी ज्ञान का दूसरे ज्ञान द्वारा गृहीत होकर ज्ञात होना (न्याय मत का अनुव्यवसाय रूप ज्ञान) अद्वैत वेदान्त मे स्वीकृत नहीं है क्योकि वह अनवस्था-प्रवण है। अत 'ज्ञान होना (ज्ञानत्व या चित्त्वत्व) ही ज्ञान के प्रतयक्ष' कहलाने का निमित्त है– **"ज्ञप्तिगत-प्रत्यक्षत्वस्य सामान्यलक्षण चित्त्वमेव।"**[58] यह ज्ञानत्व क्योकि सभी ज्ञानो मे है अत ज्ञान' अपने या ज्ञान अश मे (स्वाश मे सभी ज्ञान प्रत्यक्ष है) मे अवश्य ही यहा वृत्तिज्ञान या जन्यज्ञान ही है। किन्तु ज्ञान के जनक तथा विषय' अश क्योकि विविध हुआ करते है, अत उन्ही को ज्ञान के विशेष का नियामक माना जा सकता है। अर्थात् स्वत प्रत्यक्षात्मक होते हुए जिस ज्ञान का विषय अथवा करण भी प्रत्यक्षात्मक हो, वही प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है और यदि विषय परोक्ष अग्नि आदि हो या करण व्याप्तिज्ञान आदि हो तो ज्ञान (प्रमा) भी अनुमति आदि कहलाता है।

इन जनक (करण) तथा विषय मे से किसमे ज्ञान को विशेषित करने का अधिक बल है– यह प्रचुर विवाद का विषय रहा है। इसी से पूर्वोक्त दो दृष्टियो से दो विचारधाराएँ बहीं। उनमे विषय को प्रधानता देती हुई **"विवरणप्रस्थान"** की धारा है और करण को प्रधानता देती हुई **"भामती प्रस्थान"** की।[59] **"विवरणप्रस्थान"** मे जहॉ प्रत्यक्ष विषयकत्व को ज्ञान के प्रत्यक्षत्व का नियामक माना गया है वहॉ **भामतीप्रस्थान** मे प्रत्यक्ष करणत्व को ज्ञान के प्रत्यक्षत्व का नियामक माना गया है। यहॉ **वेदान्तपरिभाषा** ' की दृष्टि से इन पर विचार किया जा रहा है।

विषयगत प्रत्यक्षत्व या **अपरोक्षता** का सीधा अर्थ है विषय मे अपरोक्ष कहलाने का भाव होना। अपरोक्ष का अर्थ है– चैतन्य और विषय चैतन्य पर अध्यस्त अविद्या कार्य है, अत जड है, तो विषय के अपरोक्ष'' होने का अर्थ हुआ जड का चैतन्य होना'' अर्थात चैतन्य से अभिन्न हो जाना। किन्तु आपातत यह अयुक्त जान पडता है, क्योकि जड व चैतन्य विरूद्ध स्वभाव वाले हैं। अत उनमे अभेद कैसा? पारमार्थिक दृष्टि से न तो भेद की स्थिति है और न विषय की। व्यावहारिक दृष्टि मे जड व चैतन्य का पार्थक्य अकाट्य है। अत विषय की अपरोक्षता के सहज अर्थ को समझने के लिये 1 चैतन्य के किस रूप से, 2 कैसा अभेद विषय के अपरोक्ष कहलाने का निमित्त है– इसका स्पष्टीकरण अपेक्षित है।

धर्मराजाध्वरीन्द्र के अनुसार प्रमातृचैतन्य के साथ विषय की अभिन्नता ही विषय की अपरोक्षता की नियमिका है– **"विषयस्य प्रत्यक्षत्व तु प्रमात्रभिन्नत्वम्।"**[60] **प्रकाशानन्द** ने भी **"वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली"** मे प्राय इन्ही शब्दो मे कहा है कि प्रमाता से अभिन्न होना ही विषय का अपरोक्ष होना है। **पद्मपादाचार्य के "अन्त स्थित अपरोक्षानुभव" को यहाँ प्रमाता शब्द से**

कहा गया है जो अधिक स्पष्ट है।

विषय का प्रमाता से अभेद विषय का प्रत्यक्षत्व है कहने पर दो प्रमुख आपत्तियाँ उठती है—1 जड विषय का (प्रमातृ) चैतन्य से अभेद सभव नही तथा 2 मै इस वस्तु को देख रहा हूँ— ऐसे प्रत्यक्षज्ञानात्मक अनुभव मे प्रमातृचैतन्य के साथ वस्तु का भेद ही जाना जाता है।

इन दोनो आपत्तियो का समाधान करते हुए कहा गया है कि अभेद का अर्थ यहाँ ऐक्य नही है। प्रमाता की सत्ता से अतिरिक्त विषय की सत्ता न रहना ही दोनो का अभेद है— **"प्रमात्रभेदो नाम न तदैक्यम् किन्तु प्रमातृसत्ताऽतिरिक्तसत्ताकत्त्वाभाव।"[61]** विषय स्थल पर जाकर उसको व्याप्त करने वाली वृत्ति द्वारा यह घटित होता है क्योकि वृत्तिरूप मे अन्त करण के विषय स्थल पर आ जाने से (वृत्ति द्वारा अनावृत्त विषय से सम्बद्ध होने से) प्रमातृचैतन्य स्वत वहाँ आ जाता है क्योकि अन्त करण ही चैतन्य मे प्रमातृत्व धर्म का समर्थक है। अत तीनो उपाधियो (अन्त करण वृत्ति तथा विषय, घटादि) के एकत्र स्थिति होने से दोनो से अवच्छिन्न चैतन्य भी अभिन्न हो जाते है। स्वरूपत तो वे अभिन्न है, उपाधिकृत-भेद उक्त वृत्ति द्वारा (उपाधियो के एक देशस्थ होने से) दूर होने से वह अभेद व्यक्त हो उठता है। जीव (प्रमातृचैतन्य) जब उक्त रीति से विषयावच्छिन्न चैतन्य से अभिन्न होता है तब विषय इस अधिष्ठान रूप जीव मे भी अध्यस्त होता है और तभी वह विषय अपरोक्ष (स्वय से अपृथक्) कहलाने योग्य होता है— **"अधिष्ठानसत्ताऽतिरिक्ताया आरोपितसत्ताया अनङ्गीकारात्।"[62]** लेकिन अद्वैत वेदान्त के अनुसार इस लक्षण को मान लेने से धर्मादिको के प्रत्यक्ष होने का प्रसग प्राप्त होगा। इस अतिव्याप्ति के वारण के लिए लक्षण मे कहा गया है कि केवल प्रमात्रभेद ही विषय प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक नही है बल्कि योग्य विषय मे स्थित प्रमात्रभेद है। यह विषय के अपने स्वभाव पर निर्भर है कि वह प्रत्यक्ष हो सकता है या नही। यह स्वभाव उसकी योग्यता है। सुखदु ख आदि का स्वाभाव है कि वे प्रत्यक्षयोग्य है। धर्मादि वैसे नही है। अत विषय मे योग्यता भी होना अपेक्षित है— **योग्यत्वस्यापि विषय विशेषणत्वात्।"[63]**

लेकिन यहाँ एक दूसरी आपत्ति सामने आती है कि 'यह रूपवान् घड़ा है' ऐसे प्रत्यक्ष के समय घड़े का परिणाम भी प्रत्यक्ष होना चाहिए, क्योकि वह भी रूप के समान प्रत्यक्षयोग्य है। इसका उत्तर है कि जिस विषय का आकार वृत्ति धारण करे, उसी विषय से अवच्छिन्न चैतन्य का प्रमाता मे तदाकार वृत्ति से उपहित होना रूप विशेषण रहना अपेक्षित है— **"तत्तदाकार वृत्त्युपहितत्वस्यापि प्रमातृविशेषणत्वात्।"[64]**

इस पर आपत्ति उठ सकती है कि मै घट को जानता हूँ' ऐसे स्थल पर घटाकारवृत्ति का भी प्रत्यक्ष होना देखा जाता है किन्तु वृत्ति को विषय बनाकर उसका आकार धारण करने वाली वृत्ति तो अनवस्थाभय से मानी नही जाती। इसके उत्तर मे कहा गया है कि वृत्ति अन्य वृत्ति का विषय होकर प्रत्यक्ष नहीं होती, किन्तु वह स्वय को ही विषय करती है। अत स्वविषयक वृत्ति से उपहित

प्रमातृचैतन्य की सत्ता से अभिन्न सत्ता वाला होना वृत्ति मे भी है।[65]

यहाँ आपत्ति उठ सकती है कि वृत्ति को स्वविषया माने तो वह स्वयप्रकाश ज्ञान से अभिन्न ही होगी जबकि वृत्ति जड है ज्ञानत्व उसमे उपचरित है यह सिद्धान्त है। इसका उत्तर है कि स्वयप्रकाशता का अर्थ तो किसी के द्वारा प्रकाशित न होना है किसी का विषय न होना नही। स्वय ब्रह्म मे भी चरमवृत्ति की विषयता स्वीकृत ही है और वृत्ति अपने से अवच्छिन्न चैतन्य (प्रकाश) द्वारा प्रकाश्य है।

वृत्ति की स्वविषयता स्वीकृत होने से ही केवल साक्षिवेद्य माने गये अन्त करण उसके विविध धर्म (काम सकल्प राग द्वेष इत्यादि) आदि (प्रतिभासिक रजत) के प्रत्यक्ष मे भी उस–उस आकार वाली वृत्ति रहने से उक्त विषयगत प्रत्यक्षत्व–लक्षण की व्याप्ति नहीं होती। इसका केवल साक्षिवेद्यत्व से विरोध नही है, क्योकि इन्द्रिय लिगज्ञानादि प्रमाणव्यापारो के बिना ही साक्षि द्वारा प्रकाश्य होना ही केवल साक्षि वेद्यता से अभिप्रेत है।[66] इसीलिए **विवरणकार** ने अहमकारा वृत्ति मानी है और प्रातिभासिक विषयस्थल पर वैसे विषय के आकार वाली अविद्यावृत्ति मानी गयी है।

इस प्रकार विषय के प्रत्यक्षत्व का सब आपत्तियो से रहित, परिष्कृत लक्षण हुआ– **अपने आकार वाली वृत्ति से उपहित प्रमातृचैतन्य की सत्ता से अतिरिक्त सत्तायुक्त न होते हुए योग्य तथा वर्तमान होना विषयगत प्रत्यक्षत्व है।** अतिरिक्त सत्ता न होने का अभिप्राय व्यावहारिक व प्रातिभासिक सत्ताओ के निषेघ मे नहीं प्रमातृचैतन्य मे अध्यस्त होने मात्र मे है। अत इन कल्पित सत्ताभेदो को लेकर आपत्तियाँ नहीं उठाई जा सकती है।

धर्मराजाध्वरीन्द्र ने वेदान्तपरिभाषा" मे अत्यन्त मौलिक रूप मे ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व का निरूपण तथा उसके प्रयोजन का निर्धारण किया है। तदनुसार ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व' का शब्दार्थ है ज्ञान का प्रत्यक्षात्मक होना अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञान से अभिन्न होना। प्रत्यक्षज्ञान का अर्थ है प्रत्यक्षाभिन्न ज्ञान। पहला ज्ञान" है वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य और प्रत्यक्ष ज्ञान है –ब्रह्मचैतन्य जो समस्त जगध्यास का अधिष्ठान है। ऐसी स्थिति मे कोई ज्ञान (जन्य ज्ञान) कब 'प्रत्यक्ष ज्ञान है"–ब्रह्मचैतन्य जो समस्त जगध्यास का अधिष्ठान है। ऐसी स्थिति मे काई ज्ञान (जन्य ज्ञान) कब प्रत्यक्षज्ञान" या प्रत्यक्ष प्रमा" कहलाता है, का अर्थ है– ज्ञान कब प्रत्यक्षात्मक होता हे? इसका अर्थ है– ज्ञान कब प्रत्यक्ष ज्ञानात्मक होता है? अर्थात वृत्यवच्छिन्न चैतन्य कब ब्रह्म चैतन्य होता है?

इसके उत्तर मे वेदान्तपरिभाषाकार का कहना है कि प्रमाणचैतन्य का विषय चैतन्य से अभेद ही ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक है।[67] प्रमाणचैतन्य है अन्त करण वृत्यवच्छिन्न चैतन्य और विषय चैतन्य है विषय का अधिष्ठानभूत ब्रह्मचैतन्य। प्रमाता परिच्छिन्न है, वृत्ति भी परिच्छिन्न है अत ब्रह्मचैतन्य के समस्तजगद्विषयक प्रत्यक्षज्ञान–स्वरूप होने पर भी परिच्छिन्न घट–पट आदि विषयो के अवच्छेद से ही वृत्यवच्छिन्न चैतन्यरूप ज्ञान ब्रह्मचैतन्यरूप प्रत्यक्ष ज्ञान से अभिन्न हो सकता है। अतएव पूर्वोक्त प्रश्न का निष्कृष्ट उत्तर है– **'ज्ञान तब प्रत्यक्षात्मक होता है, जब वृत्यवच्छिन्न चैतन्य विषयावच्छिन्न चैतन्यात्मक होता है, अर्थात् जब वृत्तिचैतन्य**

विषयावच्छिन्न चैतन्य से अभिन्न होता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि वृत्यवच्छिन्न चैतन्य का विषयावच्छिन्न चैतन्य से अभेद ही ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व का नियामक है। यह अभेद वहिर्गत वृत्ति द्वारा घटित होता है। इसी वृत्ति के स्वरूप को स्पष्ट करने वाला सभी आचार्यो द्वारा अपनाया गया उदाहरण दिया जाता है कि जैसे तालाब का जल किसी नाली द्वारा निकल कर खेत तक जाकर खेत का आकार धारण कर लेता है वैसे ही अन्त करण इन्द्रिय द्वारा निकलकर विषय स्थल तक जाकर उसी के आकार मे परिणत हो जाता है[68] तब अन्त करणवृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य विषयावच्छिनन चैतन्य से अभिन्न हो जाता है जैसे कि खेत मे पहले से स्थित जल तथा नाली द्वारा लाया गया जल एकमेव हो जाते है क्योकि उनको आकार देने वाला खेत एक है। उपाधि या अवच्छेदको के अतर से पृथक-पृथक कहे जाने वाले चैतन्य उपाधियो के एक देशस्थ हो जाने से अभिन्न हो जाते है।[69] तत्वत अभिन्न तो वे सदा है उक्त स्थिति मे वे व्यावहारिक रूप से भी अभिन्न हो जाते है। जिस प्रमाकरण द्वारा ऐसी स्थिति बनती है उसे ही प्रत्यक्ष-प्रमाण कहते है और वृत्तिविषय की ऐसी स्थिति से होने वाली ज्ञप्ति ही प्रत्यक्षप्रमा है। यह स्थिति तभी बनती है जब वृत्ति अन्त करण से बाहर निकलकर विषय स्थल तक जाकर उसे व्याप्त करती है। अनुमिति आदि प्रत्यक्षेतर प्रमाओ मे करण व विषय से अवच्छिन्न चैतन्य अभिन्न नहीं होते, क्योकि वृत्ति विषयस्थल तक नही जाती। अत उपाधियो की एकदेशस्थता से प्रयुक्त उपाधियो (चैतन्यो) का अभेद नहीं होता है।

उक्त प्रकार से यह घडा है ऐसे ज्ञान के स्थल पर घटाकारवृत्ति के घटसयुक्त होने से घटावच्छिन्न चैतन्य तथा वृत्यवच्छिन्न चैतन्य के अभिन्न होने से उक्त घटज्ञान मे प्रत्यक्षत्व है। ऐसे ही सुखदु खादि से अवच्छिन्न चैतन्यो के, नियतरूप से एकदेशस्थ उपाधिद्वय से अवच्छिन्न होने के कारण 'मै सुखी हूँ' इत्यादि ज्ञानो मे प्रत्यक्षत्व है–"**अय घट इति घटप्रत्यक्षस्थले सुखीत्यादिज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वम्।**"[70]

यहाँ भी विषयावच्छिन्न चैतन्य के विषय अश को लेकर दो आपत्तियाँ उठती है– 1 मै सुखी था" ऐसी स्मृति भी सुख अश मे प्रत्यक्षज्ञान ही कहलायेगी, क्योकि दोनो उपाधियाँ एकदेशस्थ भी है। 2 'तुम धार्मिक हो" ऐसे वाक्य से उत्पन्न स्वनिष्ठ धर्म का ज्ञान भी प्रत्यक्ष कहलायेगा, क्योकि धर्म अधर्म भी अन्त करणनिष्ठ है, तो दोनो उपाधियो के एकदेशस्थ होने से उनसे अवच्छिन्न चैतन्य अभिन्न है।

इनके वारण के लिए विषय मे वर्तमान" तथा योग्य (इन्द्रिय या साक्षी द्वारा प्रत्यक्ष करा सकने योग्य) विशेषण दिये गये है। इसलिए अनुकूल इन्द्रिय या साक्षी द्वारा प्रत्यक्ष करा सकने योग्य तथा ज्ञान की उत्पत्ति के समय वर्तमान विषय से अवच्छिन्न चैतन्य से अभिन्न होना उस विषय के आकार मे आकारित अन्त करणवृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य रूप ज्ञान का प्रत्यक्ष होता है।

अद्वैत वेदान्त मत मे प्रत्यक्षप्रमा के करण को **प्रत्यक्ष–प्रमाण** और प्रत्यक्षप्रमा को चैतन्य

रूप माना गया है– "प्रत्यक्षप्रमाया करण प्रत्यक्ष प्रमाणम्। प्रत्यक्ष प्रमा चात्र चैतन्यमेव।"[71] यहॉ आपातत एक शका उठती है कि चैतन्य तो नित्य है वह ब्रह्मस्वरूप है अत उसका करण कोई कैसे होगा? किन्तु यह शका इसलिए निराधार है क्योकि अद्वैत वेदान्त मत मे प्रमा मात्र वृत्तिविशिष्ट चैतन्य है केवल चैतन्य नही, अत वृत्ति रूप उपाधि के उत्पत्तिनाश को लेते हुए प्रमा चैतन्य भी उत्पत्तिमान् हुआ करता है।[72] प्रमा सामान्य से व्यतिरिक्त प्रत्यक्ष प्रमा के जो ज्ञप्ति व विषय पक्षो की ओर से जो दो स्वरूप देखे गये उनमे अन्त करणवृत्ति का उपयोग उनके असाधारण कारण या साधकतम् कारण रूप से है अत वहीं करण है। किन्तु यह स्थिति चैतन्य से तादात्म्य हुई वृत्ति या वृत्ति से अभिव्यक्त बोध रूपा-प्रमा के प्रति वृत्ति का साधकतम् व अव्यवहित कारण होना) तो सभी प्रमाणो मे समान है फिर प्रमा विशेष (प्रत्यक्ष प्रमा) के प्रति करण होने मे वृत्ति मे क्या विशेष' अपेक्षित है जो उसे अन्य प्रमाणो से पृथक प्रत्यक्ष प्रमाण बनाता है? क्या वृत्ति के उत्पादक कारणो का अन्तर ही इसमे निमित्त है? अर्थात् इन्द्रिय या इन्द्रिय-विषय सयोग ही नियतरूप से जिस वृत्ति के उत्पन्न होने मे माध्यम या हेतु बना हो वही वृत्ति प्रत्यक्ष प्रमाण है? प्रत्यक्ष शब्द की दृष्टि से तो यही उचित जान पडता है, किन्तु सम्पूर्ण प्रत्यक्ष मे यह व्याप्त नही है, क्योकि सुख-दु ख आदि की ज्ञप्ति का कारण तथा अन्तिम ब्रह्म-विषयिणी वृत्ति या ब्रह्मसाक्षत्कार का कारण इन्द्रिय जन्य नहीं होता। अत अपरोक्ष शब्द के अनुकूल ज्ञाता व बोध के अभेद को अभिव्यक्त करने वाली अन्त करणवृत्ति को ही प्रत्यक्ष या अपरोक्ष-प्रमा का करण मानना चाहिए।

वृत्ति-कल्पना का प्रयोजन आवरणाभिभव मानने से पक्ष मे विषय व प्रमाता के मध्य स्थित अभानापादक तथा असत्वापादक– दोनो आवरणो का अभिभव करने वाली अन्त करणवृत्ति ही प्रत्यक्ष प्रमाण है। वृत्ति का उपयोग चित्सम्बन्ध मानने के पक्ष का भी लक्ष्य यह आवरणाभिभव तथा उसके द्वारा अभेदाभिव्यक्ति ही है– तीनो ही दृष्टियो से वाह्यविषयो की प्रत्यक्षप्रमा के प्रति करण इन्द्रिय प्रणाली से बाहर निकलकर विषयस्थल पर हुई वृत्ति ही है। यह वृत्ति स्वय ही प्रमा का करण नही है। अत वृत्तिमात्र प्रमाण नहीं है, क्योकि वृत्ति जड वस्तु का कार्य होने से जड है। वह अपने समान जातीय अज्ञान को स्वत निवृत्त या अभिभूत करने मे समर्थ नही है। प्रमावृत्तिविशिष्ट चैतन्य है, प्रमाण भी वृत्तिविशिष्ट चैतन्य ही है। वृत्ति का अर्थ है, अन्त करण का विषयज्ञानानुकूल परिणाम। उक्त परिणत अन्त करण के ही तीन अशो से अवच्छिन्न होने के नाते चैतन्य के भी तीन रूप व्यवहार की सिद्धि के लिए मानने पडते है। ये तीन अश है–

1 देह मे स्थित अन्त करणभाग,

2 देह से निकलकर विषय तक गया हुआ अन्त करणभाग, तथा

3 विषय को व्याप्त किया हुआ अन्त करण भाग।

व्यापक रूप से ये तीनो ही वृत्ति-पदार्थ हैं, तब भी इनमे से द्वितीय को क्रिया या करण

रूप मानते हुए वृत्ति नाम दिया जाता है प्रथम को कर्त्ता तथा तृतीय को कर्म। इन तीनो से अवच्छिन्न चैतन्य क्रमश 1–प्रथमचैतन्य 2–प्रमाण चैतन्य तथा 3–विषयचैतन्य कहलाता है।[73] अत ज्ञाता व ज्ञेय के मध्यस्त दोनो आवरणो का भग करके उन दोनो से अवच्छिन्न चैतन्यो के अभेद को अभिव्यक्त करने के द्वारा विषय को अपरोक्ष बनाने वाली वृत्ति प्रत्यक्ष प्रमाण है। दूसरे शब्दो मे प्रमाण चैतन्य के साथ विषय चैतन्य का अभेद ही प्रत्यक्ष है और ऐसा करने वाली वृत्ति प्रत्यक्ष प्रमाण है। अभानापादक आवरण का भग करना तथा दोनो चैतन्यो के अभेद को अभिव्यक्त करना ही करण–वृत्ति का विशेष है जो उसे प्रत्यक्ष प्रमाण बनाता है। अन्य प्रमाओ के प्रति करण बनने वाली वृत्ति (अपने से अवच्छिन्न) चैतन्य की उपाधि बनकर केवल विषय के असत्वापादक आवरण (जो प्रमाता मे स्थित माना गया है) का ही नाश करती है, विषय मे प्रमाता के प्रति अपरोक्षता नही लाती, क्योकि अपरोक्षता तो इन दोनो से अवच्छिन्न चैतन्यो मे अभेद अभिव्यक्त होने पर विषय के प्रमातृचैतन्य मे अध्यस्थ हो जाने से आती है, जिससे कि प्रमाता से अतिरिक्त विषय की सत्ता न रहना– अधिष्ठान से अतिरिक्त अध्यस्त की सत्ता न होने के नियम के अनुसार– घटित होता है।

इस प्रकार हम देखते है कि सम्पूर्ण भारतीय दर्शन मे प्रत्यक्ष को परिभाषित करके उसके लक्षण को निर्धारित करने का प्रयास किया गया हैं। किन्तु अद्वैत वेदान्त को छोडकर प्रत्यक्ष की पूर्ण एव निर्दोष परिभाषा किसी भी दर्शन मे नही प्राप्त होती है। अद्वैत वेदान्त को इस बात का श्रेय है कि उसने ज्ञान व विषय परिभाषित दोनो ही दृष्टियो से प्रत्यक्ष को परिभाषित करके प्रत्यक्ष प्रमाण के लक्षण एव भेद का प्रतिपादन किया है। इसलिए उसकी प्रत्यक्ष की परिभाषा अधिक व्यापक एव व्यवहार तथा सिद्धान्त दोनो ही दृष्टियो से अधिक उचित है। उसके अनुसार प्रत्यक्ष प्रमा का करण प्रत्यक्ष प्रमाण है और प्रत्यक्ष प्रमा प्रकाश या चैतन्यरूप है। सर्वप्रथम इसी प्रकाश या चैतन्य का साक्षत्कार होता है। तदनन्तर प्रकाश या चैतन्य के विशेषण के रूप मे अन्य वस्तुओ का भान होता है। इस प्रकार नव्य न्याय की भाँति साक्षत्कारित्व को प्रत्यक्ष का लक्षण मानते हुए भी अद्वैत वेदान्त ने अपने को उसके दोषो से बचा लिया है। यही इसकी तार्किकता एव महत्ता का सबसे बडा प्रमाण है।

प्रत्यक्ष की प्रक्रिया

किसी भी दार्शनिक सम्प्रदाय का विशेष रूप सामान्यत उसके प्रत्यक्ष की प्रक्रिया से स्पष्ट हो जाता है। इससे विदित हो जाता है कि वह दर्शन वाह्यार्थवादी है, या विज्ञानवादी है। भारतीय दर्शन मे प्रत्यक्ष की प्रक्रिया के सम्बन्ध मे विविध मत पाये जाते हैं जिनका विवेचन अधोवत् है–

प्रत्यक्ष को ही एकमात्र प्रमाण मानने वाले **चार्वाक दर्शन** मे प्रत्यक्ष की कोई निश्चित परिभाषा प्राप्त नही होती है, फिर भी यह माना जाता है कि चार्वाको के अनुसार **इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य ज्ञान प्रत्यक्ष है। इससे स्पष्ट होता है कि चार्वाक प्रत्यक्ष की प्रक्रिया मे दो तत्त्व**

मानते हैं– 1 इन्द्रिय और 2 विषय। उनके अनुसर इन दोनो के सयोग से प्रत्यक्ष ज्ञान की प्राप्ति होती है।

जैन दर्शन मे प्रत्यक्ष उस ज्ञान को कहते है जिसकी अभिव्यक्ति मे किसी भी साधन की आवश्यकता नही होती। यह प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है एक पारमार्थिक और दूसरा व्यावहारिक । पारमार्थिक'' प्रत्यक्ष ज्ञान मे इन्द्रियादि की सहायता के बिना ही आत्मा और ज्ञेय वस्तुओ का सम्बन्ध होता है। इस सम्बन्ध के पश्चात् ही वस्तुओ का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त होता है। व्यावहारिक प्रत्यक्ष मे इन्द्रिय या मन के द्वारा आत्मा और ज्ञेय वस्तुओ मे सम्बन्ध स्थापित होता है और तदनन्तर विषय का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। जैनो के अनुसार प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति निम्नलिखित क्रम मे होती है।

सबसे पहले किसी भी प्रत्यक्ष मे इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से अर्थ (विषय) का सम्वेदन या आलोचनमात्र होता है। इसे **"अवग्रह"** कहते है। इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से उत्पन्न सम्वेदन या सामान्य प्रतीति के फलस्वरूप ज्ञाता के हृदय मे दृश्य विषय के गुणो का ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा उत्पन्न होती है। इस अवस्था को **"ईहा"** कहा जाता है। ईहा' के उपरान्त मनुष्य को दृश्य वस्तु के गुणो का निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्त होता है। इसे **"आवाय"** कहा जाता है। तदनन्तर द्रष्टा के अन्त करण एव स्मृति मे उस वस्तु का एक सस्कार बन जाता है। प्रत्यक्ष की इस अन्तिम अवस्था को **"धारणा"** कहा जाता है। इससे स्पष्ट होता है कि जैन दर्शन मे प्रत्यक्ष की प्रक्रिया चार चरणो मे सम्पन्न होती है।

बौद्ध मत के विभिन्न सम्प्रदायो मे प्रत्यक्षात्मक विषय के ग्रहण की प्रक्रिया को भिन्न-भिन्न रूपो मे निरूपित किया गया है, जिनका सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है–

बौद्ध दर्शन के **वैभाषिक सम्प्रदाय** मे पदार्थ को क्षणभगुर तथा ज्ञान को निराकार माना गया है–**"निराकार बुद्धि वैभाषिकमेत।"**[74] क्षणभगुर पदार्थ मे उपादान तथा सहकारी कारण की अपेक्षा से अन्य क्षण सन्तान उत्पन्न होते है–**"क्षणभङ्गिषु पदार्थेषु सहकार्यपादान कारणापेक्षा क्षणान्तर सन्तति।"**[75] अत रूप का एक क्षण, चक्षुरेन्द्रिय का एक क्षण तथा शुद्ध चेतना का एक क्षण– इन तीनो का जब एक देशीय सन्निपात या समवधान होता है तो रूप का निर्विकल्पक साक्षत् ज्ञान होता है। इस प्रकार वैभाषिक मत मे क्षणिक ज्ञान के साथ क्षणिक अर्थ का समवधान होने पर ज्ञान के प्रकाश के साथ-साथ अर्थ का भी प्रकाशन होता है। यही सक्षेप मे वैभाषिको द्वारा निरूपित प्रत्यक्षात्मक विषय-ग्रहण की प्रक्रिया है।

सौत्रान्तिक मत से प्रत्यक्ष ज्ञान जिस अर्थ से उत्पन्न होता है, उसके सारूप्य को ग्रहण कर लेता है तथा वही अर्थ प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय कहलाता है इन्द्रिय इत्यादि का विषय नहीं। इसका तात्पर्य यह है कि अर्थ के द्वारा ज्ञान मे जो आकार अर्पित किया जाता है, उस आकार (सारूप्य) का ही ज्ञान (प्रत्यक्ष) द्वारा ग्रहण किया जाता है। अत वस्तुत प्रत्यक्षीकरण की प्रक्रिया के अन्तर्गत् ''अर्थसारूप्य'' का ग्रहण होता है, किन्तु औपचारिक रूप से इसे अर्थ ग्रहण कहा जाता

है। यही औपचारिक पक्ष ज्ञान का साकार पक्ष है जो अर्थ के द्वारा ज्ञान मे अर्पित अपने निर्विकल्पक आकार की अपेक्षा से वाह्य वस्तुओ के अनुमिति ज्ञान को सिद्ध करता है[76] क्योकि प्रत्यक्ष आकार मात्र का होता है लेकिन आकार के द्वारा आकार को उत्पन्न करने वाले हेतु=अर्थ=विज्ञान का विषयात्मक सघर्ष=स्वलक्षण का अनुमान किया जाता है। धर्मकीर्ति ने भी कहा है कि–"**तत्र बुद्धिर्यदाकारातस्यास्तद् ग्राह्यमुच्यते।**"[77] फलितार्थ (औपचारिक) रूप मे ही यह कहा जाता है कि अर्थ का प्रत्यक्ष होता है।

विज्ञानवादियो के अनुसार वाह्य वस्तुओ की सत्ता विज्ञानवाह्य न होने के कारण स्वीकार्य नहीं है, क्योकि विज्ञान ही एकमात्र तत्त्व है। ज्ञान स्वप्रकाश है। वह अपने प्रकाशन के साथ-साथ अर्थ का भी प्रकाशन करता है क्योकि अर्थ ज्ञान से भिन्न नही है। इसलिए स्वसवेदन के आधार पर ही अर्थ की प्रत्यक्षता स्वीकार्य है। विज्ञान ही अविद्या (अनादि वासना) के कारण ग्राह्य एव ग्राहक के रूप मे भासित होता है– "**विज्ञप्ति मात्रमेवैतद् सद् अर्थावभासनात्।**"[78] **मोक्षाकार गुप्त** ने "**तर्कभाषा**" मे बताया है कि इस विषय मे विज्ञानवादियो के दो मत हैं– प्रथम यह कि विज्ञान ही ग्राह्य-ग्राहक रूप हो जाता है, वह शरीरादि विषय रूप मे प्रतीत होता है उसका ही स्वसवेदन होता है। द्वितीय यह कि विज्ञान स्फटिक मणि के समान है उसमे ये आकर और उसका ग्राहय-ग्राहक भावरूपेण विभक्तिकरण अवद्यावशात् भासित होते है।

स्वतत्र विज्ञानवाद न तो यथार्थवादियो के समान वाह्य वस्तु सम्बन्धी दृष्टिकोण को स्वीकार करता है, न ही **असग, वसुबन्धु** के विज्ञानवाद की तरह "विज्ञाप्ति-मात्रता" की स्थापना कर वाह्यवस्तु को स्वप्नवत् मिथ्या घोषित करता है बल्कि दोनो का समन्वय कर आनुभाविक ज्ञान मीमासीय विज्ञानवादी दृष्टि से "**क्षणिक स्वलक्षण**" को वाह्यवस्तु रूपेण प्रतिपादित करता है। इसके अनुसार इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से प्रथम क्षण मे "सर्वोपाधिविविक्तवस्तुमात्रम्" का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष होता है। इसी निर्विकल्पक ग्राह्यता (जहाँ ग्राह्य-ग्राहक का भेद विग्रह नही होता है) को बुद्धि अपनी विकल्पात्मक क्रिया के द्वारा उसे नाम जाति, गुण, द्रव्य आदि पचविधकल्पनाओ से युक्त कर वाह्य वस्तुरूपेण उसे सविकल्पक प्रत्यक्ष रूप से प्रत्याक्षीकृत करती है। यहॉ वाह्य वस्तु का सविकल्पक प्रत्यक्ष शुद्ध प्रत्यक्ष नही बल्कि अनुमान-मिश्रित है जो सामान्य लक्षण को प्राप्त करता है। **निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ही शुद्ध प्रत्यक्ष है जो "स्वलक्षण" को ग्रहीत करता है।**

प्रत्यक्ष के विषय ग्रहण की प्रक्रिया के सम्बन्ध मे **न्याय-वैशेषिक** बिल्कुल वस्तुवादी दृष्टिकोण रखते है। वे प्रत्यक्षात्मक विषय के ग्रहण हेतु षड्विधि सन्निकर्षों की कल्पना कर इन्द्रियो का वस्तु (पदार्थ) से सम्बन्ध मन का इन्द्रियो से सम्बन्ध और अन्तत आत्मा का मन से सम्बन्ध होने पर पर्याप्त प्रकाश आदि कुछ वाह्य शर्तों के मौजूद होने पर आत्मा मे प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति को मानते है। उनके अनुसार इसी प्रकार आत्मा मे प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति मे त्रिविध सम्बन्ध की कल्पना पड़ती है। इन्द्रियॉ वाह्य पदार्थों का ज्ञान मन को देती है और मन उसे आत्मा

तक पहुँचाता है तब प्रत्यक्षज्ञान पूर्ण होता है। आत्मा-मन सयोग ज्ञान सामान्य के प्रति करण होता है। इस प्रकार मन और इन्द्रियॉ ही प्रत्यक्ष का मूलाधार है।

न्याय-वैशेषिको का विचार है कि जब आत्मा का मन से मन का इन्द्रिय से और इन्द्रिय का विषय (अर्थ) के साथ सम्पर्क होता है तब आत्मा मे समवाय सम्बन्ध से ज्ञान उत्पन्न होता है। इसी प्रत्यक्ष प्रमा के करण को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते है। वह प्रत्यक्ष प्रमाण इन्द्रियॉ और मन ही है। कहीं-कही सन्निकर्ष और ज्ञान भी प्रत्यक्ष प्रमाण की कोटि मे आते है।

साख्य-योग दर्शन मे प्रत्यक्ष की प्रक्रिया न्याय-वैशेषिक की प्रक्रिया से भिन्न है। यद्यपि न्याय-वैशेषिक के समान साख्य योग मे भी प्रत्यक्ष की उपलब्धि मे इन्द्रियो की उपयोगिता स्वीकार की गयी है फिर भी इनके अनुसार किसी भी वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान केवल इन्द्रिय विशेष से ही नही होता, वरन् उसमे बुद्धि, अहकार, मन एव इन्द्रिय इन चारो का युगपद् व्यापार होता है। साख्य-योग के अनुसार विषय का सयोग इन्द्रिय से न होकर बुद्धि से होता है। इन्द्रिय तो बुद्धि आदि के बाहर निकलने के लिए द्वारमात्र है। साख्य-योग मे बुद्धि अन्त करण एव मन ये तीन द्वार माने गये है तथा इन्द्रियो का द्वाररूप माना गया है।[79] अन्त करण एव मन के साथ बुद्धि इन द्वार-रूप इन्द्रियो से बाहर निकलकर शब्द, स्पर्श, रूप रस, गन्ध आदि के विषयो के सम्पर्क मे आकर तदाकार हो जाती है। जिस प्रकार कूप से निकला हुआ जल नाली मे बहता हुआ क्यारियो मे पहुँचकर उन्हीं के आकार का हो जाता है उसी प्रकार इन्द्रियो के द्वार से निकली हुई बुद्धिवृत्ति विषयो मे आकर तदाकर हो जाती है। इस तदाकर बुद्धिवृत्ति अथवा चिन्तवृत्ति मे पुरूष के प्रतिबिम्ब के फलस्वरूप रूप आदि विषयो का प्रत्यक्ष होता है। यहॉ पर साख्य भिन्नता प्रदर्शित करते हुए योग दर्शन **पारस्परिक प्रतिबिम्बवाद** को मानता है।

पूर्व मीमासा की प्रत्यक्ष ज्ञान की प्रक्रिया बहुत कुछ न्याय दर्शन के समान है। मीमासको के अनुसार किसी भी प्रत्यक्ष मे विषय तथा तद्गुणो का इन्द्रिय से, इन्द्रिय का मन से तथा मन का आत्मा से, इन तीन प्रकर से सन्निकर्ष होता है, जिससे प्रत्यक्ष ज्ञान की उपलब्धि होती है। मीमासा मे भी मन की कल्पना न्याय दर्शनके समान एक प्रकार की इन्द्रिय के रूप मे की गई है।

अद्वैत वेदान्त सम्प्रदाय यद्यपि वाह्यार्थ की सत्ता को परमार्थसत् नहीं मानता तथापि उसकी प्रत्यक्ष की प्रक्रिया मे भी चित्तवृत्ति का घटाकर रूप मे होना स्वीकार किया गया है। इसके अनुसार शरीर के भीतर रहने वाला अन्त करण अविद्याविर्वत अदृष्ट से प्रेरित होकर चक्षु आदि इन्द्रियो के मार्ग से बाहर निकल कर घटादि विषयो से यथोचित रीति (जिस विषय से इन्द्रिय का जैसा सन्निकर्ष होता हो) से ससृष्ट होकर उन विषयो को व्याप्त करके उसी-उसी आकार मे परिणत हो जाता है। जैसे भरे हुए तालाब का जल नाली मे से बहता हुआ खेत मे से जाकर उस खेत के आकार के अनुसार ही चौकोर या गोलाकार हो जाता है, वैसे ही अन्तकरण भी विषय

के आकार का हो जाता है— **'यथातडागोदक छिद्रान्निर्गत्य कुल्यात्मना केदाराप्रविश्य तद्वदेव चतुष्कोणाद्याकार भवति। तथा तैजस मन्त करणमपि चक्षुरादिद्वारा निर्गत्य घटादिविषयदेश गत्वादिविषयाकारेण परिणमते।'**[80]

प्रत्यक्ष प्रमा का करण

न्याय वैशेषिक दर्शन मे प्रत्यक्ष ज्ञान के **तीन प्रकार के करण** माने गये हैं— 1 इन्द्रिय 2 इन्द्रियार्थसन्निकर्ष और 3 ज्ञान अर्थात निर्विकल्पक ज्ञान। इन तीनो के आगे चौथे सविकल्पक ज्ञान और पॉचवे हानोपादानोपेक्षाबुद्धि, इन दो फलो को और जोड लेने पर पॉच कडी की एक श्रृखला बन जाती है और उससे त्रिविध करण का स्पष्टीकरण बहुत अच्छे ढग से हो जाता है। इन पॉचो मे 1 करण 2 अवान्तर व्यापार और 3 फल, इन तीन का समावेश होता है। इन पॉचो की श्रृखला मे से यदि प्रथम को करण माना जाय तो दूसरे को आवान्तर व्यापार और तीसरे को फल मानना चाहिए। इसी प्रकार यदि दूसरे को करण माना जाय तो तीसरे को अवान्तरण व्यापार और चौथे को फल मानना चाहिए। इसी प्रकार यदि तीसरे को करण मानेगे तो चौथे को अवान्तर व्यापार और पॉचवे को उसका फल मानना होगा।

मीमासको मे प्रत्यक्ष ज्ञान के करण को लेकर मतभेद है। **भाट्ट मीमासक** प्रत्यक्ष ज्ञान के तीन करण मानते है— 1 इन्द्रिय 2 निर्विकल्पक ज्ञान और 3 सविकल्पक ज्ञान। इन्द्रिय को प्रत्यक्ष ज्ञान का करण मानने पर निर्विकल्पक ज्ञान' फल होता है और आवान्तर व्यापार ज्ञातता होती है। निर्विकल्पक ज्ञान को करण मानने पर सविकल्पक ज्ञान' उसका फल होता है तथा सविकल्पक ज्ञान को करण मानने पर हानोपादानोपेक्षाबुद्धि फल होती है और ज्ञातता आवान्तर व्यापार होती है।

प्राभाकर मीमासको के अनुसार भी प्रत्यक्ष ज्ञान के तीन करण है— 1 इन्द्रिय 2 आत्म-मन सन्निकर्ष एव 3 प्रकाशरूप ज्ञान। इनके अनुसार इन्द्रिय को प्रत्यक्ष प्रमा का करण मानने पर निर्विकल्पक ज्ञान उसका फल है तथा सन्निकर्ष अवान्तर व्यापार। आत्म मन सन्निकर्ष को प्रत्यक्ष ज्ञान का करण मानने पर सविकल्पक ज्ञान' उसका फल होता है तथा निर्विकल्पक ज्ञान' उसका अवान्तर व्यापार। यदि प्रकाशरूप सवित् अर्थात् निर्विकल्पक ज्ञान को करण माना जाता है तो हानोपादानोपेक्षाबुद्धि' उसका फल होता है तथा सविकल्प ज्ञान' अवान्तर व्यापार।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि नैयायिक एव मीमासक दोनो इन्द्रिय को प्रत्यक्ष ज्ञान का करण मानते है। किन्तु दोनो मे अतर भी है। भाट्ट मीमासको ने नैयायिको की तरह अवान्तर व्यापार को प्रत्यक्ष ज्ञान का करण नही माना है जबकि नैयायिक अवान्तर व्यापार को प्रत्यक्ष ज्ञान का करण मानते हैं। इस सन्दर्भ मे नैयायिको और प्राभाकर मीमासको के विचार मिलते है। प्राभाकर भी नैयायिको की तरह सन्निकर्ष को प्रत्यक्षज्ञान का करण मानते हैं। भाट्ट मीमासक सविकल्पक ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमा का करण मानते है जबकि नैयायिक इसे करण नहीं मानते हैं। इस विषय मे भाट्टो एव प्रभाकरो मे समानता व असमानता दोनो हो सकती है। यदि प्राभाकर

सम्मत प्रकाशरूप सवित् को निर्विकल्पक ज्ञान के रूप मे मानते है तो भाट्ट मीमासका से उनका मतभेद है और यदि इसे सविकल्पक ज्ञान के रूप मे माना जाता है तो प्राभाकर के विचार भाट्टो के समान हो जाते हे। नेयायिक एव मीमासक दोनो प्रत्यक्ष की क्रिया मे अवान्तर व्यापार की भूमिका मानते हैं क्योकि इसके बिना प्रत्यक्ष हो ही नहीं सकता।

प्रत्यक्ष ज्ञान के घटक

न्याय वैशेषिक दर्शन मे प्रत्यक्ष का इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षजन्यत्वरूप जो लक्षण किया गया है उसमे तीन बातो का उल्लेख मिलता है। 1 इन्द्रिय 2 सन्निकर्षऔर 3 पदार्थ (विषय)। **मीमासको** ने प्रत्यक्ष ज्ञान के घटको का पृथक निरूपण नही किया है। उनके मत मे जैमिनि के सूत्र सत्सम्प्रयोगे पुरूषस्येन्द्रियाणा बुद्धिजन्यतत्प्रत्यक्षम्" के सम्यक विशलेषण से प्रत्यक्षप्रमा के लिए आवश्यक घटको का शब्दत कथन सिद्ध होता है – 1 विद्यमान विषय, 2 इन्द्रियॉ, जिसक साथ विषय सन्निकर्ष अपेक्षित है तथा 3 पुरूष जिसको ज्ञान हो सके। **कुमारिल भट्ट** ने उक्त सूत्र मे इन तीन आवशयक तत्वो (प्रमेय प्रमाण एव प्रमाता) के समावेश न होने से इनका पृथक विवेचन करना उचित नही समझा किन्तु नैयायिको ने इनका पृथक-पृथक विवेचन किया है। सर्वप्रथम **इन्द्रिय** का विवेचन अपेक्षित है जो इस प्रकार है –

न्याय-वैशेषिक मत मे इन्द्रियो को वाह्य एव आभ्यान्तर जगत के विषयो का ज्ञान प्राप्त करने का साधन माना जाता है। आत्मा इन्द्रियो के माध्यम से ही वाह्य तथा आन्तर जगत से सम्बन्ध स्थापित करता है और उनका ज्ञान प्राप्त करता है। इन्द्रियॉ वह साधन है जिनसे स्वय ज्ञाता के अस्तित्व का भी बोध होता है। **वात्स्यायन** ने इन्द्रिय को उपलब्धि का साधन कहा है।[81] इन्द्रियॉ दो प्रकार की हैं– **वाह्य तथा आभ्यन्तर।** वाह्य ज्ञानेन्द्रियॉ पॉच प्रकार की है– घ्राण रसना चक्षु, श्रोत और त्वक्। आन्तरिक इन्द्रिय केवल मन है। यद्यपि वाह्येन्द्रियो मे कर्मेन्द्रियॉ भी आती है किन्तु ज्ञान व्यापार मे उनका कोई उपयोग नहीं है। इसलिए यहॉ वाह्येन्द्रिय से ज्ञानेन्द्रिय अर्थ ही अभिप्रेत है। न्याय वैशेषिक दर्शन के अनुसार वाह्यज्ञानेन्द्रियो की उत्पत्ति पचमहाभूतो से होती है। ये भौतिक सूक्ष्म एव अतीन्द्रिय है। ज्ञानेन्द्रियो के अस्तित्व एव इनके भौतिकत्व का ज्ञान अनुमान प्रमाण से होता है। नैयायिक अनेक युक्तियो के द्वारा ज्ञानेन्द्रियो के अस्तित्व को सिद्ध करते है।

न्याय-वैशेषिक के अनुसार अन्तरिन्द्रिय मन के द्वारा सुख-दुख आदि का ज्ञान होता है। मन न केवल अन्य ज्ञानेन्द्रियो का सहायक है बल्कि स्वय भी कुछ विषयो का साक्षात् ज्ञान आत्मा को कराता है। मन नित्य अणु (अव्यापक) और निरवयव है। यदि यह व्यापक या विभु होता तो उसका सभी इन्द्रियो के साथ युगपद् सम्बन्ध होने से एक समय मे अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति हो जाती परन्तु ऐसा नहीं होता– **"युगपत् ज्ञानानुपत्तिर्मनसोलिगम्।"**[82] इससे सिद्ध है कि मन

अणु है अत एक समय एक ही इन्द्रिय के साथ उसका सम्बन्ध होने से एक समय एक ही ज्ञान प्राप्त हो सकता है अनेक नही। इससे यह भी सिद्ध होता है कि प्रत्येक जीवात्मा का अपना अलग मन होता है। ज्ञान चाहे वाह्य विषयो का हो या आन्तर, उसके लिए मन अनिवार्य करण है। इसी मन की सहायता से आत्मा का इन्द्रियो और शरीर के साथ तथा उनके द्वारा वाह्य जगत के साथ सम्बन्ध होता है।

नैयायिको मे इन्द्रियो की **प्राप्यकारिता** को लेकर कुछ मतभेद है। प्राचीन नैयायिका क अनुसार इन्द्रियो मे प्राप्यकारित्व है। प्राप्यकारी का अर्थ है– जाकर काम करने वाली। यदि प्राप्यकारिता का यह अर्थ लिया जाय तो केवल चक्षुरिन्द्रिय मे ही प्राप्यकारिता माननी होगी अन्य इन्द्रियो मे नही। किन्तु **जयन्त भट्ट** के अनुसार प्राप्यकारिता का अर्थ है विषय को पाकर काम करना। इस निर्वचन को आधार माना जाय तो सभी इन्द्रियो मे प्राप्यकारिता मानी जा सकती है। इससे स्पष्ट होता है कि इन्द्रियो मे **प्राचीन नैयायिको** के अनुसार प्राप्यकारिता है यद्यपि प्राप्यकारिता के अर्थ के सम्बन्ध मे उनमे कुछ मतभेद भी है। **नव्य नैयायिक** चूँकि प्रत्यक्ष के लिए इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष को आवश्यक नहीं मानते इसलिए वे प्राप्यकारिता को भी नहीं स्वीकार करते है। न्याय-वैशेषिक सभी छ इन्द्रियो को भौतिक और अतीन्द्रिय मानते है।

मीमासको का इन्द्रिय सम्बन्धी विचार प्राचीन नैयायिको के समान ही है। निम्नलिखित बातो मे दोनो मे भिन्नता है। मीमासक भी पचमहाभूतो से इन्द्रियो की उत्पत्ति मानते है परन्तु नैयायिको की भॉति उन्होने श्रोतेन्द्रिय को आकाश स्वरूप न स्वीकार करके दिग्भागीय माना है– **"श्रोत तु दिङ्भागम्।"**[83] **पार्थसारथि मिश्र** ने श्रोतेन्द्रिय को श्रुति प्रमाण के आधार पर दिङभागीय स्वीकार किया है। **भाट्ट मीमासक** केवल श्रोत को दैशिक मानते है जिसके द्वारा इन्द्रियॉ विषयो को ग्रहण करती हैं तथा इस शक्ति का ज्ञान विषयो के ग्रहण से होता है।

इसी तरह से भाट्ट मीमासक घ्राण, त्वक् एव जिह्वा इन्द्रियो को प्राप्यकारी मानते हैं। परन्तु श्रोत एव चक्षु इन्द्रियो की प्राप्यकारिता के विषय मे उन्हे सन्देह है। उनके मतानुसार त्वाक रासन तथा घ्राणज प्रत्यक्ष मे इन्द्रिय तथा अर्थ का सन्निकर्ष वास्तविक रूप से स्पष्ट है। प्रभाकर मतानुयायी **शालिकनाथ मिश्र** ने समवायि असमवायि एव निमित्त कारणो मे से इन्द्रिय सम्बन्ध को असमवायि कारण माना है।

इन्द्रियो के बारे मे **साख्य-योग** का मत न्याय-वैशेषिक और मीमासा से एकदम भिन्न है। उपरोक्त दर्शनो से भिन्न साख्य-योग दर्शन मे मन और पच ज्ञानेन्द्रियो की उत्पत्ति अहकार से मानी गयी है। न्याय वैशेषिक से भिन्न साख्य-योग मत मे मन यद्यपि सूक्ष्म इन्द्रिय है लेकिन वह अणु नही है सावयव है और इसीलिए एक ही साथ भिन्न-भिन्न इन्द्रियो के साथ सयुक्त हो सकता है। मन अत करण का एक रूप है। साख्य-योगानुसार मन नित्य पदार्थ नही है। वह प्रकृति का एक कार्यद्रव्य है, अत उसकी काल विशेष मे उत्पत्ति भी होती है और नाश भी।

बौद्ध दर्शन मे इन्द्रियो की सख्या पॉच मानी गयी है– नेत्र श्रोत घ्राण रसना तथा त्वचा। इन्द्रियो से बौद्धो का अभिप्राय वस्तुत इन्द्रियो के अधिष्ठानो से है अत इन्द्रियॉ बौद्धो के अनुसार गोलक है तथा विभिन्न प्रकार के परमाणुओ से निर्मित होने के कारण भौतिक है। बौद्ध मन को इन्द्रिय नही मानते है। उनके अनुसार मन चेतना का आश्रय है। बौद्ध दार्शनिक इन्द्रियो की प्राप्यकारतिा के सिद्धान्त को स्वीकार नही करते है। **जैन** भी मन को इन्द्रिय नही मानते यद्यपि वे मन को आत्मा के सवेदन का एक साधन मानते है। जैन दार्शनिक चक्षुरिन्द्रिय को प्राप्यकारी नही मानते। शेष चार इन्द्रियो मे प्राप्यकारित्व को वे स्वीकार करते है। **अद्वैत वेदान्ती** भी केवल पॉच इन्द्रियो को मानते है। वे मन को इन्द्रिय नही मानते, यद्यपि वे सुखादिको का आतर-प्रत्यक्ष मानते है। न्याय-वैशेषिको की भॉति अद्वैत वेदान्ती भी इन्द्रियो को भौतिक मानते हैं। साख्य और अद्वैत वेदान्ती नैयायिको एव मीमासको की भॉति इन्द्रियो की प्राप्यकारिता को स्वीकार करते हैं।

अधिकाश भारतीय दार्शनिक प्रत्यक्ष के लिए विषय के साथ इन्द्रिय सम्बन्ध को आवश्यक मानते है जिसे **"सन्निकर्ष"** कहा जाता है। वाह्य प्रत्यक्ष मे वाह्येन्द्रियो का विषयो के साथ सन्निकर्ष तथा आन्तर प्रत्यक्ष मे अन्तरिन्द्रिय के साथ आत्मा तथा आत्म-गुणो का सन्निकर्ष आवश्यक माना गया है। द्रव्य का प्रत्यक्ष द्रव्येन्द्रिय सन्निकर्ष से तथा गुण, कर्मादि का प्रत्यक्ष अपने आश्रयीभूत द्रव्य के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष से होता है। **सन्निकर्ष को लेकर मुख्य विवाद नैयायिको एव मीमासको मे है।**

न्याय दर्शन मे सन्निकर्ष के मुख्यत दो भेद माने गये है– **1 लौकिक और 2 आलौकिक।** लौकिक सन्निकर्ष मे इन्द्रिय और विषय का सम्बन्ध सामान्य (साधारण) रूप से होता है और अलौकिक सन्निकर्ष मे इन्द्रियो से विषय का सम्बन्ध असाधारण रूप से होता है। **लौकिक सन्निकर्ष के छ भेद** इस प्रकार है– 1 सयोग, 2 सयुक्त समवाय 3 सयुक्त समवेतसमवाय 4 समवाय, 5 समवेत समवाय, 6 विशेष्य-विशेषणभाव।

दो भिन्न द्रव्यो के बीच यतुसिद्ध (वियोज्य) सम्बन्ध को **'सयोग सन्निकर्ष** कहते हैं। ऑख और घड़े तथा आत्मा और मन के बीच सयोग सन्निकर्ष है।

"द्रव्यरूपप्रत्यक्षजनने सयुक्त समवाय" अर्थात जब किसी वस्तु के साथ उसमे रग, रूप का इन्द्रिय से सम्बन्ध होता है, तो उसे **'सयुक्त समवाय सन्निकर्ष'** कहते है। जैसे, चक्षुरिन्द्रिय के साथ घट एव उसके रूप, रग का सम्बन्ध। चक्षु से सयुक्त घट मे रूप का समवाय होने से चक्षुरिन्द्रिय और घट रूप विषय का सयुक्त समवाय' सन्निकर्ष होता है। इसी प्रकार मन से आत्मा मे रहने वाले सुखादि गुणो के ग्रहण होने पर यह सन्निकर्ष ही होता है।

"रूपत्व सामान्य प्रत्यक्षेसयुक्तसमवेत समवाय" अर्थात किसी इन्द्रिय के साथ किसी द्रव्य की सामान्य जाति का समवेत प्रत्यक्ष होने से **'सयुक्त समवेतसमवाय सन्निकर्ष'** होता है।

जैसे चक्षुरिन्द्रिय से घटरूप मे समवेत रूपत्वादि सामान्य अर्थ का सन्निकर्ष ही संयुक्त समवेतसमवाय है।

"श्रोतेण शब्दसाक्षात्कारे समवाय " अर्थात कान से शब्द के प्रत्यक्ष मे **समवाय सन्निकर्ष** है। तर्कशास्त्र मे कान को आकाश मानते हैं। शब्द आकाश का गुण है। आकाश द्रव्य है और शब्द उसका विशेष गुण। दोनो मे गुण-गुणी का भाव है। गुण-गुणी मे समवाय सम्बन्ध से रहता है। अत दोनो मे समवाय सन्निकर्ष है।

"शब्दत्व साक्षात्कारे समवेतसमवाय सन्निकर्ष " अर्थात कान द्वारा शब्दत्व (शब्द जाति) के प्रत्यक्ष मे **"समवेत समवाय सन्निकर्ष"** है।

यदि इन्द्रिय का विषय उस इन्द्रिय से सम्बद्ध विषय का विशेषण हो, तो इस प्रकार के इन्द्रिय-विषय सम्बन्ध को **"विशेष्य-विशेषण भाव सन्निकर्ष"** कहते है। यह सन्निकर्ष अभाव के प्रत्यक्ष मे चरितार्थ होता है– **"अभाव प्रत्यक्षे विशेषणविशेष्य भाव सन्निकर्ष ।"** यह सन्निकर्ष वस्तुत तभी कार्य समर्थ होता है जब उपर्युक्त पॉच सन्निकर्ष मे से कोई एक उसके साथ कार्यरत हो।

37745-10
5758

उपर्युक्त सन्निकर्ष प्राचीन न्याय द्वारा स्वीकृत प्रत्यक्ष की परिभाषा "इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्षम्' के आधार हैं। लेकिन **नव्य नैयायिको** ने प्रत्यक्ष के इस लक्षण को ही दोषपूर्ण बताकर उसके कारण–सामग्री के रूप मे उपर्युक्त छ सन्निकर्ष को भी दोषपूर्ण बताया। उन्होने साक्षात्कारी (बिना किसी माध्यम के उत्पन्न होने वाला ज्ञान) ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा तथा उसकी कारण-सामग्री के रूप मे तीन नये सन्निकर्षो की कल्पना की जिसे **"अलौकिक सन्निकर्ष** कहा जाता है। ये है – 1 समान्य लक्षणा प्रत्ययासत्ति, 2 ज्ञान लक्षणा प्रत्यासत्ति और 3 योगज।

प्रत्यक्षज्ञान की प्रक्रिया मे कुछ ऐसी कठिनाइयॉ है जिनका समाधान लौकिक प्रत्यक्ष की कारण-सामग्री से सभव नही है। उदाहरणार्थ, धूमरूपे हेतु से वह्नि का अनुमान लोकसिद्ध बात है। किन्तु समस्या यह है कि वह अनुमान तभी हो सकता है, जबकि धूम और वह्नि का सभी देश और काल मे साहचर्य निश्चय हो। यह लौकिक प्रत्यक्ष के द्वारा सभव नही है। इसके लिए **नव्य न्याय** ने कल्पना की कि जब धूम और वह्नि का प्रत्यक्ष होता है, उस समय धूमत्व नामक सामन्य धर्म से सकल धूम का तथा वह्नित्व से सकल वह्नि का ज्ञान कर सभी धूम और वह्नि के बीच साहचर्य सम्बन्ध का निश्चय किया जाता है। इसी कल्पना के आधार पर सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति की उत्पत्ति हुई। नव्य नैयायिको के अनुसार एक वस्तु को देखने से उसकी सजातीय वस्तुओ का जो ज्ञान होता है उसके आधार को **"सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति"** कहते है– **"समाना भाव सामान्य, तल्लक्षणा यस्य स सामान्यलक्षण ।"** उल्लेख्य है कि नैयायिक सामान्य को भी एक स्वतत्र पदार्थ मानते हैं। प्राचीन नैयायिको के अनुसार सामन्य या जाति का ज्ञान सयुक्त समवायसन्निकर्ष से होता है, किन्तु नव्य नैयायिक सामान्य के ज्ञान के लिए इन्द्रिय सन्निकर्ष को पर्याप्त नहीं मानते। इसके लिए वे सामान्य लक्षण नामक् अलौकिक सन्निकर्ष की कल्पना करते हैं।

नव्य नैयायिको के अनुसार **"ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्ति"** से एक विषय के प्रत्यक्ष के साथ उससे सम्बन्धित गुणो का भी हमे इन्द्रिय सन्निकर्ष के बिना भी ज्ञान प्राप्त होता है। जैसे "बर्फ शीतल है" या चन्दन सुगन्धित है इत्यादि स्थलो मे बर्फ एव चन्दन के एक टुकडे के चाक्षुष ज्ञान के साथ उनकी शीतलता एव सौरभ का भी ज्ञान होता है क्योकि यद्यपि शीतलता एव सौरभ का चक्षु से साक्षात् सम्बन्ध नहीं है फिर भी शीतलता व सौरभ का पूर्व ज्ञान आत्मा मे है और उसी आत्मस्थ ज्ञान के द्वारा चक्षु और सौरभ का भी सम्बन्ध हो जाता है।

सामान्यलक्षण और ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष मे मुख्य अतर यह है कि सामान्य लक्षणाप्रत्यासत्ति अपने आश्रय के प्रत्यक्ष मे कारण होता है, जबकि ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्ति जिसका ज्ञान होता है उसी ज्ञान के प्रति कारण होता है। ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्ति के द्वारा ही नैयायिक भ्रम की व्याख्या करते है।

योगजसन्निकर्ष के द्वारा योगाभ्यास से अलौकिक शक्ति प्राप्त योगियो को अपनी यौगिक सामर्थ्य की सहायता से इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के बिना भी भूत तथा भविष्य गूढ तथा सूक्ष्म, निकटस्थ तथा दूरस्थ सभी प्रकार की वस्तुओ का ज्ञान प्राप्त होता है।

पूर्व मीमासा दार्शनिको ने न्यायाभिमत लौकिक एव अलौकिक दोनो प्रकार के सन्निकर्षो का खण्डन किया है। किन्तु सन्निकर्ष को लेकर मीमासा दर्शन के दोनो सम्प्रदायो मे मतभेद है जिसका विवेचन अधोवत् है –

भाट्ट सम्प्रदाय मे इन्द्रिय तथा अर्थ के सम्यक् व्यापार के लिए सयोग तथा सयुक्त तादात्म्य नाम दो सन्निकर्षो को स्वीकार किया गया है।[84] नेत्रादि से सयुक्त पृथिव्यादि मे तादात्म्येन अवस्थित जाति गुण कर्मादि का ग्रहण होने पर **"सयुक्त तादात्म्य सन्निकर्ष"** होता है। सयुक्त तादात्म्य सम्बन्ध से रूपादि का ग्रहण हो जाने पर समवायादि सम्बन्धान्तर की कल्पना व्यर्थ है। गुण कर्मादिगतसत्ता रूपत्वादि धर्मो के ग्रहण-स्थल पर सत्तादि का द्रव्य के साथ परम्परया तादात्म्य सभव होने से सयुक्त तादात्म्य, तादात्म्य सन्निकर्ष माना जाता है। जिस प्रकार रूपात्वादि के ग्रहणार्थ नैयायिक सयुक्त समवेतसमवायसन्निकर्ष मानते हैं, वैसे ही सयुक्ततादात्म्यतादात्म्य" नामक सन्निकर्ष मानने मे कोई आपत्ति नही है। जाति गुण तथा कर्म का स्वाश्रय के साथ तादात्म्य सम्बन्ध ही होता है। अत इन्द्रियो का स्वविषय के साथ दो या तीन सन्निकर्ष होते है। नैयायिक सम्मत छ सन्निकर्षों मे से सयोग, सयुक्तसमवाय, सयुक्तसमवेतसमवाय सम्बन्धो का भाट्टाभिमत सयोग, सयुक्ततादात्म्य, सयुक्ततादात्म्यतादात्म्य सम्बन्धो से कोई भेद नहीं है, केवल सज्ञाएँ ही भिन्न हैं। भाट्ट शब्द को गुण के स्थान पर द्रव्य मानते हैं, अत शब्द के साथ समवाय सन्निकर्ष सभव नही है। समवाय के न रहने पर समवेतसमवाय सन्निकर्ष स्वयमेव निराकृत हो जाता है। अभाव का इन्द्रियो से प्रत्यक्ष नही माना जा सकता है और समवाय के आकाशपुष्य के समान होने पर विशेष्य-विशेषणभाव सन्निकर्ष मानने का भी कोई औचित्य नहीं है। इसके अतिरिक्त, नेत्रसयुक्त भूतलादि के साथ अभाव तथा समवाय का विशेषणविशेष्यभाव सन्निकर्ष संभव नहीं है, क्योकि

दण्डी पुरूष ' इत्यादि स्थलो पर सयोगादि सम्बन्धान्तरपूर्वक ही विशेषण-विशेष्यभाव देखा जाता है किन्तु अभाव तथा समवाय के साथ सम्बन्धान्तर नहीं माना जा सकता है।[85]

भाट्टो ने नैयायिको के लौकिक सन्निकर्ष की भॉति ही उनके अलौकिक सन्निकर्ष का भी खण्डन अधोवत् रूप मे किया है –

भाट्ट मीमासक व्याप्ति-ज्ञान के लिये सामान्य लक्षणाप्रत्यासत्ति को आवश्यक नही मानते है। अत उन्होने **सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति** का खण्डन किया है।

भाट्ट मीमासको ने नैयायिकाभिमत **ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति** पर आधारित प्रत्यक्ष को अस्वीकार किया है। नेत्रन्द्रियो द्वारा रूप के अतिरिक्त सुगन्ध का ज्ञान कदापि नही हो सकता। दूरस्थ चन्दन वृक्ष के दूर स्थिति होने के कारण उसके द्वारा सुगन्ध का ज्ञान नेत्रेन्द्रिय से उस व्यक्ति को कदापि नहीं हो सकता जिसने सुगन्ध का पूर्वानुभव नहीं किया है। नेत्रेन्द्रिय द्वारा तो चन्दन वृक्ष के रूप, आकार आदि का ही ज्ञान होता है। गन्ध का ज्ञान तो केवल घ्राणेन्द्रिय ही कर सकती है, परन्तु चन्दन वृक्ष के दूर स्थित होने के कारण उसके द्वारा सुगन्ध प्रत्यक्ष नही हो पाता। चन्दन वृक्ष तथा उसके सुगन्ध के सम्बन्ध का ज्ञान रखने वाले व्यक्ति को सुगन्ध का ज्ञान परोक्षत होता है। इसी प्रकार दूरस्थ अग्नि के उष्णत्व का ज्ञान भी परोक्ष है प्रत्यक्ष नही।[86]

कुमारिल द्वारा योगज प्रत्यक्ष का खण्डन इस बात की पुष्टि करता है कि भाट्टमीमासा मे **योगज सन्निकर्ष** को अस्वीकार किया गया है। भावनाप्रमर्ष से अतीत, अनागत सूक्ष्म व्यवहित विषयो का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान योगियो को होता है।[87] योगियो को अवर्तमान विषयो का होने वाला ज्ञान प्रत्यक्षात्मक नही है, क्योकि प्रत्यक्षात्मक ज्ञान को सत्सम्प्रयोगज तथा विद्यमानोपलम्भनरूप होना आवश्यक है[88] ठीक उसी प्रकार जैसे अभिलषित वस्तु की बारम्बार स्मृति होने पर भी अतीत विषयक होने के कारण योगियो के मत से भी प्रत्यक्षरूप नहीं होती।[89] जिस प्रकार प्रातिभज्ञान" को जनसाधारण या अन्य कोई प्रमाण नही मानते उसी प्रकार योगिज्ञान की प्रसिद्धि लोक मे प्रत्यक्ष या अन्य किसी प्रमाण के रूप मे नहीं है। अत योगि-ज्ञान न तो प्रत्यक्ष है न अन्य कोई प्रमाण। योगि-ज्ञान और प्रातिभज्ञान इन दोनो मे से किसी के भी सत्सम्प्रयोगज न होने के कारण दोनो मे प्रत्यक्षता नही है। वार्तिककार को योगज प्रत्यक्ष ही अभीष्ट नही है तो उसके लिये आवश्यक योगज सन्निकर्ष की क्या आवश्यकता?

प्राभाकर मीमासको ने भी भाट्टो की तरह अलौकिक सन्निकर्ष को नहीं माना है और न्याय मत का खण्डन किया है। भाट्टो की तरह ही प्राभाकर भी यह मानते है कि चूँकि प्रत्यक्ष से केवल विद्यमान विषयो का ही ग्रहण होता है, अविद्यमान विषयो का नही, इसलिए अविद्यमान विषयो के ग्रहणार्थ अलौकिक सन्निकर्ष को मानने की आवश्यकता नहीं है। लेकिन सन्निकर्ष के विषय मे भाट्ट एव प्राभाकर मीमासको मे मतैक्य नहीं है। **भाट्टो के विरूद्ध प्राभाकर तार्किको के समान समवाय सम्बन्ध को प्रत्यक्ष विज्ञान का हेतु मानते है।** प्रभाकर तीन प्रकार के सन्निकर्ष मानते है– 1 सयोग, 2 सयुक्त समवाय, 3 समवाय। इन तीनो सन्निकर्षों को न्याय भी मानता है, किन्तु न्याय मे सयुक्त समवेत समवाय समवेत समवाय, विशेषण विशेष्यभाव– ये

तीन अधिक सन्निकर्ष माने जाते है। प्राभाकर न्याय सम्मत इन तीनो सन्निकर्षो को इसलिए स्वीकार नही करते कि उनके मत मे रूपत्व" आदि पदार्थ नही माना जाता अत सयुक्तसमवेतसमवाय सन्निकर्ष हेय हो जाता है। शब्दत्व की भी मान्यता उक्त दर्शन मे नही है। अत समवेतसमवायसन्निकर्ष भी त्याज्य है। प्राभाकर मतावलम्बी अभाव का अस्तित्व स्वीकार नही करते है तथा समवाय को प्रत्यक्ष नही मानते है, अत उन्होने विशेषण-विशेष्यभाव सन्निकर्ष को नहीं माना है।

सम्पूर्ण भारतीय दर्शन मे प्रत्यक्ष को प्रमाण मानने वाले दर्शनो मे जिस प्रकार प्रत्यक्ष के लक्षण करण एव घटक आदि के बारे मे मतभेद है, उसी प्रकार **प्रत्यक्ष के विषय** के बारे मे भी उनमे मतभेद दिखाई देता है। **चार्वाको** के अनुसार सम्पूर्ण दृश्य जगत् जिसका सयोग इन्द्रियो से होता है प्रत्यक्ष का विषय है। **जैन दार्शनिको** के अनुसार प्रत्यक्ष के द्वारा जीव आवरण का नाश होता है। **बौद्धो** के अनुसार प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण है। **न्याय वैशेषिको** के अनुसार द्रव्य गुण कर्म सामान्य विशेष समवाय और अभाव सात ऐसे पदार्थ है जो प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय बनते है। सामान्य गुणो का प्रत्यक्ष वाह्यइन्द्रियो से तथा विशेष गुणो का प्रत्यक्ष अतरिन्द्रिय अर्थात् मन से होता है। अपने लिए आत्मा का ज्ञान भी मानस प्रत्यक्ष से होता है। पृथ्वी जलादि भूत द्रव्यो का प्रत्यक्ष चक्षु आदि वही इन्द्रियो से होता है जबकि आकाश काल दिक एव मन आदि द्रव्यो का ज्ञान अनुमान से होता है। **भाट्ट मीमासको** और **अद्वैत वेदान्तियो** के अनुसार अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष से न होकर अनुपलब्धि प्रमाण से होता है। **मीमासको** ने सत् अर्थात विद्यमान या वर्तमानकालिक पदार्थो को ही प्रत्यक्ष का विषय माना है, अविद्यमान पदार्थ को नही। इस प्रकार जहॉ नैयायिक भूत, वर्तमान एव भविष्यत् वस्तुओ को प्रत्यक्ष का विषय मानते है वहॉ मीमासक केवल वर्तमान कालिक वस्तुओ को ही प्रत्यक्ष का विषय मानते है, क्योकि प्रत्यक्ष को धर्म के ज्ञापन मे अप्रमाणिक सिद्ध करना चाहते है। **भाट्ट मीमासक** द्रव्य गुण कर्म सामान्य आदि पदार्थो को प्रत्यक्ष का विषय मानते है। प्राभाकर द्रव्य, गुण सामान्य शक्ति सादृश्य आदि प्रत्यक्षो को प्रत्यक्ष का विषय मानते है परन्तु वे जाति कर्म और समवाय का प्रत्यक्ष नहीं मानते। भाट्टो ने शब्द को गुण न मानकर द्रव्य माना है और उसका प्रत्यक्ष वे सयोग सन्निकर्ष से करते है। प्राभाकर मीमासक नैयायिको की भॉति शब्द को गुण मानते है जिसका प्रत्यक्ष व सयोग सन्निकर्ष से करते है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार ब्रह्म (चैतन्य) ही प्रत्यक्ष का एक मात्र विषय है, क्योकि ब्रह्म के अतिरिक्त किसी अन्य तत्त्व की तात्त्विक सत्ता ही नहीं है– "ब्रह्मभिन्न सर्व मिथ्या ब्रह्ममिन्नत्वाद् ।"

प्रत्यक्ष के भेद

चार्वाक दर्शन मे प्रत्यक्ष के भेदो का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। प्रत्यक्ष के बारे मे इस दर्शन मे केवल इतना ही कहा गया है कि इन्द्रिय प्रत्यक्ष ही एक मात्र प्रामाणिक ज्ञान प्राप्ति का साधन है। अत अन्य प्रमाणो की कोई आवश्यकता नहीं है।

जैन दर्शन मे प्रत्यक्ष के दो भेद माने गये है– पारमार्थिक ओर व्यावहारिक। पारमार्थिक प्रत्यक्ष उस ज्ञान को कहते हैं जो व्यवधान उत्पन्न करने वाले कर्मों का नाश होने पर बिना किसी ज्ञान अथवा साधन की अपेक्षा के स्वत ही अपना तथा अपने विषय का प्रकाश करता है। इसके विपरीत व्यावहारिक प्रत्यक्ष मे ज्ञान की अभिव्यक्ति इन्द्रियो पर आश्रित होती है। यह व्यावहारिक प्रत्यक्ष भी जैनो के अनुसार दो प्रकार का होता है– एक तो वह जिसमे वहिरिन्द्रिय की अपेक्षा होती है तथा दूसरा वह जिसमे वहिरिन्द्रिय की अपेक्षा न होकर केवल मन द्वारा ही ज्ञान की अभिव्यक्ति होती है। जैन दर्शन मे प्रत्यक्ष की जो परिभाषा दी गई है उसके अनुसार यद्यपि व्यावहारिक प्रत्यक्ष की गणना प्रत्यक्ष के अर्न्तगत नही की जानी चाहिए तथापि नवीन जैनाचार्यो ने लौकिक-प्रत्यक्ष मे इन्द्रियो की उपयोगिता का महत्व समझ कर उसे भी एक प्रकार का प्रत्यक्ष मानना स्वीकार किया है।[90] प्राचीन सिद्धान्त मे यद्यपि मति-ज्ञान और श्रुत-ज्ञान की गणना परोक्ष ज्ञान के अर्न्तगत की गई है, तथापि जैन दर्शन के नवीन आचार्यो ने व्यवहारिक दृष्टि से इनको भी प्रत्यक्ष के अर्न्तगत मानना उपयुक्त समझा है। उनके अनुसार इन्द्रिय और मन के द्वारा भी जिस ज्ञान की अभिव्यक्ति होती है उसे भी प्रत्यक्ष की कोटि मे माना जा सकता है।

प्रत्यक्ष के भेद के बारे मे बौद्धो व जैनो मे पर्याप्त मतभेद दृष्टिगोचर होता है। जहाँ बौद्ध दर्शन मे केवल निर्विकल्पक की ही सत्ता मान्य है, वहाँ जैन दर्शन मे केवल सविकल्पक प्रत्यक्ष को ही स्वीकार किया गया है। आचार्य हेमचन्द्र ने निर्विकल्पक को अनध्यवसाय रूप कहकर प्रत्यक्ष की कोटि मे नही माना है। **बौद्धाचार्य धर्मकीर्ति** का प्रबल खण्डन करने वाले **जैनाचार्य अकलक** ने केवल सविकल्पक ज्ञान को ही प्रामाणिक माना है। उनके अनुसार इन्द्रिय का जब विषय के साथ सम्पर्क होता है, तो सस्कारो का उद्बोधन होता है, तदनन्तर पूर्वानुभूत सदृश पदार्थो की स्मृति होती है। जो कि सविकल्पक ज्ञान की उत्पत्ति करती है। सविकल्पक ज्ञान मे सस्कारो का उद्बोधन होता है जबकि निर्विकल्पक' मे सस्कारो का उदय ही नही होता। इसलिए सविकल्पक ज्ञान ही प्रामाणिक ज्ञान है।

बौद्ध दर्शन के विकसित रूप **दिड्नाग सम्प्रदाय** मे प्रत्यक्ष के **चार भेदो** का निरूपण किया गया है। **वाचस्पति मिश्र** ने **"न्यायकणिका"** मे इन भेदो का उल्लेख किया है। ये है– **1 इन्द्रिय प्रत्यक्ष 2 मानस प्रत्यक्ष 3 भावनामय या योगज प्रत्यक्ष 4 स्वसवेदन प्रत्यक्ष।**

केवल इन्द्रियो द्वारा जन्य ज्ञान **इन्द्रिय प्रत्यक्ष** है– **"इन्द्रियस्य ज्ञानमिन्द्रिज्ञानम्। इन्द्रियाश्रित यत्तम् प्रत्यक्षम्।"**[91] कहने का आशय यह है कि ज्ञान ही रूप के ज्ञान मे समर्थ है, न कि नेत्र। यह ज्ञान व्यवहित वस्तु को नही देखता, प्रत्युत साक्षात् ज्ञानकारक वस्तु से उत्पन्न हुआ है। यह अनुभव से ज्ञात भी है। **'प्रमाणवार्तिक'** मे इसका वर्णन करते हुए कहा गया है कि **चारो ओर से ध्यान हटाकर कल्पना से मुक्त निश्चल (स्तिमित) चित्त से रूपादि का ग्रहण इन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान है।**[92] इन्द्रिय प्रत्यक्ष हो जाने के बाद प्रज्ञा की क्रिया प्रारम्भ होती

है। सारे इन्द्रिय प्रत्यक्ष मात्र विशेष (व्यक्ति अर्थात् स्वलक्षण) के होते है, जहाँ ग्राह्य ग्राहक वाच्य वाचकभाव और अभिलाप्यता का सर्वथा अभाव पाया जाता है। जब बुद्धि क्रियाशील होती है स्मृति धर्म जागृत होता है और कल्पना चित्रो का निर्माण होता है तब तक इन्द्रिय अपने विषय से विरत हो चुकी रहती है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान के चार कारणो मे आलम्बन प्रत्यय तक ही सीमित होता है। चक्षु इत्यादि पॉचो इन्द्रियो के रूपादि पॉच विषय नियत है। इन्हीं के नाम पर विज्ञान का भी व्यपदेश मे किया जाता है। जैसे रूप-विज्ञान इत्यादि। इन इन्द्रियो के अपने पृथक-पृथक विषय है। चक्षु रूप को ही देखती है यह शब्द को नहीं सुनती। इसी प्रकार श्रोत का विषय शब्द है रूप नही।

बौद्ध दर्शन का **वैभाषिक सम्प्रदाय** यह मानता है कि इन्द्रिय प्रत्यक्ष मे नेत्र ही द्रष्टा हे। अर्थात् नेत्र से ही प्रत्यक्ष होता है। आगे चलकर **धर्मकीर्ति** ने 'नेत्र ही द्रष्टा है" वैभाषिक के इस मत का निराकरण करके यह व्याख्यायित किया कि ज्ञान ही रूप के ज्ञान मे समर्थ है न कि नेत्र क्योकि ज्ञान का ही रूप के ज्ञान मे सामर्थ्य है नेत्र का का नही। अत ज्ञान ही प्रमाण है नेत्र नही और वह ज्ञान व्यवहित वस्तु को नही देखता क्योकि योग्य देश मे स्थित वस्तु से वह ज्ञान उत्पन्न हुआ करता है व्यवहित वस्तु से नही। यह अनुभव से भी ज्ञात होता है। इस कथन से इन्द्रिय को प्रमाण मानने वाले मीमासक (यद्वेन्द्रिय प्रमाण स्यात् तस्य नार्थेन सगति")[93] आदि के मत का भी निराकरण हो जाता है। **बौद्ध न्याय** के सिद्धान्तानुसार ज्ञान ही प्रमाण है इन्द्रियादि नहीं– **"धीप्रमाणता प्रवृत्तेस्वतत् प्रधानत्वाद्धेयोपादेयवस्तुनि"।**[94] सक्षेप मे यही इन्द्रिय प्रत्यक्ष है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष पॉच प्रकार का होता है। इन्द्रिय ही इन ज्ञानो के असाधरण कारण या निमित्त है, इस कारण इन्द्रिय प्रत्यक्ष के रूप मे माने जाते है। इसकी विशेषता यह है कि प्रत्यक्ष अपने अनुरूप विकल्प उत्पन्न करके सम्यक् व्यवहार का ससाधन बनता है, इस कारण से यह प्रमाण है।[95]

दिङ्नाग ने **"प्रमाणसमुच्चय" मे मानस प्रत्यक्ष** की व्याख्या करते हुए कहा है कि **"पदार्थ के प्रति रागादि का जो कल्पनारहित ज्ञान होता है, वही मानस प्रत्यक्ष है।"** लेकिन **धर्मकीर्ति** के अनुसार यदि इसी को मानस प्रत्यक्ष माना जाय, तो यह पहले से ज्ञात अर्थ का प्रकाशक होने के कारण प्रमाण नही होगा। इस प्रकार गुरुमत मे दोष दिखाकर **धर्मकीर्ति मानस प्रत्यक्ष** की व्याख्या करते हुए कहते है कि किसी इन्द्रिय से उत्पन्न विज्ञानरूपी समनन्तर प्रत्यय के साथ मिलकर उस इन्द्रिय जन्य निर्विकल्पक ज्ञान के विषयक्षण से उत्पन्न होने वाले द्वितीय रूपक्षण (जो इन्द्रियजन्य ज्ञान के समकालीन होता है) के द्वारा इन्द्रिय-व्यापार विश्रान्त हो जाने पर, अपने उत्पादक क्षण (द्वितीय अर्थक्षण) के विषय मे जो विशद ज्ञान होता है, वह मानस प्रत्यक्ष कहलाता है– **"एव स्वाविषयान्तरविषयसहकारिणेन्द्रियज्ञानेन समनन्तर प्रत्ययेन जनित तन्मनोविज्ञानम्।"**[96]

यहॉ यह उल्लेखनीय है कि बौद्ध चक्षु आदि के समान मन नाम की कोई इन्द्रिय नही मानते है किन्तु वे यह मानते है कि विज्ञानो का प्रवाह मात्र ही मन है। उनके अनुसार पूर्व विज्ञान ही अग्रिम विज्ञान का कारण होता है। (किसी विज्ञान की सन्तति मे) वह पूर्व विज्ञान ही समनन्तर प्रत्यय कहलाता है क्योकि वह विज्ञानरूप मे (अग्रिम ज्ञान के) समान होता है (सम) और दोनो के बीच मे कोई व्यवधान नही होता अत वह अनन्तर (अन्तर रहित) होता है (सम+अनन्तर = समनन्तर)।

मानस प्रत्यक्ष इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष नही है क्योकि यह इन्द्रिय व्यापार के समाप्त हो जान पर होता है। इसका विषय मानस (आन्तर) भी नही है क्योकि यह इन्द्रियजन्य ज्ञान का विषय होने वाले प्रथम क्षण से उत्पन्न द्वितीय क्षण के विषय से हुआ करता है। यह ज्ञान अप्रत्यक्ष भी नही है क्योकि इसका स्फुट आभास होता है। बौद्ध ग्रन्थो विशेषकर धर्मकीर्ति के **"न्यायविन्दु"** एव मोक्षाकर गुप्त की **"तर्कभाषा"** मे इसका विशद विवेचन प्राप्त होता है।

सक्षेप मे भाव यह है कि प्रथम क्षण मे इन्द्रिय के द्वारा नीलक्षण का प्रत्यक्ष होता है और इन्द्रिय व्यापार समाप्त हो जाता है। इस नीलक्षण से इन्द्रिय ज्ञान के समान काल मे द्वितीय नीलक्षण की उत्पत्ति होती है, तब द्वितीय नीलक्षणविषयक जो मानसिक ज्ञान होता है, वह मानस प्रत्यक्ष कहलाता है। इस मानस प्रत्यक्ष मे इन्द्रिय विज्ञान उपादान है जिसे बौद्ध दर्शन मे समनन्तर प्रत्यय कहा जाता है। इसका विषय वाह्य नील आदि का द्वितीय क्षण है। अत जिसे चक्षुर्विज्ञान नही होता, उसे चाक्षुष ज्ञान के अनन्तर होने वाला मानस प्रत्यक्ष भी नही होता।

इस प्रकार एक ही वस्तु के दो अव्यवहित क्षणो मे प्रथम क्षण से इन्द्रिय द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह इन्द्रिय प्रत्यक्ष कहलाता है और द्वितीय क्षण से मन द्वारा जो अनुभव होता है वह मानस प्रत्यक्ष हे। **श्चेरवात्स्की** के अनुसार मानस प्रत्यक्ष निर्विकल्पक और सविकल्पक प्रत्यक्ष के बीच की स्थिति है– **"Thıs mental sensatıon ıs an ıntermedıate step between pure sensesatıon and woık of the understaındıng"**[97]

बौद्धेत्तर भारतीय दार्शनिको ने मानस प्रत्यक्ष के सिद्धान्त की कटु आलोचना की है। वे इस बात पर सहमत हैं कि मानस प्रत्यक्ष नाम की कोई वस्तु नहीं है। **वाचस्पति मिश्र** का कथन है कि हम अपने दैनिक अनुभव मे देखते हैं कि किसी भी वस्तु का सज्ञान पर्याप्त समय तक चलता रहता है। यह एक और अविभाज्य इकाई है जिसका विभाजन पूर्वापर क्षणो मे कतई सभव नही है। प्रत्यभिज्ञा द्वारा भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है। जैसे हम किसी मित्र को वर्षो बाद मिलने पर भी पहचान लेते है। इससे यह बात निर्मूल सिद्ध होती है कि किसी वस्तु के सज्ञान मे शुद्ध सवेदन व मानस सवेदन पूर्वापर रूप मे आते है। **मण्डन मिश्र** का भी कथन है कि पूर्वापर क्षणो पर आधारित सज्ञान सिद्धान्त कदापि स्वीकार नही किया जा सकता। अनुभव इस बात का प्रमाण है कि कोई भी सज्ञान एक व अविभाज्य समग्र रूप मे ही सज्ञाता के समक्ष प्रस्तुत होता है न कि भागते हुए क्षणो की श्रृखला के रूप मे। कुछ इसी प्रकार से **डॉ० सत्कारी**

मुखर्जी भी सहमत है। इनका कथन है कि **बौद्ध नैयायिको ने मानस प्रत्यक्ष की पुष्टि बौद्ध आगम की रक्षा के लिए की है। तार्किक या ज्ञानमीमासीय दृष्टिकोण से इसकी कोई उपयोगिता नही है और इसके न मानने से बौद्ध न्याय को किसी प्रकार की क्षति भी नही होगी।"**

चार्वाको तथा मीमासको के अतिरिक्त प्राय भारतीय दर्शन के सभी सम्प्रदायो ने योग के क्रियात्मक पक्ष को अपनाया है। बौद्ध दर्शन इसका अपवाद नही है। बौद्धो का भी मत है कि योग पद्धति का अनुसरण करके होने वाला प्रत्यक्ष ज्ञान **योगज प्रत्यक्ष** कहलाता है। योगज प्रत्यक्ष को **भावनामय प्रत्यक्ष** भी कहा जाता है। **"न्यायविन्दुटीका"**[98] मे इसका विशद विवेचन किया गया है। भावनामय प्रत्यक्ष का तात्पर्य यह है कि प्रमाणो से जाने गये अर्थ को भूत या सद्भूत अर्थ कहते है। बौद्ध दर्शन मे प्रसिद्ध चार आर्य सत्यो एव नैरात्म्य आदि के उपदेश द्वारा ज्ञान प्राप्त करके योगी अपने मन मे बार-बार उसका मनन करता है। यही भूतार्थ भावना कहलाती है। जब इस भावना द्वारा अनुभूत अर्थ मे स्फुटाभता आना आरम्भ हो जाता है तो भावना प्रकर्ष कहलाता है। स्फुटता की पूर्णता प्राप्त होने की अवस्था से पूर्वास्था भावनाप्रकर्षपर्यन्त" कही जाती है। इस अवस्था मे भाव्यमान वस्तु ऐसी प्रतीत होने लगती है जैसे अभ्रक या कॉच से व्यवहित वस्तु भासित होती है। इस अवस्था के पश्चात् योगी को भाव्यमान वस्तु हस्तामलकवत् स्फुट रूप मे भाषित होती है। यही भावनामय प्रत्यक्ष है। यह निर्विकल्पक होता है। **श्चेरवात्स्की** के अनुसार **"योगी का प्रत्यक्ष नितान्त मानसिक ज्ञान है इसमे इन्द्रियो का योग नही होता। इसको प्रत्यक्ष की कोटि मे लाने वाला मुख्य कारक इसकी स्फुटाभता है।"**

धर्मकीर्ति व **धर्मोत्तर** के अनुसार योगज प्रत्यक्ष मे प्रत्यक्ष की सभी तीन विशेषताएँ पायी जाती हैं – **अविसवादकत्व कल्पनापोढत्व एव अभ्रान्तत्व।** चूँकि योगज प्रत्यक्ष एक प्रकार का प्रत्यक्ष होता है इस कारण प्रमाण होने के लिए उसका अविसवादी होना आवश्यक है। अविसवादी तो चूँकि प्रत्यक्ष और अनुमान दोनो होते है, अतएव योगज प्रत्यक्ष के लिए कल्पनापोढ़त्व तथा अभ्रान्तत्व का गुण होना अत्यन्तावश्यक है।

बौद्ध दर्शन मे **स्वसवेदन** को प्रत्यक्ष का एक प्रमुख प्रकार माना गया है और कहा गया है कि विज्ञान तथा सुख आदि का अनुभव स्वसवेदन के अन्तर्गत आता है। **वाचस्पति मिश्र** ने **"न्यायकणिका"** मे "प्रमाणवार्तिक" की कारिका उद्धृत करते हुए सुखादि के स्वसवेदन का निरूपण किया है–

"अशक्यसमयो ह्यात्मा सुखादीनामनन्यभाक्।
तेषामत स्वसवित्तिर्नाभिजल्पानुषङ्गिणी।।"[99]

स्वसवेदन के लिए **"न्यायविन्दु"** मे कहा गया है कि सभी चित्त एव चैत्त पदार्थों का आत्मसवेदन ही स्वसवेदन है– **"सर्वचित्तचैत्तानामात्मसवेदनम्।"**[100]

यहाँ पर चित्त स तात्पर्य वस्तुओ के विज्ञान से है तथा चैत्त का तात्पर्य विज्ञान की विशेषावस्था को ग्रहण करने वाले सुखादि से है। किसी भी वस्तु के स्वसवेदन के ग्रहण का अर्थ यह है कि हम किसी भी वस्तु के विज्ञान को देख रहे है तथा यह भी जान रहे है कि उस विज्ञान से अलग उसे कोई देख रहा है। अर्थात यह एक शुद्ध चेतना है जो वस्तु से ही उत्पन्न होकर पुन उसी पर प्रक्षिप्त भी हो रही है। दूसरे शब्दो मे हम स्वसवेदन को **वस्तुओ की चेतना** की चेतना समझ सकते है। मानस प्रत्यक्ष मे तो चित्त की अवस्थाओ का ग्रहण होता है जबकि स्वसवेदन मे अवस्थाओ का नही वरन स्पष्ट विज्ञानो का ग्रहण किया जाता है।

दिडनाग सम्प्रदाय की यह आधारभूत मान्यता है कि समस्त ज्ञान स्वज्ञान है। किसी भी वाह्य वस्तु का एक विज्ञान तो होता ही है साथ ही साथ इस विज्ञान का भी एक विज्ञान होता है। प्रत्येक भाव तथा हर एक सकल्प एक ओर तो वस्तु से सम्बन्धित होते हैं वही दूसरी ओर ये स्वज्ञान भी होते है। इस प्रकार हम अपनी ज्ञातता के ज्ञान से भी युक्त होते हैं। ज्ञान स्वय प्रकाश होता है। जिस प्रकार दीपक अन्य वस्तुओ को प्रकाशित करता है और साथ ही साथ स्वय को भी आलोकित करता है जिसके लिए यह किसी पर भी आधारित नही होता ठीक उसी प्रकार ज्ञान भी स्वय प्रकाश होता है, क्योकि यह ज्ञात होने के लिए किसी अन्य चेतना के प्रकाश पर आश्रित नही होता। **अद्वैत वेदान्ती सुरेश्वराचार्य** ने भी ज्ञान की स्वप्रकाशता को सिद्ध करने का प्रयास किया है—

"स्वमतिमनैवचन्नस्यात् ग्राहकादिततोन्यत ।
न स्यात् अतिशयाभावात् नैव स्यात् अविशेषत ।।"

बौद्धो के लिए न तो प्रत्यक्ष के विषय तथा उस विषय की चेतना मे भेद है और न ही चेतना एक आत्मा तथा एक आन्तरिक इन्द्रिय मे विभक्त है। आन्तरिक इन्द्रिय या छठवीं इन्द्रिय की सत्ता को **सौत्रान्तिक-योगाचार सम्प्रदाय** मे अस्वीकार करते हुए इस बात को भी अस्वीकार किया गया है कि आन्तरिक इन्द्रिय स्वय ही शुद्ध चेतना होती है। ये मानते है कि यदि हमे इस बात का ज्ञान न हो कि हमे एक नील पट का प्रत्यक्ष हो रहा है तो हमे उसका प्रत्यक्ष कभी होगा ही नही— **"अप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थ दृष्टि प्रसिध्यति।" दिड्नाग** इसकी व्याख्या करते हुए कहते है कि **"चक्षु इन्द्रिय से गृहीत रूप का ज्ञान मन से गृहीत रूप-विज्ञान का ज्ञान होने के बाद उसके प्रति अपने अदर जो राग द्वेष आदि का अनुभव होता है, वही कल्पनारहित ज्ञान स्वसवेदन प्रत्यक्ष है।"**

धर्मकीर्ति इसी को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि रागादि का जो हम अनुभव करते हैं वह किसी दूसरे इन्द्रिय से सम्बन्ध नही रखता है। अत उसके स्वरूप मे वाच्य-वाचक का साकेतिक प्रयोग नही हो सकता है इसलिए उसका जो अपने अन्दर सवेदन होता है, वह वाच्य-वाचक ससर्गयोग्य नही है। समस्त सरल चेतनाएँ तथा साथ ही साथ समस्त मानवीय व्यापार स्वय चेतन होते है— **"सर्वचित्तचैत्तानामात्मसवेदनम्"**।[101] अर्थात् समस्त सरल चेतनाएँ इन्द्रिय गोचर क्षेत्र

मे उपस्थित किसी अनिश्चित वस्तु के विज्ञान की तथ्य मात्र तथा समस्त विकल्प जटिल चित्त सम्प्रयुक्त सस्कार आकार विचार और साथ ही साथ समस्त भाव और सकल्प–सक्षेप मे समस्त मानसिक प्रतीत होने वाले मानसिक व्यापार स्वय अपने मे स्वचेतन होते है। इस तरह **अज्ञात अर्थ का प्रकाशक कल्पनारहित तथा अविसवादी होने से स्वसवेदन प्रत्यक्ष मानस प्रत्यक्ष से भिन्न है जिसके अन्तर्गत हम रागद्वेष सुख-दु ख आदि का अनुभव करते हैं।** इन्द्रिय प्रत्यक्ष के अन्तर्गत हम किसी इन्द्रिय के एक विषय का (रूप, रस गन्ध आदि) ज्ञान प्राप्त करते है मानस प्रत्यक्ष मे आगे बढकर इन्द्रिय प्रत्यक्ष क्षण का अनुभव करते है और इस प्रकार अब भी उसका सम्बन्ध विषय से बना रहता है। किन्तु स्वसवेदन प्रत्यक्ष मे हम इन्द्रिय के ज्ञान से आगे विल्कुल भिन्न राग द्वेष सुख दु ख का प्रत्यक्ष करते हैं।

न्याय-वैशेषिक एव **मीमासको** की स्वसवेदन की व्याख्या बौद्धो से भिन्न तो है ही साथ ही इनमे पारस्परिक मतभेद भी परिलक्षित होता है और यह मतभेद इन दोनो यथार्थवादी सम्प्रदायो मे आत्मचेतना की धारणा मे भिन्नता के कारण है। **मीमासको के लिए आत्मचेतना एक अनुमान है जबकि नैयायिको के लिए यह एक पृथक प्रत्यक्ष है।** दृष्टि द्वारा एक घट का प्रत्यक्ष होने पर, मीमासको के अनुसार घट मे एक नवीन गुण ज्ञातता का गुण उत्पन्न हो जाता है। घट के इस गुण की उपस्थिति ही हमे स्वचेतना मे एक विज्ञान की उपस्थिति का अनुमान कराती है। **प्राभाकर बौद्धो** के साथ सहमत है कि आत्मा स्वय प्रकाश है। न्याय वैशेषिक मे आत्मा इन्द्रियो के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार से ज्ञान नही प्राप्त कर सकती यह नियम वाह्य तथा आन्तरिक दोनो ही विषयो पर लागू होता है। किन्तु **दिङ्नाग** अन्त करण या अन्तरिक इन्द्रिय की सत्ता को अस्वीकृत करते हुए इसे अपने मानस प्रत्यक्ष द्वारा स्थानान्तरित कर देते है। प्रत्येक विज्ञान विषयी और विषय मे एक ज्ञाता अश मे और एक ज्ञेय अश मे विभक्त होता है। किन्तु ज्ञाता अश पुन एक अन्य विषयी और एक अन्य विषय मे विभक्त नही होता। चेतना दो ऐसे भागो मे विभक्त नही होती जिनमे से एक दूसरे का निरीक्षक हो। वाह्य प्रत्यक्ष के समान ही स्वसवेदना की व्याख्या करना एक त्रुटि है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर निष्कर्षत हम कह सकते है कि प्रत्यक्ष के भेद के बारे मे बौद्ध मत जैनादि दर्शनो की धारणा से भिन्न है। जैन माध्व, बल्लभ मतानुयायी वेदान्ती तथा वैयाकरण दार्शनिक केवल सविकल्पक प्रत्यक्ष को ही वास्तविक मानते है, जबकि बौद्ध आचार्य केवल निर्विकल्पक को ही वास्तविक प्रत्यक्ष मानते हैं। उनके अनुसार निर्विकल्पक मे स्वलक्षण (शुद्ध वस्तुमात्र) का ग्रहण होता है जो शुद्ध सवेदन मात्र है। अत निर्विकल्पक ही यथार्थ प्रत्यक्ष है। सर्विकल्पक विशेषण विशेष्य और सम्बन्ध तथा शब्द आदि मिथ्या (असत्) विकल्पो का मिश्रण है, अत उसे यथार्थ प्रत्यक्ष नही कहा जा सकता है। **आचार्य धर्मकीर्ति** के अनुसार प्रत्यक्ष प्रत्येक क्षण का नया होता है। यह शुद्ध सवेदन मात्र है, जो निर्विकल्पक ही है। सविकल्पक प्रत्यक्ष

निर्विकल्पक के बाद की प्रक्रिया है जिसमे गुण जाति नामादि सभी मानसिक कल्पनाओ का समावेश होता है। इस कारण उसका प्रत्यक्षण प्रक्रिया मे समावेश नही किया जा सकता।

न्याय दर्शन मे प्रत्यक्ष के मुख्यत दो भेद माने गये है – 1 लौकिक प्रत्यक्ष और 2 अलौकिक प्रत्यक्ष।

जब इन्द्रिय का वस्तु के साथ साधारण ढग से सयोग होता है तो उससे **लौकिक प्रत्यक्ष** होता है। लौकिक प्रत्यक्ष साधारण प्रत्यक्ष है। इत्याकारक प्रत्यक्ष मे वस्तु के उसी गुण का ज्ञान होता है जो इन्द्रिय विशेष से मिल सकता है। लौकिक प्रत्यक्ष के दो भेद है– **क** वाह्य लौकिक प्रत्यक्ष और **ख** आन्तरिक या मानस प्रत्यक्ष।

वहिरिन्द्रियो द्वारा प्राप्त ज्ञान ही **वाह्य लौकिक प्रत्यक्ष** है। ज्ञान की वहिरिन्द्रियॉ पॉच हैं– 1 चक्षु 2 घ्राण 3 जिह्वा 4 श्रोत और 5 त्वचा। इन विशेष इन्द्रियो से होने वाला विशिष्ट प्रत्यक्ष ज्ञान भी पॉंच प्रकार का होता है– 1 चाक्षुष प्रत्यक्ष 2 घ्राणज प्रत्यक्ष 3 रासन प्रत्यक्ष, 4 श्रावण प्रत्यक्ष और 5 त्वचा प्रत्यक्ष।

आन्तरिन्द्रय या मन के साथ जब आन्तरिक अवस्थाओ का साधारण ढग से सयोग होता है तो उसे **आन्तरिक या मानस लौकिक प्रत्यक्ष** कहते हैं। मन के द्वारा हमे आत्मा और उसके सुख–दु ख, बुद्धि इच्छा द्वेष प्रयत्न धर्म एव अधर्म आदि विशेष गुणो का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।

एक अन्य दृष्टिकोण से लौकिक प्रत्यक्ष के तीन अन्य भेद माने गये है– क निर्विकल्पक ख सविकल्पक और ग प्रत्यभिज्ञा।

"निष्प्रकारक ज्ञान निर्विकल्पम्" अर्थात जो ज्ञन प्रकारता से शून्य हो वह **निर्विकल्पक प्रत्यक्ष है**। इसमे वस्तु के स्वरूपमात्र का प्रत्यक्ष होता है और उसके नाम जाति आदि की प्रतीति नही होती। यहॉ वस्तु का पूर्ण ज्ञान न होकर सामान्य ज्ञानमात्र ही होता है। इसे व्याकृत ज्ञान भी कहा जाता है। इस ज्ञान मे 'उस वस्तु का होना मात्र ही ज्ञात होता है न कि उसका गुण धर्म आदि। इस प्रकार निर्विकल्पक प्रत्यक्ष गुण धर्म से रहित वस्तु की स्थिति मात्र का आभास कराने वाला ज्ञान है। गुण धर्म से रहित होने के कारण इस ज्ञान के विषय मे कुछ नही कहा जा सकता है। निर्विकल्पक ज्ञान का उदाहरण विशेष रूप से बालक तथा गूॅगे आदि पुरूषो के ज्ञान को बताया गया है।

उल्लेखनीय है कि बौद्ध दर्शन तथा अद्वैत वेदान्त दर्शन केवल निर्विकल्पक को ही वास्तविक प्रत्यक्ष मानते हैं और उनके अनुसार निर्विकल्पक ही मुख्यत प्रमाण है। न्याय और वैशेषिक दर्शन मे निर्विकल्पक तथा सविकल्पक दोनो को प्रमाण माना गया है परन्तु उनमे भी प्राचीन और नव्य भेद से निर्विकल्पक के प्रामाण्याप्रामाण्य के विषय मे कुछ मतभेद है। प्राचीन परम्परा के अनुसार निर्विकल्पक को प्रमारूप माना जाता है, जैसा कि **"न्यायसूत्र"** (इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न ज्ञानव्यपदेश्यव्यभिचारि व्यवसायात्मक प्रत्यक्षम्) और **"न्यायकन्दली"** मे स्पष्ट किया गया है। परन्तु

नव्य न्याय मे आकर निर्विकल्पक ज्ञान के प्रमात्व के विषय मे दो प्रकार के मत हो गये है। **"न्यायसिद्धान्त मुक्तावली"** मे भ्रम भिन्न ज्ञान को प्रमा कहा गया है– **"भ्रमभिन्न ज्ञानमत्रोच्यते प्रमा"**। इससे निर्विकल्पक ज्ञान भी भ्रमभिन्न होने के कारण प्रमा की श्रेणी मे आ जाता है। अर्थात् **विश्वनाथ** को निर्विकल्पक ज्ञान का प्रमात्व अभीष्ट है।

परन्तु **नव्य न्याय** के सस्थापक **गगेशोपाध्याय** के अनुसार निर्विकल्पक ज्ञान को न तो प्रमा कहा जा सकता है और न अप्रमा क्योंकि उनके यहॉ प्रमात्व और अप्रमात्व दोना विशिष्ट वैशिष्ट्यावगाही ज्ञान है और निर्विकल्पक ज्ञान प्रकारतादिशून्य है। इसलिये वह प्रमा और अप्रमा दोनो से विलक्षण है।

न्याय दर्शन मे **सविकल्पक प्रत्यक्ष** का लक्षण निरूपित करते हुए कहा गया है कि **"नामजात्यादियोजना सहित सविकल्पकम्।"** अर्थात जिसमे वस्तु के स्वरूप की प्रतीति के साथ उसके नाम जाति आदि का भी ज्ञान होता है उसको **सविकल्पक प्रत्यक्ष** कहते है अथवा **"सप्रकारक ज्ञान सविकल्पकम्"** अर्थात् जो ज्ञन सप्रकारक विशेष्य-विशेषण तथा सम्बन्ध ज्ञान के सहित हो उसे सविकल्पक प्रत्यक्ष कहते है। सविकल्पक प्रत्यक्ष मे विषय के प्रकार एव धर्मादि का ज्ञान होता है। अर्थात निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का ही विकसित रूप सविकल्पक प्रत्यक्ष है। इस प्रकार के प्रत्यक्ष मे वस्तु का आभास ही नही बल्कि उसका पूर्ण अर्थ ज्ञात हो जाता है। उदाहरणार्थ हम कोई आवाज सुने और यह भी समझे कि यह मेरे तोते की आवाज है तो यह सविकल्पक प्रत्यक्ष होगा।

बौद्ध केवल निर्विकल्पक को ही प्रत्यक्ष ज्ञान मानते है। इस सन्दर्भ मे बौद्ध दर्शन मे तीन मान्यताएँ है – 1 बसुबन्धु की 2 दिडनाग की और 3 धर्मकीर्ति की। **बसुबन्धु "अर्थजन्यनिर्विकल्पक ज्ञान"** को प्रत्यक्ष मानते है। **दिडनाग ने** "कल्पनापोढ नामजात्यादि से असयुक्त ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है, जबकि **धर्मकीर्ति** ने निर्विकल्पक तथा अभ्रान्त ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है– 'कल्पनापोढमऽभ्रान्त प्रत्यक्षम्।"[102]

बौद्ध दार्शनिक सविकल्पक ज्ञान को प्रत्यक्ष नहीं मानते है। सविकल्पक ज्ञान को प्रत्यक्ष न मानने के पीछे वे यह कारण बताते है कि हम लोग जाति को नही मानते है। निर्विकल्पक ज्ञान 'स्वलक्षण विषयक अर्थात वस्तुमात्र विषयक होने से वस्तुमात्र से जन्य है अत अर्थज है। इसलिए अर्थज होने से उसको प्रमाण माना जा सकता है परन्तु सविकल्पक ज्ञान तो नामजात्यादि योजना सहित होता है उसमे जाति का भान होता है। इसलिए 'जाति" को भी उसका कारण मानना होगा। परन्तु बौद्धमत मे जाति कोई भावभूत पदार्थ नही है। इसलिए उससे उत्पन्न होने वाला सविकल्पक ज्ञान अर्थज नही है और अर्थज न होने से उसे प्रत्यक्ष ज्ञान नही कहा जा सकता है।[103]

यहॉ **नैयायिक** यह प्रश्न उठाते है कि जब बौद्ध जाति " या "सामान्य" को नही मानते है, तब 'जाति' का काम कैसे निकालते हैं?

इस प्रश्न के उत्तर मे **बौद्ध दार्शनिको** का कहना है कि हम लोग **"अपोह"** की कल्पना करते है। अपोह शब्द का अर्थ अतद्व्यावृत्ति अर्थात तदभिन्न भिन्नत्व है। तत् शब्द से घट आदि का ग्रहण करना चाहिए। अतद् माने अघट अर्थात घट भिन्न सम्पूर्ण जगत उससे भिन्न फिर घट ही होगा। इसलिए प्रत्येक घट अतद्व्यावृत्त या तद्भिन्न से भिन्न है इसी कारण घट कहलाता है। इस प्रकार प्रत्येक घट मे अतद्व्यावृत्ति" या तदभिन्नभिन्नत्व" (जिसे अपोह भी कहते है) हान के कारण ही एकाकारणता की प्रतीति होती है। अतएव सामान्य (जाति) का कार्य अपोह से निकल आता है। इसलिए जाति को एक अलग पदार्थ मानने की आवश्यकता नही है।

परन्तु **नैयायिक** उपर्युक्त मत का खण्डन करते है। वे कहते है कि बौद्ध घटादि मे अनुगत प्रतीति का हेतु जो अपोह बताते है वह ठीक नहीं है क्योकि यह बडा वक्रमार्ग है। साधारणत दशघट व्यक्तियो को देखने पर देखने वाले के मन मे उनकी समानता की ही प्रतीत होती है अतद्व्यावृत्ति या अघट भिन्नत्व की प्रतीति नही होती। दूसरी बात यह है कि सर्व आदि कुछ ऐसे शब्द भी है जिनका अर्थ अपोह द्वारा व्यक्त नही हो सकता। अतएव इस एकाकार प्रतीति का कारणभावभूत सामान्य को मानना चाहिए अपोह को नही **मीमासको** ने भी नैयायिको के इस मत का समर्थन किया है। इस प्रकार नैयायिक यह सिद्ध करते है कि निर्विकल्पक ज्ञानोपरान्त सविकल्पक ज्ञान होता है जिसमे पदार्थ की जाति आदि का ज्ञान होता है।

न्याय दर्शन मे **प्रत्यभिज्ञा** को भी प्रत्यक्ष का एक प्रमुख प्रकार माना गया है। प्रत्याभिज्ञा प्रत्यक्ष मे स्मृति एव इन्द्रिय दोनो के सहयोग से ज्ञान मिलता है। प्रत्यभिज्ञा का लक्षण है– **"तत्तेदन्तावगाहिनी प्रतीति प्रत्यभिज्ञा।"** अर्थात् तत्ता" और 'इदन्ता" दोनो का अवगाहन कराने वाली प्रतीति "प्रत्यभिज्ञा" है। तत्ता का अर्थ तद्देश' और तत्काल सम्बन्ध' का अर्थ एतद्देश' और एतत्काल सम्बन्ध' है। इस प्रकार जिसमे पूर्वदेश, पूर्वकाल और वर्तमान देश, वर्तमान काल दोनो की प्रतीति हो उस प्रतीति को प्रत्यभिज्ञा कहते है। दूसरे शब्दो मे, पूर्वानुभूति के आधार पर किसी व्यक्ति या वसतु को पहचान लेना ही प्रत्यभिज्ञा है। जैसे **"सोऽय देवदत्त "** यह प्रत्यभिज्ञा का उदाहरण है। यहाँ "स " पद देवदत्त की पूर्वदृष्ट देश कालादि विशिष्ट अवस्था को और 'अय" पद देवदत्त की वर्तमान देशकालादि विशिष्ट अवस्था को प्रकाशित करता है। इसमे पूर्वकाल पूर्व देश का द्योतक "स " अश स्मरणात्मक है और उसकी उपपत्ति पूर्वदर्शनजन्य सस्कार के उद्बोधन से होती है। इसके विपरीत 'अय" पद से बोधित एतद्देश, एतत्कालरूप प्रत्यक्षात्मक है और उसकी उत्पत्ति इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से होती है। इस प्रकार प्रत्याभिज्ञा की उत्पत्ति मे सस्कार और इन्द्रिय सन्निकर्ष दोनो ही कारण है। इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा स्मृति और अनुभव का उभयात्मक ज्ञान है।

न्याय दर्शन मे लौकिक प्रत्यक्ष के साथ ही **आलौकिक प्रत्यक्ष** की भी कल्पना की गयी है। अलौकिक प्रत्यक्ष मे इन्द्रियो के बिना ही साक्षात् ज्ञान होता है। जब किसी इन्द्रिय का सम्पर्क किसी वस्तु के साथ असाधारण ढग से होता है, तो उससे प्राप्त ज्ञान अलौकिक प्रत्यक्ष होता है।

उदाहरणार्थ बिना स्पर्श किये ऑख से देखकर ही वर्फ का ठण्डापन तथा घास की कोमलता का ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार के ज्ञान को अलौकिक प्रत्यक्ष कहते है। अलौकिक प्रत्यक्ष के तीन प्रकार माने गये है– क– सामान्य लक्षणाजन्य प्रत्यक्ष ख– ज्ञान लक्षणाजन्य प्रत्यक्ष और ग– योगज प्रत्यक्ष।

सामान्य धर्म के द्वारा जो प्रत्यक्ष ज्ञान होता है वह **सामान्य लक्षणाजन्य प्रत्यक्ष** कहलाता है। जब हम एक वस्तु का ज्ञान प्राप्त कर लेते है तो उसमे रहने वाले सामान्य धर्म के द्वारा उस प्रकार (सजातीय) की समस्त वस्तुओ का **सयुक्त-समवायसम्बन्ध** से सामान्य ज्ञान हो जाता है। जैसे महानस मे धूम और वह्नि को देखकर सयुक्त-समवाय-सम्बन्ध द्वारा वहॉ पर धूमत्व सामान्य से समस्त धूमो का और वह्निनत्व सामान्य से समस्त वह्नियो का प्रत्यक्ष हो जाता है तभी धूम सामान्य और वह्निनत्व का प्रत्यक्ष हो जाता है तभी धूम सामान्य और वह्नि सामान्य की व्याप्ति का ग्रहण होता है। **रघुनाथ शिरोमणि** आदि नैयायिक सामान्य लक्षणाजन्य प्रत्यक्ष को नही मानते है। किन्तु जो लोग सामान्य लक्षणा प्रत्यासत्ति (सन्निकर्ष) मानते है उनके अनुसार सामान्य लक्षणा प्रत्यासत्ति मानने पर सामान्य लक्षण जन्य प्रत्यक्ष को मानना आवश्यक है।

दूसरा अलौकिक प्रत्यक्ष ज्ञान **लक्षणाजन्य प्रत्यक्ष** है। इसमे किसी एक इन्द्रिय को किसी दूसरी इन्द्रिय के विषय का ज्ञान अतीत के स्मरण के आधार पर होता है। जैसे **सुरभिचन्दनखण्डम् ।** यहॉ चन्दन मे व्याप्त सुगन्ध का ज्ञान घ्राणेन्द्रिय द्वारा होना चाहिए परन्तु नेत्र से देखकर हम कह उठते है कि चन्दन सुगन्धित है। यहॉ नेत्रेन्द्रिय घ्राणेन्द्रिय का कार्य करती है। पूर्वानुभूति के आधार पर ही हमे इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त होता है। अतीत ज्ञान पर आधारित होने के कारण इसे ज्ञानलक्षणा कहते हैं। साधारणत एक इन्द्रिय दूसरी इन्द्रिय के विषय का अनुभव नही करती जबकि इसमे ऐसा ही होता है। इस कारण इसे अलौकिक कहते है।

सामान्य लक्षणाजन्य प्रत्यक्ष और ज्ञानलक्षणाजन्य प्रत्यक्ष मे प्रमुख अतर यह है कि सामान्य लक्षणाजन्य प्रत्यक्ष मे धूमत्व और वह्निनत्व रूप सामान्य के आश्रयभूत जो धूम और बह्नि है उनके साथ इन्द्रिय का सामान्य द्वारा अलौकिक सन्निकर्ष होता है और सामान्य के द्वारा ही व्यवहित विप्रकृष्ट अतीत और अनागत धूम और वह्निरूप आश्रय के साथ भी सन्निकर्ष होता है जबकि ज्ञानलक्षणाजन्य प्रत्यक्ष मे आश्रय के साथ नही अपितु जिसका ज्ञान होता है, उसी के साथ सन्निकर्ष होता है। सुरभिचन्दनखण्डम इस प्रतीति मे चक्षुरिन्द्रिय का चन्दन-खण्ड के साथ नही अपितु साक्षात् सौरभ के साथ ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्ति से सन्निकर्ष होता है। उक्त च–

'आसत्तिराश्रयाणान्तु सामान्यज्ञानमिष्यते।
विषयीयस्य तस्यैव व्यापारो ज्ञानलक्षणा [104]

साधारण या असाधारण प्रत्यक्ष के बिना सिद्धि के प्रभाव से योगियो को प्रत्यक्षरूप मे जो ज्ञान होता है उसे **योगज प्रत्यक्ष** कहते हैं। योगाभ्यास द्वारा अलौकिक शक्ति प्राप्त कर लेने वाले ही यह अनुभव कर सकते है। इस शक्ति से उन्हे भूत, भविष्य, सूक्ष्म, गूढ़ निकटस्थ, दूरस्थ

एव बाधित वस्तुओ का सभी प्रकार का ज्ञान हो जाता है। इनके सम्मुख समय या दूरी का कोई व्यवधान नही रहता है। युक्त और युञ्जान के भेद से योगी दो प्रकार के होते है। युक्त योगी को सर्वदा ज्ञान रहता है और युञ्जान योगी को चिन्ता करने से अर्थ का ज्ञान होता है–**"युक्तस्य सर्वदाभान चिन्ता सहकृतो पर।"**[105]

वैशेषिक दर्शन मे न्याय दर्शन के समान प्रत्यक्ष के निर्विकल्पक एव सविकल्पक नामक दो भेद माने गये है तथा इनकी व्याख्या भी न्याय के समान ही की गयी है। न्याय की तरह वैशेषिक भी मानते है कि प्रत्यक्ष के निर्विकल्पक एव सविकल्पक ये दोनो ही भेद प्रामाणिक है।

साख्य-योग दर्शन मे प्रत्यक्ष के भेद के बारे मे बौद्ध अवधारण का खण्डन किया गया है। बौद्धो के विरूद्व साख्याचार्य **अनिरूद्ध** का कहना है कि प्रत्यक्ष मे पदार्थ का सीधा व तात्कालिक ग्रहण होता है। यह ग्रहण या तो निर्विकल्पक हो सकता है या सविकल्पक। निर्विकल्पक मे पदार्थ के नाम जाति आदि का ग्रहण नही होता और सविकल्पक ज्ञान मे अतीत स्मृति द्वारा पदार्थ के नाम गुण आदि का स्मरण होने पर पदार्थ का निर्णय होता है।[106]

वाचस्पति मिश्र का मत है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष मे विशेष्य-विशेषण आदि अन्य प्रकारो के सम्बन्ध से रहित शुद्व वस्तु का ज्ञान होता है और सविकल्पक मे पदार्थ के सामान्य व विशिष्ट गुणो के साथ पदार्थ का निर्णयात्मक ज्ञान होता है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष बाह्य इन्द्रियो का कार्य है जबकि सविकल्पक प्रत्यक्ष मनस् का कार्य है, क्योकि मनस का कार्य ही सकल्पविकल्पात्मक है।[107] **विज्ञान भिक्षु** का मत वाचस्पति मिश्र से भिन्न है। इनके अनुसार यद्यपि निर्विकल्पक एव सविकल्पक दोनो प्रामाणिक है पर सविकल्पक भी निर्विकल्पक की तरह इन्द्रियजन्य है मनोजन्य नही। स्वमत की पुष्टि मे उन्होने कहा कि **"योगभाष्य"** मे भी **व्यासदेव** ने सविकल्पक ज्ञान की इन्द्रियजन्यता स्थापित की है।

नैयायिको की ही भॉति **मीमासको** ने भी प्रत्यक्ष के दो भेद माने है–1 निर्विकल्पक और 2 सविकल्पक। मीमासा दर्शन के दोनो सम्प्रदायो मे इनकी व्याख्या की गई है।

कुमारिल भट्ट ने **निर्विकल्पक प्रत्यक्ष** को शुद्ध वस्तुविषयक बताया है। शुद्व वस्तु से उत्पन्न प्राथमिक आलोचनात्मक ज्ञान को निर्विकल्पक कहते हैं, जो बालक अथवा मूक व्यक्ति के ज्ञान के सदृश्य होता है।[108] इस ज्ञान मे उस समय सामान्य तथा विशेष' इन दोनो मे से कोई भी निर्विकल्पक ज्ञान मे भासित नही होता है, प्रत्युत इन दोनो के आधारभूत व्यक्ति का ही ज्ञान होता है। दूसरे शब्दो मे, निर्विकल्पक प्रत्यक्ष मे सभी तत्वो का ज्ञान अभेदात्मक रूप से होता है। इस प्रकार भाट्ट मीमासको के अनुसार प्रथम इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष के अनन्तर ही सामान्य विशेष के विभाग से रहित सम्मुग्धवस्तुमात्रगोचर ज्ञान ही निर्विकल्पक प्रत्यक्ष है।

भाट्ट मीमासक नैयायिको की ही भॉति **सविकल्पक प्रत्यक्ष** को प्रत्यक्ष का दूसरा भेद मानते है। सविकल्पक प्रत्यक्ष मे वस्तु या प्राणी के नाम जाति गुण आदि का ज्ञान रहता है। कुमारिल के अनुसार सविकल्पक प्रत्यक्ष मे वस्तु के ज्ञान के साथ ही असमान पदार्थों से उसके

प्रत्यक्ष प्रभाकर नही मानते। अत इस पक्ष मे कोई मतवैभिन्य नही है।[111] पूर्वनिर्दिष्ट द्रव्यकल्पना" पद के द्वारा अवयवी की सत्ता को ग्रहण किया जाता है। अवयवो से भिन्न अवयवी की सत्ता सर्वसम्मत है। अत घट पट, दण्डी एव विषाणी इत्यादि रूपो मे द्रव्य तथा अवयवी का जो ज्ञान होता है, वह इन्द्रिय व्यापार से सम्बन्धित होने के कारण प्रत्यक्षता से वचित नहीं किया जा सकता।[112] नाम कल्पना का सम्बन्ध जिस वस्तु के साथ होता है उसका भी प्रत्यक्ष सर्वसम्मत है। सज्ञा के सम्बन्ध से उसकी प्रत्यक्षता समाप्त नही होती। दूसरी बात यह भी है कि जाति तथा गुण पदार्थ वस्तुतत्व के निरूपक माने जाते है। उनके बिना किसी वस्तु का प्रत्यक्ष नही हो सकता। अत सविकल्पक ज्ञान का 'कल्पनापोढ" पद के द्वारा निरास सभव नही है। अभ्रान्त" पद भी निरर्थक है क्योकि भ्रमात्मक ज्ञान होता ही नही है।[113]

प्राभाकर मीमासक बौद्धो के योगज ज्ञान को प्रामाणिक नही मानते। वे बौद्धो के इस मत की आलोचना करते है कि योगियो का ज्ञान प्रत्यक्ष है। बौद्धो का कहना है कि योगियो को अपनी प्रतिभा के द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष है। प्राभाकर इसका खण्डन करते हुए कहते है कि यह कथन प्राय सभी दर्शनो के विरूद्ध है क्योकि इन्द्रियादि के द्वारा जो प्रत्यक्ष ज्ञान होता है वह किसी की प्रतिभा अथवा निरन्तर चितन से नही हो सकता क्योकि प्रत्यक्ष एक प्रमाण है और योगियो का चिन्तनजन्य ज्ञान प्रमाणाभास अथवा स्मरणमात्र है। काकतालीन्याय से किसी एक प्रातिभ ज्ञान का सवाद सुलभ हो जाने पर भी तथाविध सवाद अन्यत्र सुलभ न होने के कारण प्रातिभज्ञानो को नियमत प्रमाण नही माना जा सकता है।

इस प्रकार निष्कर्ष के रूप मे यह कहा जा सकता है कि कुमारिल व प्रभाकर ने प्रत्यक्ष के दोनो प्रकारो (निर्विकल्पक एव सविकल्पक) को प्रामाणिक माना है। दोनो इन्द्रिय-विषय के सन्निकर्ष से उत्पन्न होते हैं, अत दोनो यथार्थ हैं।

अद्वैत वेदान्ती धर्मराजाध्वरीन्द्र ने प्रत्यक्ष के विषयत्व पक्ष को लेकर प्रत्यक्ष के दो भेद किये हैं– **निर्विकल्पक एव सविकल्पक प्रत्यक्ष।** विकल्प का अर्थ है विविध कल्प अनेक प्रकार। प्रकार विशेषण या अनुवृत्ति है तथा उससे पृथक वस्तु विशेष्य है। इन दोनो का अवगाहन कराने वाला ज्ञान सविकल्पक होता है और जो वैसा नही है अर्थात विविध कल्प से रहित है वह निर्विकल्पक हे।[114] गो इस आकार का गोत्वविशिष्ट गो का ज्ञान केवल गोत्व का गो मे ग्रहण रूप हो तो निर्विकल्पक होता है और अनुवृत्तिविशिष्ट गोत्व प्रकार का अवगाहक हो तो गो ऐसा ज्ञान सविकल्पक होता है। जहॉ ग्राहक इन्द्रिय सस्कारोद्बोध से सहकृत नही होता, वह निर्विकल्पक ज्ञान होता है तथा सस्कारोद्बोध से सहकृत इन्द्रिय से उत्पन्न होने वाला ज्ञान सविकल्पक होता है। **विकल्प** का अर्थ ससर्ग या वैशिष्ट्य भी होता है। जिस ज्ञान का विषय वैशिष्ट्य होता है वह सविकल्पक ज्ञान है। जैसे 'मै घट को जानता हूँ" इस आकार के ज्ञान का विषय है– घट रूप विशेषण से विशिष्ट घटज्ञान। विशेषण-विशेष्य सम्बन्ध ही वैशिष्टय या ससर्ग है। उक्त ज्ञान मे वही विषय है। ससर्ग या वैशिष्ट्य का अवगाहक (ज्ञापक) होना ही ज्ञान का विकल्प से युक्त

होना है। ससर्ग को विषय न करना अर्थात् ससर्ग या विशेषण विशेष्य सम्बन्ध का ज्ञापक न होना ज्ञान का निर्विकल्पक होना है। ऐसे निर्विकल्पक ज्ञान का उदाहरण है **"सोऽय देवदत्त "** (लौकिक) और **"तत्त्वमसि"** (वैदिक) इत्यादि वाक्य से उत्पन्न ज्ञान– **"सविकल्पक वैशिष्ट्यावगाहि ज्ञान। यथा घटमह जानामीत्यादि ज्ञानम्। निर्विकल्पक तु ससर्गानवगाहि ज्ञानम्। यथा– सोऽय देवदत्त तत्त्वमसीत्यादि-वाक्यजन्य ज्ञानम्।"**[115]

अद्वैत वेदान्त के अनुसार **"सोऽय देवदत्त "** वाक्य मे स" का अर्थ है तत्काल विशिष्ट स्थान विशिष्ट देवदत्त एव **"अय"** का अर्थ है वर्तमान काल विशिष्ट एव वर्तमान देश विशिष्ट देवदत्त। यदि इस प्रक्रिया के अनुसार सोऽय देवदत्त"– इस स्थल पर अतीत काल एव अतीत देश विशिष्ट देवदत्त वर्तमान काल विशिष्ट एव वर्तमान देश विशिष्ट देवदत्त से अभिन्न है यदि ऐसा बोध होता है तो इस ज्ञान को भी सविकल्पक माना जा सकता था, किन्तु यहॉ पर बिना विशेषण सम्बन्ध के ज्ञान होता है केवल देवदत्त मात्र की प्रतीति होती है और इस प्रतीति मे **भागत्याग लक्षणा** भी सहायता कर देती है। अत ऐसे स्थल पर शुद्ध देवदत्त मात्र की प्रतीति होती है किसी विशेषण विशिष्ट देवदत्त की प्रतीति नही होती है। अत यह ज्ञान निर्विकल्पक प्रत्यक्ष है।

इसी प्रकार **"तत्त्वमसि"** इस वैदिक उदाहरण मे भी केवल चैतन्य मात्र का बोध होता है।'तत्" शब्द का मुख्यार्थ है– परोक्षत्व सर्वज्ञत्व आदि उपाधियो से विशिष्ट चैतन्य अथवा ब्रह्म और "त्वम्" शब्द का मुख्य अर्थ है– अल्पज्ञत्व अपरोक्षत्व आदि उपाधियो से विशिष्ट चैतन्य अथवा जीव। ये दोनो विरूद्ध धर्मक होने के कारण एक नही हो सकते। इसलिए यहॉ पर भी भागत्यागादि लक्षणा से विशेषण अश– परोक्षत्व और अल्पज्ञत्व आदि को छोडकर केवल चैतन्य मात्र का बोध होता है। इसलिए यह ज्ञान भी निर्विकल्पक ही है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर निष्कर्षत यह कहा जा सकता है कि अद्वैत वेदान्त मे **निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को ससर्गावगाहि ज्ञान तथा सविकल्पक प्रत्यक्ष को वैशिष्ट्यावगाहि ज्ञान कहा गया है।**

अद्वैत वेदान्त का यह निर्विकल्पक प्रत्यक्ष न्याय व बौद्ध दर्शन के निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से भिन्न है। न्याय दर्शन का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष प्रत्यक्ष ज्ञान का अश माना जा सकता है। उसमे इमे घट घटत्वे' यह बोध होता है। सविकल्पक प्रत्यक्ष मे इसकी पूर्णता होती है। उस समय घट एव घटत्व का एक साथ ज्ञान होता है। इस प्रकार जहॉ न्याय और वैशेषिक दर्शन मे निर्विकल्पक तथा सविकल्पक दोनो को ही प्रमाण माना गया है वहॉ बौद्धो की भॉति अद्वैत वेदान्त दर्शन केवल निर्विकल्पक को ही प्रत्यक्ष मानता है। इन दोनो के अनुसार निर्विकल्पक ही मुख्यत प्रमाण है। लेकिन **बौद्धो** व **वेदान्तियो मे प्रमुख अतर यह है कि अद्वैत वेदान्त** के मतानुसार निर्विकल्पक प्रत्यक्ष **निर्विशेष सन्मात्र** अर्थात **"शुद्ध"** सत् का ग्रहण कराता है, जबकि

बौद्धो के निर्विकल्पक का विषय **"स्वलक्षण"** है। **किन्तु स्वलक्षण क्षणस्थायी है, अत निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का विषय नही माना जा सकता है।**

न्याय दर्शन के निर्विकल्पक प्रत्यक्ष मे घट घटत्व के ज्ञान के लिए इन्द्रिय सम्बन्ध की अपेक्षा हो सकती है किन्तु **अद्वैत वेदान्त** के अनुसार वास्तविक निर्विकल्पक प्रत्यक्ष मे या किसी भी प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए उसका ऐन्द्रियक होना जरूरी नही है बल्कि प्रमाण चैतन्य व प्रमेय चैतन्य मे तादात्म्य होना जरूरी है। इसलिए वेदान्त का ही प्रत्यक्ष उत्कृष्ट है। इसका शुद्ध चैतन्य ही निर्विकल्पक का विषय है। शुद्ध चैतन्य का ज्ञान किसी भी इन्द्रिय से नही होता वरन साक्षात होता हे। इसीलिए उसको **"यत् साक्षात् अपरोक्षात् ब्रह्म"** ऐसा कहा जाता है।

सोऽय देवदत्त एव 'तत्त्वमसि ऐसे वाक्यो मे निर्विकल्पक ज्ञान के प्रति यह आक्षेप लगाया जाता है कि इस ज्ञान को निर्विकल्पक प्रत्यक्ष नहीं माना जा सकता, क्योकि यह ज्ञान वाक्य के द्वारा होता है और वाक्यजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष नहीं मानना चाहिए। दूसरी बात यह भी है कि वाक्यजन्य ज्ञान मे पदार्थो के परस्पर सम्बन्ध का भी ज्ञान अपेक्षित रहता है और पदार्थ ससर्ग के ज्ञान की अपेक्षा के कारण इसे निर्विकल्पक नही प्रत्युत सविकल्पक ज्ञान मानना चाहिए। यदि इसमे सम्बन्ध का ग्रहण न किया जाय तो यह अभिप्रेत अर्थ की अभिव्यक्ति कैसे करेगा?

अद्वैत वेदान्त मतानुसार उपर्युक्त आपत्ति निराधार है क्योकि वेदान्त वाक्यजन्य ज्ञान से भी प्रत्यक्ष मानता है। जैसे–**"दशम त्वम् असि"** यह भी शब्द जन्य ज्ञान है किन्तु यह ज्ञान भी अपरोक्ष ज्ञान है। दूसरे प्रश्न के उत्तर मे **धर्मराजाध्वरीन्द्र** का कहना है कि वक्ता की प्रवृत्ति को देखकर भी वाक्य का अभिप्राय ग्रहण हो जाता है। **आचार्य शकर** के मतानुसार ऐसे वाक्यो को **अखण्डार्थ वाक्य** कहा जाता है इसलिए इस प्रकार के वाक्यो का ज्ञान निर्विकल्पक कहा जाता है। वेदान्त परिभाषा मे स्पष्टत कहा गया है कि वाक्यजन्य ज्ञान मे पदार्थों के परस्पर सबध का ज्ञान अपेक्षित नही है और न वह कारण ही है अपितु वाक्यजन्य ज्ञान मे तात्पर्य को ही मुख्य कारण मानना चाहिए– **"वाक्यजन्य ज्ञानविषयत्वे हि न पदार्थससर्गत्व तन्त्राम् अनभिमतससर्गस्यापि वाक्यजन्य ज्ञानविषयत्वापत्ते किन्तु तात्पर्य विषयत्वम्।"**[116] ससर्ग का विषय होने से सविकल्पक एव ससर्ग का अविषय होने से निर्विकल्पक– ये दो प्रत्यक्ष ज्ञान के भेद किये गये है। ये दोनो चेतन रूप होने से एक ही है।

अद्वैत वेदान्त मे सविकल्पक और निर्विकल्पक भेद से प्रत्यक्ष ज्ञान के दो भेद बताये गये है तथा यह भी बताया गया है कि ये दोनो प्रकार के ज्ञान चैतन्य रूप होने से एक ही है। चैतन्य रूप से उस एक ही ज्ञान के पुन **जीवसाक्षी** एव **ईश्वरसाक्षी**– ये दो भेद किये गये हैं – **"तच्च प्रत्यक्ष पुनर्द्विविध–जीवसाक्षि ईश्वरसाक्षि चेति।"**[117] यह भेद चैतन्य की उपाधि-भेद से किया गया है। **शिखामणिटीकाकार** ने **जीव–साक्षिजन्य** और **ईश्वर–साक्षि जन्य**– ये दोनो भेद किये

बौद्धो के निर्विकल्पक का विषय **"स्वलक्षण"** है। **किन्तु स्वलक्षण क्षणस्थायी है अत निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का विषय नही माना जा सकता है।**

न्याय दर्शन के निर्विकल्पक प्रत्यक्ष मे घट घटत्व के ज्ञान के लिए इन्द्रिय सम्बन्ध की अपेक्षा हो सकती है किन्तु **अद्वैत वेदान्त** के अनुसार वास्तविक निर्विकल्पक प्रत्यक्ष मे या किसी भी प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए उसका ऐन्द्रियक होना जरूरी नही है बल्कि प्रमाण चैतन्य व प्रमेय चैतन्य मे तादात्म्य होना जरूरी है। इसलिए वेदान्त का ही प्रत्यक्ष उत्कृष्ट है। इसका शुद्ध चैतन्य ही निर्विकल्पक का विषय है। शुद्ध चैतन्य का ज्ञान किसी भी इन्द्रिय से नही होता वरन साक्षात होता है। इसीलिए उसको **"यत् साक्षात् अपरोक्षात् ब्रह्म"** ऐसा कहा जाता है।

'सोऽय देवदत्त" एव तत्त्वमसि" ऐसे वाक्यो मे निर्विकल्पक ज्ञान के प्रति यह आक्षेप लगाया जाता है कि इस ज्ञान को निर्विकल्पक प्रत्यक्ष नही माना जा सकता क्योकि यह ज्ञान वाक्य के द्वारा होता है और वाक्यजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष नहीं मानना चाहिए। दूसरी बात यह भी है कि वाक्यजन्य ज्ञान मे पदार्थो के परस्पर सम्बन्ध का भी ज्ञान अपेक्षित रहता है और पदार्थ ससर्ग के ज्ञान की अपेक्षा के कारण इसे निर्विकल्पक नहीं, प्रत्युत सविकल्पक ज्ञान मानना चाहिए। यदि इसमे सम्बन्ध का ग्रहण न किया जाय तो यह अभिप्रेत अर्थ की अभिव्यक्ति कैसे करेगा?

अद्वैत वेदान्त मतानुसार उपर्युक्त आपत्ति निराधार है, क्योकि वेदान्त वाक्यजन्य ज्ञान से भी प्रत्यक्ष मानता है। जैसे–**"दशम त्वम् असि"** यह भी शब्द जन्य ज्ञान है, किन्तु यह ज्ञान भी अपरोक्ष ज्ञान है। दूसरे प्रश्न के उत्तर मे **धर्मराजाध्वरीन्द्र** का कहना है कि वक्ता की प्रवृत्ति को देखकर भी वाक्य का अभिप्राय ग्रहण हो जाता है। **आचार्य शकर** के मतानुसार ऐसे वाक्यो को **'अखण्डार्थ वाक्य** कहा जाता है इसलिए इस प्रकार के वाक्यो का ज्ञान निर्विकल्पक कहा जाता है। वेदान्त परिभाषा मे स्पष्टत कहा गया है कि वाक्यजन्य ज्ञान मे पदार्थों के परस्पर सबध का ज्ञान अपेक्षित नही है और न वह कारण ही है, अपितु वाक्यजन्य ज्ञान मे तात्पर्य को ही मुख्य कारण मानना चाहिए– **"वाक्यजन्य ज्ञानविषयत्वे हि न पदार्थससर्गत्व तन्त्राम् अनभिमतससर्गस्यापि वाक्यजन्य ज्ञानविषयत्वापत्ते, किन्तु तात्पर्य विषयत्वम्।"**[116] ससर्ग का विषय होने से सविकल्पक एव ससर्ग का अविषय होने से निर्विकल्पक– ये दो प्रत्यक्ष ज्ञान के भेद किये गये है। ये दोनो चेतन रूप होने से एक ही है।

अद्वैत वेदान्त मे सविकल्पक और निर्विकल्पक भेद से प्रत्यक्ष ज्ञान के दो भेद बताये गये है तथा यह भी बताया गया है कि ये दोनो प्रकार के ज्ञान चैतन्य रूप होने से एक ही है। चैतन्य रूप से उस एक ही ज्ञान के पुन **जीवसाक्षी** एव **ईश्वरसाक्षी**– ये दो भेद किये गये है – **"तच्च प्रत्यक्ष पुनर्द्विविध–जीवसाक्षि ईश्वरसाक्षि चेति।"**[117] यह भेद चैतन्य की उपाधि-भेद से किया गया है। **शिखामणिटीकाकार** ने **जीव-साक्षिजन्य** और **ईश्वर-साक्षि जन्य**– ये दोनो भेद किये

है। इनके अनुसार साक्षी पद का अर्थ साक्षिजन्य है। किन्तु **अर्थदीपिकाकार** का कथन है कि चैतन्य मे जन्य विशेषण लगाना सगत नही है क्योकि चैतन्य अजन्य होता है और जन्य वस्तु अनित्य होती है। चैतन्य नित्य है, अत जन्य नही हो सकता। इसलिए जीवसाक्षि, ईश्वरसाक्षि– यही कहना सगत होगा।

इस सम्बन्ध मे **धर्मराजाध्वरीन्द्र** का कहना है कि चैतन्य रूप ज्ञान स्वरूपत अजन्य है किन्तु वृत्तिरूपज्ञान या वृत्तिविशिष्टज्ञान उत्पन्न होता है। अत निरूपाधिक चैतन्य के उत्पन्न न होने पर भी अद्वैत वेदान्त मे वृत्ति से विशिष्ट चैतन्य उत्पन्न होता है यह माना जाता है। इसलिए **शिखामणिकार** का जीवसाक्षिजन्य एव ईश्वर साक्षिजन्य भेद करना असगत नही है। वहॉ पर 'जन्य" पद जोडना आवश्यक है।

अद्वैत वेदान्त मे जीव और जीवसाक्षी तथा ईश्वर एव ईश्वरसाक्षी मे भेद प्रदर्शित करने के लिए दो वस्तुऍ मानी गयी है– एक **विशेषण** एव दूसरी **उपाधि।** विशेषण वह है जो वस्तु के साथ रहता है और अन्य वस्तुओ से उसका भेद प्रदर्शित करता है। जैसे–'रूप विशिष्ट घट अनित्य है"– इस वाक्य मे रूप घट के साथ रहेगा और उस घट को अन्य घट आदि द्रव्यो से व्यावृत्त (अलग) करता रहेगा। उपाधि की यह विशेषता होती है कि वह वस्तु के साथ नहीं रहती किन्तु वस्तु को अन्य वस्तुओ से अलग कर देती है। जैसे– कर्णशष्कुलि से अवच्छिन्न (युक्त) आकाश श्रोत है। आकाश निरवयव है और कर्ण (कान) सावयव। इन दोनो का सम्बन्ध नही हो सकता, फिर भी कर्ण उपाधि आकाश को महाकाश से व्यावृत्त करती है। इसलिए कर्णशष्कुलि उपाधि है और रूप विशेषण है। इसी प्रकार जीव एव जीवसाक्षी तथा ईश्वर एव ईश्वरसाक्षी को भी समझा जा सकता है। इन दोनो मे परस्पर भेद करने के लिए अन्तकरण को कारण माना जाता है। **जब अन्तकरण विशेषण से विशिष्ट चैतन्य होता है तब उसे जीव कहते है और अन्तकरण उपाधि से युक्त चैतन्य को जीवसाक्षी कहते है।** प्रत्येक जीवात्मा का साक्षी भिन्न है, क्योकि उसे एक मानने पर मैत्र को ज्ञात हुए विषय का अनुसन्धान (स्मरण) चैत्रादि अन्य व्यक्तियो को भी होने लगेगा– **"अय च जीवसाक्षी प्रत्यात्म नाना। एकत्वे मैत्रावगते चैत्रस्याप्यनुसन्धान प्रसग।"**[118]

जीव एव जीवसाक्षी के समान ही **ईश्वर** एवं **ईश्वरसाक्षी** मे भी **भेद** है। माया से विशिष्ट चैतन्य ईश्वर है एव मायोपहित चैतन्य ईश्वरसाक्षी है– **"ईश्वरसाक्षि तु मायोपहित चैतन्यम्।"**[119] जीवसाक्षी का भेदक अन्तकरण उपाधि एव ईश्वरसाक्षी का भेदक माया उपाधि है। यह माया से उपहित चैतन्य एक ही है– **"तच्चैकम्"**[120] अनेक नही, क्योकि माया उपाधि भी एक ही है। जीवसाक्षी की अन्तकरण उपाधियॉ पृथक–पृथक् एव अनेक हैं अत जीवसाक्षी भी अनेक है। माया अनादि है, इसलिए ईश्वरसाक्षी भी अनादि होगा। अन्तकरण की वृत्ति भी सादि है, किन्तु यह उपाधिरूप से ही सादि है, वस्तुत नही। अत ईश्वरसाक्षी की भॉति जीव साक्षी भी अनादि है। इस प्रकार अन्तकरण की उपाधि से युक्त चैतन्य से जन्य ज्ञान जीवसाक्षी प्रत्यक्ष तथा माया की

उपाधि से विशिष्ट चैतन्य से उत्पन्न ज्ञान ईश्वरसाक्षी प्रत्यक्ष है। चेतन रूप होने से प्रत्यक्ष ज्ञान के ये दोनो प्रकार भी मूलत एक ही है।

प्रत्यक्ष के अद्वैत वेदात मे दो अन्य भेद भी माने गये है – 1 **इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष** और 2 **इन्द्रियाजन्य प्रत्यक्ष।** अद्वैत वेदान्त मे मन के इन्द्रियत्व का तथा कर्मन्द्रियो मे ज्ञान जनकत्व का निराकरण करके केवल घ्राण, रासन चक्षु श्रोत एव त्वक इन पॉच इन्द्रियो को ही माना गया है। इन पॉच इन्द्रियो से उत्पन्न हुआ प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रियजन्य है तथा पचज्ञानेन्द्रियो से उत्पन्न न हुआ प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रियाजन्य प्रत्यक्ष है। अद्वैत वेदान्त मे सुखादि प्रत्यक्ष को इन्द्रियाजन्य प्रत्यक्ष माना गया है, क्योकि इस सम्प्रदाय मे मन के इन्द्रियत्व का निराकरण किया गया है–**"तत्रेन्द्रियाजन्य सुखादि-प्रत्यक्षम्, मनस् इन्द्रियत्व-निराकरणात्।"**[121]

बौद्ध दार्शनिको का कहना है कि इन्द्रियॉ गोलक है। वे विषयो को प्राप्त हुए बिना ही विषयज्ञान कराती है। किन्तु इस मत का निराकरण करते हुए **धर्मराजाध्वरीन्द्र** कहते है कि सम्पूर्ण ज्ञानेन्द्रियॉ अपने-अपने विषयो से सयुक्त होकर ही स्व-स्व विषय का ज्ञान उत्पन्न करती हैं–**"सर्वाणि चेन्द्रियाणि स्व-स्व विषयसयुक्तान्येव प्रत्यक्षज्ञान जनयन्ति।"**[122] परन्तु इनमे से घ्राण रासन और त्वक– ये तीन इन्द्रियॉ नासिकाग्र, जिह्वाय और समस्त शरीरादि अपने-अपने स्थान मे स्थित रहती हुई ही गन्ध, रस और स्पर्श विषयो का क्रमश प्रत्यक्ष (अनुभव) उत्पन्न करती हैं, परन्तु चक्षु और श्रोत दो इन्द्रियॉ अपने गोलकादि स्थान से बाहर निकल कर विषय-प्रदेश मे पहुॅचती है और क्रमश रूप और शब्द को ग्रहण करती है। चक्षु के समान परिच्छिन्न होने वे श्रोत का भी भेरी, मृदगादि स्थानो मे गमन सभव है। इसी कारण भेरी' शब्द को मैने सुना, मृदगध्वनि को मैने सुना अनुभव होता है। **नैयायिक 'बीचीतरगन्याय** से कर्णशष्कुली के प्रदेश मे अनन्त शब्दो की उत्पत्ति मानते है। परन्तु इस प्रकार मानने मे **गौरव** है तथा मैंने भेरी का शब्द सुना इस प्रत्यक्ष ज्ञान मे भ्रम की कल्पना कराना भी **दूसरा गौरव** है। इस प्रकार न्यायमत दोषपूर्ण सिद्ध होता है।

इस अध्याय मे अब तक के सम्पूर्ण विवेचन को **समालोनात्मक ढग से निष्कर्ष के रूप मे** प्रस्तुत करते हुए कहा जा सकता है कि **केशव मिश्र** जैसे कुछ आचार्यो को छोडकर अधिकाश विद्वानो ने **प्रत्यक्ष** को **प्रमा** और **प्रमाण** दोनो का बोधक माना है। गौतम, वैशेषिक एव भाट्ट मीमासको सहित अनेक दार्शनिको ने इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष माना है जबकि नव्य नैयायिक प्रभाकर मीमासक, कुछ अद्वैत वेदान्ती तथा बौद्ध दार्शनिक साक्षात्प्रतीति को ही प्रत्यक्ष मानते है। इससे सिद्ध होता है कि विभिन्न भारतीय दर्शनो मे प्रत्यक्ष का भिन्न-भिन्न लक्षण निर्धारित किया गया है।

चार्वाक दार्शनिको ने प्रत्यक्ष का काई निश्चित लक्षण निर्धारित नहीं किया है फिर भी कहा जा सकता है कि चार्वाको के अनुसार इन्द्रिय और विषय के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष है। अन्य दर्शनो से भिन्न **जैन दर्शन** मे आत्म-सापेक्ष ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा गया है। इसके अनुसार

जिस ज्ञान को आत्मा स्वय जानता है और जिसके लिए आत्मा को इन्द्रिय या मनरूपी माध्यम की आवश्यकता नही होता वह प्रत्यक्ष है। इस प्रकार जैन दर्शन मे विशदता या स्पष्टता को प्रत्यक्ष का लक्षण माना गया है तथा प्रत्यक्ष को विशद ज्ञान के अर्थ मे आत्मा के अर्थ मे तथा परापेक्षारहित अर्थ मे परिभाषित किया गया है। लेकिन नव्य जैनाचार्यो ने प्रत्यक्ष मे इन्द्रियो की भूमिका को स्वीकार किया है। व्यवहारिक प्रत्यक्ष की अवधारणा इसका प्रमाण है।

बौद्ध दार्शनिको के अनुसार **"प्रत्यक्ष कल्पनापोढम् अभ्रान्तम्"** अर्थात कल्पना से अपोढ अर्थात नाम जाति आदि की योजना से रहित भ्रम भिन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते है। बौद्धो के अनुसार नामजात्यादि की योजना से रहित वस्तु का ज्ञान सविकल्पक प्रत्यक्ष की परिधि मे आ जाता है। इसलिए इसे प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। केवल निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ही प्रमाणिक हे सविकल्पक नहीं। विभिन्न बौद्ध आचार्यो ने प्रत्यक्ष को भिन्न-भिन्न रूप मे परिभाषित किया है।

बसुबन्धु के अनुसार **"तथोऽर्थाद् विज्ञान प्रत्यक्ष"** अर्थात जिस अर्थ का जो ज्ञान होता है, यदि उससे ही वह होता है, अन्य अर्थ से नहीं, तो वह प्रत्यक्ष है। किन्तु प्रत्यक्ष का यह लक्षण दोषपूर्ण है। **वाचस्पति मिश्र** का कहना है कि **"ग्राह्य अर्थ और ग्राहक ज्ञान एक साथ नही रहते है।"** **दिङ्नाग** और **श्चेरवात्स्की** ने बसुबन्ध के लक्षण को विज्ञानवाद की दृष्टि से असगत माना है। इसलिए प्रत्यक्ष का यह लक्षण अमान्य है। **दिङ्नाग** के अनुसार प्रत्यक्ष वह धारणा है जो कल्पना नाम जाति आदि से असयुक्त हो– **"प्रत्यक्ष कल्पनापोढमनामजात्याद्यसयुतम्।"** दिङनाग के अनुसार प्रत्यक्ष स्वसवेद्य है। अर्थात इसका स्वत ही अनुभव किया जाता है इसलिए यह कल्पनारहित (निर्विकल्पक) है। प्रत्यक्ष के इस लक्षण से प्रत्यक्ष का सविकल्पक प्रत्यक्ष जिसमे नामजात्यादि की योजना सम्मिलित होती है और अनुमानादि से व्यावृत्ति हो जाती है। लेकिन दिङनाग कृत प्रत्यक्ष का यह लक्षण भी पूर्णत निर्दोष नही है। **उद्योतकर** ने इस लक्षण की भ्रान्ति मे **अतिव्याप्ति** प्रदर्शित की। आगे चलकर **धर्मकीर्ति** ने दिङनाग के लक्षण मे **अभ्रान्त** पद का अधिक निवेश करके उसका परिव्यागकर दिया। उनके अनुसार **"प्रत्यक्ष कल्पनापोढमऽभ्रान्तम्"** अर्थात कल्पनारहित (निर्विकल्पक) तथा निर्भ्रान्त (सभी सशयो से रहित) ज्ञान प्रत्यक्ष है। यहॉ निर्विकल्पक से धर्मकीर्ति का आशय साक्षात् ज्ञान से है। जो वस्तु जैसी है यदि उसी रूप मे हमे ज्ञात हो सके तो ऐसे प्राप्त हुए ज्ञान को साक्षात्कारात्मक ज्ञान कहा जायेगा।

धर्मकीर्ति के अनुसार **"कल्पनापोढ"** शब्द के ग्रहण से सविकल्पक प्रत्यक्ष और अनुमान से तथा **"अभ्रान्त"** पद से भ्रम-विभ्रम आदि ज्ञान से प्रत्यक्ष की व्यावृत्ति हो जाती है। **"अभ्रान्त"** पद का ग्रहण न करने पर चलते हुए द्विचन्द्रादि का दर्शन भी प्रत्यक्ष की परिधि मे आ जायेगा क्योकि वह कल्पनारहित ज्ञान है। इसलिए धर्मकीर्ति के अनुसार लक्षण मे 'अभ्रान्त" शब्द का निवेश किया गया है। **धर्मोत्तर** भी धर्मकीर्ति के इस मत का समर्थन करते हैं। वस्तुत **दिङ्नाग** ने प्रत्यक्ष के लक्षण मे अभ्रान्त" पद का ग्रहण इसलिए नही किया, क्योकि वे प्रत्यक्ष की विज्ञानवादी

व्याख्या करना चाहते थे। उनके मतानुसार भ्रम और विभ्रम प्रत्यक्ष के विकल्पात्मक बौद्धिक क्षेत्र मे स्पष्ट होते है और विकल्पात्मक परिधि मे प्रत्यक्ष सविकल्पक होने से शुद्ध नही रह जाता। इसलिए प्रत्यक्ष के लक्षण मे कल्पनापोढता (जिसे स्वसवेद्यता से विज्ञानरूप सिद्ध किया गया है।) के अतिरिक्त अभ्रान्त पद का निवेश अनावश्यक एव असगत है। दिडनाग के विरूद्ध धर्मकीर्ति प्रत्यक्ष की परिभाषा मे कल्पनापोढम्" पद साथ ही अभ्रान्त" शब्द का समावेश इसलिए आवश्यक मानते हैं, क्योकि वे सत्य को सभी प्रकार की भ्रान्तियो से मुक्त रखना चाहते हैं। **किन्तु ऐसा करके धर्मकीर्ति यद्यपि नैयायिको के प्रकृत वस्तुवाद का विरोध कर देते है किन्तु इससे न तो शुद्ध वस्तुवाद का विरोध हो पाता है और न यह परिभाषा आत्मविरोध के दोष से ही मुक्त हो पाती है।**

वस्तुत प्रत्यक्ष लक्षण के बारे मे बौद्धो का यह सामान्य मत कि कल्पना से अपोढ अर्थात नाम जाति आदि की योजना से रहित भ्रम भिन्न ज्ञान प्रत्यक्ष है दोषपूर्ण है। **मीमासको** का यह कहना सत्य है कि इन्द्रिय ज्ञान के द्वारा जाति आदि की योजना सहित पदार्थ का जो सविकल्पक प्रत्यक्ष होता है उसका निराकरण नही किया जा सकता, क्योकि यह अनुभवसिद्ध है कि जाति गुण आदि की प्रतीति द्रव्य से पृथक नही हो सकती है। उनकी प्रतीति सदैव द्रव्य के साथ ही होती है। इसी तरह नामादि की योजना को भी असगत मानना ठीक नहीं है क्योकि अय देवदत्त यह ज्ञान प्रत्यक्षात्मक होता है। इसकी प्रतीति होती है। इन्द्रियो से होने वाले ज्ञान मे नाम योजना आवश्यक है। इसलिए नाम योजना के द्वारा उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है– इस मत को उचित नही मना जा सकता है।

न्याय दर्शन मे इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से जन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष माना गया है। **गौतम** के अनुसार इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न **'अव्यपदेश्य** (अशाब्दज) **अव्यभिचारी** (सशय विपर्ययादि से रहित) जो **व्यवसायात्मक** (निश्चित) ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष है। स्पष्टत यहॉ गौतम ने प्रत्यक्ष को यथार्थ अनुभव (प्रमा) रूप माना है। उन्होने प्रत्यक्ष प्रमा और उसके करण का स्पष्ट और अलग-अलग प्रतिपादन नही किया है। परन्तु परवर्ती नैयायिको ने प्रत्यक्ष की परिभाषा मे प्रत्यक्ष प्रमा और उसके करण का स्पष्ट उल्लेख किया है। उनके अनुसार इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से जन्य यथार्थ ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमा तथा उसके करण को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते है।

प्राचीन न्याय द्वारा प्रतिपदित प्रत्यक्ष लक्षण की उपर्युक्त परिभाषा को सामान्यत स्वीकार कर लिया गया है, किन्तु नव्य न्याय के प्रवर्तक **गगेश उपाध्याय, अद्वैत वेदान्ती** तथा **कुछ अन्य दार्शनिको** ने प्रत्यक्ष के उपर्युक्त लक्षण को दोषपूर्ण माना है। **गगेश** के अनुसार गौतम के प्रत्यक्ष-लक्षण मे मुख्यत तीन दोष देखे जा सकते है। **1 अतिव्याप्ति, 2 अव्याप्ति और 3 अन्योन्याश्रय दोष।**

उपर्युक्त दोषो के निवारणार्थ **गगेश** ने कहा कि प्रत्यक्ष का सामान्य लक्षण इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष नही, बल्कि साक्षात्प्रतीति है– **प्रत्यक्षस्य साक्षात्कारित्व लक्षण।"** इस साक्षात्कारित्व

की उत्पत्ति इन्द्रिय अर्थ मन और आत्मा आदि के सन्निकर्ष से होती है। **प्रत्यक्ष की यह परिभाषा प्राचीन न्याय की तुलना मे अधिक सन्तोषजनक है** क्योकि उसके माध्यम से लौकिक एव अलौकिक मानवीय तथा ईश्वरीय – सभी प्रकार के प्रत्यक्षो की व्याख्या हो जाती है। प्रत्यक्ष का अन्य ज्ञानो से भेद प्रदर्शित करने के लिए गगेश ने साक्षात्कारित्व के अतिरिक्त प्रत्यक्ष की एक दूसरी परिभाषा निश्चित की है। इसके अनुसार प्रत्यक्ष वह ज्ञान है जिसका कारण कोई अन्य ज्ञान नही है– **"ज्ञानाकारणक ज्ञान प्रत्यक्षम्।" विश्वनाथ** ने भी इस मत का समर्थन किया है।

परन्तु नव्य न्याय द्वारा निर्धारित प्रत्यक्ष का यह लक्षण भी निर्दोष नही है क्योकि सविकल्पक प्रत्यक्ष (ज्ञान) मे यह लक्षण **अव्याप्त** है। अत **ज्ञानाकारणक ज्ञान प्रत्यक्षम्"**– प्रत्यक्ष की यह परिभाषा भी दोषपूर्ण है। दूसरी बात यह है कि ज्ञानाकरणक ज्ञानत्वरूप प्रत्यक्ष का लक्षण केवल तभी माना जा सकता है जब मन को अतरिन्द्रिय के रूप मे स्वीकार कर लिया जाय अर्थात् यह मान लिया जाय कि प्रत्यक्ष मे हमे किसी ऐसे विषय की साक्षात्प्रतीति होती है जिसमे मन का सयोग रहता है। किन्तु जो दार्शनिक मन को अतरिन्द्रिय नहीं मानते जैसे कुछ अद्वैत वेदान्ती उनके लिए प्रत्यक्ष की यह परिभाषा सन्तोषजनक नहीं रह पाती। वे तो ऐसी साक्षात्प्रतीति को प्रत्यक्ष मानेगे जिसमे मन का सयोग नहीं रहता। **अत साक्षात्कारी ज्ञान के रूप मे प्रत्यक्ष का जो लक्षण नव्य न्याय द्वारा निर्धारित किया गया है वह भी निर्दोष नही है।** निष्कर्ष यह है कि सम्पूर्ण न्याय दर्शन द्वारा निर्धारित प्रत्यक्ष का लक्षण दोषपूर्ण फलत अमान्य है। **वैशेषिक दर्शन** द्वारा निर्धारित प्रत्यक्ष का लक्षण बहुत कुछ प्राचीन न्याय के समान है। अत उसके लक्षण मे प्राचीन न्याय की परिभाषा के सारे दोष आ जाते है।

साख्य दर्शन के प्रख्यात ग्रन्थ **"साख्य कारिका"** मे प्रत्यक्ष का लक्षण बताते हुए कहा गया है कि **प्रतिविषयाध्वसायोदृष्ट"** अर्थात् श्रोतादि इन्द्रियो के द्वारा बुद्धि के शब्दादि विषयो से सन्निकर्ष होने पर जिस बुद्धि व्यापार अथवा ज्ञान की उपलब्धि होती है वह प्रत्यक्ष' है। **योग दर्शन** मे प्रत्यक्ष प्रमाण के विषय मे साख्य से अलग कुछ नहीं कहा गया है। इस सम्बन्ध मे उसे साख्य पूरक कहा जा सकता है। किन्तु प्रत्यक्ष के बारे मे साख्य योग मत भी मान्य नही है क्योकि वे भी न्याय-वैशेषिक के समान प्रत्यक्ष की उपलब्धि मे इन्द्रियो को आवश्यक और अनिवार्य मानते है।

न्याय के समान **पूर्वमीमास दर्शन** मे भी इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष के द्वारा प्रत्यक्ष की उत्पत्ति होना माना गया है। **कुमारिल भट्ट** के अनुसार **"ज्ञानेन्द्रियो का अपने सत् (वास्तविक रूप मे विद्यमान) विषयो के साथ सम्यक् सम्बन्ध होने से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह प्रत्यक्ष है।"** इनके अनुसार **"जैमिनिसूत्र"** मे **"सत्"** शब्द के प्रयोग से धर्म के ज्ञान मे प्रत्यक्ष की अप्रामाणिकता सिद्ध होती है तथा योगज प्रत्यक्ष का खण्डन भी हो जाता है। कुमारिल का यह भी कहना है कि लक्षण मे 'सत्सम्प्रयोगे" शब्द के प्रयोग से प्रत्यक्ष ज्ञान मे सशय

व भ्रमादि का भी निराकरण हो जाता है। **प्राभाकर मीमासको** का प्रत्यक्ष लक्षण गगेश उपाध्याय से पर्याप्त साम्य रखता है। प्राभाकर के अनुसार **"साक्षात् प्रतीति प्रत्यक्षम्"** अर्थात् प्रत्यक्ष एक प्रकार की साक्षात् प्रतीति है, जो इन्दियार्थसन्निकर्ष जन्य है।

यद्यपि न्याय और मीमासा दर्शनो मे **सन्निकर्ष** के भेदो को लेकर पर्याप्त मतभेद है, फिर भी इनकी प्रत्यक्ष विवेचना बहुत कुछ सामान्य है। न्याय के समान मीमासको का भी मत है कि किसी भी प्रत्यक्ष मे विषय तथा तद्गुणो का इन्द्रिय से इन्द्रिय का मन से तथा मन का आत्मा से इन तीन प्रकार का सन्निकर्ष होता है जिससे ज्ञान की उपलब्धि होती है। चूँकि मीमासको का प्रत्यक्ष विवेचन बहुत कुछ नैयायिको के समान है, इसलिए नैयायिको के प्रत्यक्ष लक्षण के सारे दोष मीमासको के प्रत्यक्ष लक्षण मे आ जाते है। इसलिए इनका मत भी अमान्य हो जाता है।

अद्वैत वेदान्त मे अन्य सभी दर्शनो द्वारा प्रतिपादित प्रत्यक्ष की परिभाषाओ के लक्षणो के प्रति सामूहिक अरूचि प्रदर्शित करते हुए कहा गया है कि प्रत्यक्ष लक्षण की पूर्ण परिभाषा किसी भी पूर्ववर्ती दार्शनिक मत से नही बनती। वस्तुत प्रत्यक्ष के लक्षण को निर्धारित करते समय इस बात का ध्यान रखा जाना चहिए कि वास्तव मे प्रत्यक्ष किसका होता है? अद्वैत वेदान्त के अनुसार एक मात्र पारमार्थिक तत्व प्रकाश या चैतन्य का ही सर्वप्रथम साक्षात्कार होता है। तदुपरान्त उसके विशेषण के रूप मे अन्य वस्तुओ का भान होता है। अद्वैत वेदान्तानुसार प्रकाश या चैतन्य की प्रतीति साक्षात् रूप से होती है इसलिए प्रत्यक्ष को नव्य न्याय की भॉति साक्षात्कारी ज्ञान माना गया है– **"साक्षात् प्रतीति प्रत्यक्षम्।"** लेकिन जहॉ **नव्य न्याय** मे यह माना जाता है कि यह साक्षात्कारित्व इन्द्रिय अर्थ व मनसादि के सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है, वहॉ **अद्वैत वेदान्त** मे मन के इन्द्रियत्व का निषेध करके इस मत का प्रतिपादन किया गया है कि प्रत्यक्ष के लिए इन्द्रियो का होना आवश्यक नही है।

अद्वैत वेदान्त के समान **बौद्ध दर्शन** मे भी मन के इन्द्रियत्व का निषेध करके **प्रत्यक्ष को साक्षात् अनुभूतिरूप** माना गया है, परन्तु दोनो दर्शनो की साक्षात् अनुभूति के स्वरूप मे भेद है। **बौद्ध दर्शन मे साक्षात् अनुभूति ऐन्द्रिक भी है, परन्तु अद्वैत वेदान्त मे साक्षात् अनुभूति का स्वरूप पराबौद्धिक है।**

अद्वैत वेदान्त मे प्रत्यक्ष को चैतन्य रूप माना गया है और प्रत्यक्ष प्रमा अर्थात् चैतन्य के आधार पर दो प्रकार का प्रत्यक्ष माना गया है– **विषयगत प्रत्यक्ष** तथा **ज्ञानगत प्रत्यक्ष**। चैतन्य के तीन रूप माने गये हैं– **प्रमाण-चैतन्य, प्रमातृ-चैतन्य और विषय-चैतन्य। जब प्रमाण** चैतन्य का विषय चैतन्य से सारूप्य होता है, तो उसे ज्ञानगत प्रत्यक्ष कहते हैं और जब प्रमातृ चैतन्य का विषय चैतन्य से अभेद होता है, तो उसे विषयगत प्रत्यक्ष कहते हैं।

अद्वैत वेदान्त मे प्रत्यक्ष प्रमा और प्रत्यक्ष प्रमाण का स्पष्ट व अलग-अलग विवेचन किया गया है और प्रत्यक्ष प्रमाण माना गया है तथा अन्तकरण वृत्ति को प्रत्यक्ष प्रमा के करण को प्रत्यक्ष प्रमा का करण (असाधारण या साधकतम् कारण) माना गया हैं। अद्वैत मत मे ज्ञाता व ज्ञेय के

मध्यस्त दोनो आवरणो का भग करके उन दोनो स अवच्छिन्न चैतन्यो के अभेद को अभिव्यक्त करने के द्वारा विषय को अपरोक्ष बनाने वाली वृत्ति को प्रत्यक्ष प्रमाण माना गया है। दूसरे शब्दो मे **प्रमाण चैतन्य के साथ विषय चैतन्य का अभेद ही प्रत्‍क्ष है ओर ऐसा करने वाली वृत्ति प्रत्यक्ष प्रमाण है।** प्रत्यक्ष प्रमा और प्रमाण के बारे म त वेदान्त का यह मत अधिक तर्कसगत है। इसलिए इसे सिद्धान्त के रूप मे स्वीकार किया जा सकता है।

जहाँ तक **प्रत्यक्ष ज्ञान की प्रक्रिया** का प्रश्न है इस विषय मे **चार्वाक दर्शन** मे सिवाय इसके कि इन्द्रिय और विषय के सयोग से प्रत्यक्ष ज्ञान की प्राप्ति होती है कोई विशेष विवेचन उपलब्ध नही है। **जैन दर्शन** की मान्यता है कि **"पारमार्थिक प्रत्यक्ष"** ज्ञान मे इन्द्रियादि की सहायता के बिना जब आत्मा और ज्ञेय वस्तुओ का सम्बन्ध स्थापित होता है तब वस्तुओ का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त होता है। **"व्यावहारिक प्रत्यक्ष"** मे जब इन्द्रिय या मन के द्वारा आत्मा और ज्ञेय वस्तुओ मे सम्बन्ध स्थापित होता है तब विषय का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। जैनो के अनुसार प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति **"अवग्रह" "ईहा" "आवाय" और "धारणा"** के क्रम मे होती है। **बौद्धों** के अनुसार प्रत्यक्ष ज्ञान जिस अर्थ से उत्पन्न होता है उसके साथ सारूप्य ग्रहण कर लेता है तथा वही अर्थ प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि अर्थ के द्वारा ज्ञान मे जो आकार अर्पित किया जाता है उस आकार का ही ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा ग्रहण किया जाता है। इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से प्रथम क्षण मे सर्वोपाधिविविक्त वस्तुमात्र का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष होता है। इसी निर्विकल्पक ग्राह्यता को बुद्धि अपनी विकल्पात्मक प्रक्रिया के द्वारा नाम जाति गुण द्रव्य आदि पचविध कल्पनाओ से युक्त कर वाह्यवस्तु रूप से सविकल्पक प्रत्यक्ष करती है। यहाँ वाह्यवस्तु का प्रत्यक्ष सविकल्पक प्रत्यक्ष शुद्ध प्रत्यक्ष नहीं, बल्कि अनुमान मिश्रित है जो सामान्य लक्षण को प्राप्त करता है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ही शुद्ध प्रत्यक्ष है जो स्वलक्षण को ग्रहण करता है। प्रत्यक्ष के विषय ग्रहण की प्रक्रिया के बारे मे **न्याय-वैशेषिक** बिल्कुल वस्तुवादी दृष्टिकोण अपनाते है। वे प्रत्यक्षात्मक विषय ग्रहण हेतु षड्विध सन्निकर्षो की कल्पना कर इन्द्रियो का विषय से इन्द्रियो का मन से सम्बन्ध, मन का आत्मा से सम्बन्ध की पृष्ठिभूमि मे समवाय सम्बन्ध से आत्मा मे प्रत्यक्ष को उत्पन्न होना मानते है। उक्त सम्बन्ध मे **साख्य-योग दर्शन** का मत है कि बुद्धि तत्व इन्द्रिय प्रणालिका के द्वारा विषयाकार मे परिणत होकर विषय का ग्रहण करती है। **पूर्वमीमासा** की प्रत्यक्ष ज्ञान की प्रक्रिया बहुत कुछ न्याय दर्शन के समान है। मीमासको के अनुसार किसी भी विषय तथा तद्‌गुणो का इन्द्रिय से, इन्द्रिय का मन से तथा मन का आत्मा से इन तीन प्रकार से सन्निकर्ष होता है जिससे प्रत्यक्ष ज्ञान की उपलब्धि होती है। **दोनो मे प्रमुख अतर यह है कि जहाँ न्याय-वैशेषिक दर्शन मे छ प्रकार के सन्निकर्ष को माना गया है, वहाँ मीमासा मे केवल तीन प्रकार के सन्निकर्षों को ही मान्यता प्रदान की गयी है। अद्वैत वेदान्त सम्प्रदाय** यद्यपि वाह्यार्थ की सत्ता को परमार्थ सत् नहीं मानता तथापि उसकी प्रत्यक्ष की प्रक्रिया मे भी चित्तवृत्ति का घटाकर रूप मे होना स्वीकार किया गया है। इसके

अनुसार शरीर के भीतर रहने वाला अन्त करण अवविद्याविवर्त अदृष्ट से प्रेरित होकर चक्षु आदि इन्द्रियो के मार्ग से बाहर निकल कर घटादि विषयो से यथोचित रीति (जिस विषय से इन्द्रिय का जैसा सन्निकर्ष होता हो) से ससृष्ट होकर उन विषयो को व्याप्त करके उसी उसी आकार मे परिणत हो जाता है। **प्रथम दृष्ट्या वेदान्त का यह मत साख्य-योग मत के काफी करीब दिखाई देता है लेकिन दोनो मे मुख्य अतर यह है कि पारस्परिक प्रतिबिम्बवाद जैसी कोई भी अवधारणा अद्वैत वेदान्त मे मान्य नही है। दूसरी बात यह है कि साख्यो का यह मत अद्वैत वेदान्त मे अस्वीकृत कर दिया गया है कि बुद्धि विषय का जो आकार धारण करती है वह नित्य है, क्योकि अद्वैत वेदान्त के अनुसार चैतन्य या प्रकाश के अतिरिक्त कोई नित्य सत्ता है ही नही।** इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्रत्यक्ष के विषय के ग्रहण की प्रक्रिया के सम्बन्ध मे अद्वैत वेदान्त का मत अधिक तर्कसगत है।

जहॉ तक **प्रत्यक्ष–प्रमा** के **करण** की बात है, **न्याय–वैशेषिक** दर्शन मे इन्द्रिय इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष और ज्ञान (निर्विकल्पक ज्ञान) इन तीनो को प्रत्यक्ष का करण माना गया है। **मीमासा दर्शन** मे **भाट्ट मीमासको** ने प्रत्यक्ष ज्ञान के तीन करण माने हैं– इन्द्रिय निर्विकल्पक ज्ञान और सविकल्पक ज्ञान। **प्राभाकर मीमासको ने** प्रत्यक्ष ज्ञान के तीन भिन्न करण माने है– इन्द्रिय आत्म-मन सन्निकर्ष एव प्रकाशरूप ज्ञान। अधिकाश दार्शनिको ने इन्द्रियो के कारणत्व का प्रतिपादन किया है। ब्रह्म साक्षात्कार मे प्रमाणो को परमार्थत अक्षम मानने वाले **अद्वैत वेदान्तियो** ने भी इन्द्रिय सन्निकर्षादि को करण माना है। इनके अनुसार साक्षात् ब्रह्मात्मभूत चैतन्य यद्यपि अनादि (नित्य) है तथापि अन्त करण-वृत्ति उस नित्य चैतन्य को अभिव्यक्त करती है। अन्त करण-वृत्ति मे नित्य चैतन्य का प्रतिबिम्ब पडता है। इसी को **"चिदाभास"** कहते हैं। अन्त करण की वृत्ति इन्द्रिय सन्निकर्षादि के कारण प्रतिक्षण उत्पन्न होती रहती है। अर्थात् वह स्वभावत जन्य है। इस कारण इस जन्य वृत्ति से विशिष्ट (युक्त) चैतन्य को भी वृत्ति के साथ ही आदिमत् (उत्पन्न होने वाला) माना जा सकता है। इसलिए चक्षुरादि इन्द्रियो मे उस जन्य चैतन्य के प्रति करणत्व प्रतीत होता है। अद्वैत वेदान्तियो का कहना है कि चक्षुरादि इन्द्रियो का अविशिष्ट (शुद्ध) के प्रति करण न बनाना हमे इष्ट ही है क्योकि अवशिष्ट शुद्ध चैतन्य मे स्वय प्रकाशत्व होता है। इस कारण चैतन्यात्मा मे प्रमाण व्यापार की अपेक्षा नही होती। अर्थात स्वय प्रकाश चैतन्यात्मा की सिद्धि मे प्रमाण व्यापार की आवश्यकता नहीं पडती, परन्तु अप्रकाश-पदार्थ को साभास अन्त करण वृत्ति रूप प्रमाण की अपेक्षा रहती है। इस प्रकार, अद्वैत वेदान्त मे इन्द्रियो को चैतन्य के प्रति करण माना गया है जो अधिक तर्कसगत प्रतीत होता है।

जो दार्शनिक प्रत्यक्ष को इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य ज्ञान के रूप मे परिभाषित करते हैं वे प्रत्यक्ष ज्ञान के **तीन घटक** मानते है–1 **इन्द्रिय 2 पदार्थ और 3 सन्निकर्ष।**

न्याय-वैशेषिक, साख्य-योग और मीमासा दर्शनो मे ज्ञान व्यापार मे उपयोगिता की दृष्टि से **छ इन्द्रियो** की कल्पना की गयी है– पच ज्ञानेन्द्रियॉ और मन। **न्याय-वैशेषिक** के अनुसार पच ज्ञानेन्द्रियो की उत्पत्ति पचमहाभूतो से होती है। ये इन्द्रियॉ भौतिक, सूक्ष्म, अतीन्द्रिय एव

अनुमेय है। इनके अनुसार मन अतरन्द्रिय है, जिसे सुख दु खादि का ज्ञान होता है। मन नित्य अणुरूप और निरवयव है। मन का एक समय मे एक ही इन्द्रिय के साथ सम्बन्ध होता है इसलिए एक समय मे एक ही ज्ञान होता है। नैयायिको मे इन्द्रियो की **प्राप्यकारिता** को लेकर मतभेद है। **प्राचीन नैयायिक इन्द्रियो मे प्राप्यकारित्व को मानते है जबकि नव्यनैयायिक इन्द्रियो मे प्राप्यकारिता को स्वीकार नही करते।** न्याय-वैशेषिक सभी छ इन्द्रियो को भौतिक और अतीन्द्रिय मानते है। **मीमासको** का इन्द्रिय सम्बन्धी विचार प्राचीन नैयाकिो के समान ही है किन्तु के श्रोतेन्द्रिय को आकाश स्वरूप न मानकर **दिग्भागीय** मानते है। **भाट्ट मीमासक** केवल श्रोत को दैशिक मानते है। वे इन्द्रिय अधिष्ठानो के अतिरिक्त इन्द्रियो को शक्ति भी मानते है। वे केवल घ्राण त्वक एव जिह्वा इन्द्रियो को ही प्राप्यकारी मानते है। **प्राभाकर** मीमासक इन्द्रिय सम्बन्ध को केवल **असमवायि** कारण मानते है।

साख्य याग दार्शनिक इन्द्रियो की उत्पत्ति पचमहाभूतो से न मानकर अहकार से मानते है। इनके अनुसार मन बहुत ही सूक्ष्म इन्द्रिय है किन्तु वह सावयव है। अत एक ही साथ भिन्न भिन्न इन्द्रियो के साथ सयुक्त हो सकता है। मन नित्य पदार्थ न होकर प्रकृति का एक कार्यद्रव्य है अत उत्पन्न एव विनाशशील है। **बौद्ध दार्शनिक** मन को इन्द्रिय नही मानते। वे केवल पॉच इन्द्रियो की सख्या मानते है। इन्द्रियॉ उनके अनुसार **गोलक** तथा भौतिक है। **बौद्ध इन्द्रियो को प्राप्यकारी नही मानते। जैन दार्शनिक** भी मन को इन्द्रिय नही मानते। वे चक्षुरिन्द्रिय के अतिरिक्त शेष चार इन्द्रियो मे प्राप्यकारित्व को मानते है। **अद्वैत वेदान्ती** भी मन को इन्द्रिय न मानकर केवल पचज्ञानेन्द्रियो को ही इन्द्रिय मानते है जो भौतिक है। **अद्वैत वेदान्त** और **साख्य** भी इन्द्रियो की प्राप्यकारिता को स्वीकार करते है।

जहॉ तक **सन्निकर्ष** का प्रश्न है, इस सम्बन्ध मे मुख्य विवाद नैयायिको व मीमासको मे है। **नैयायिक लौकिक** व **अलौकिक** के रूप मे सन्निकर्ष के **दो भेद** मानते हैं। उनके अनुसार **लौकिक सन्निकर्ष के छ भेद है**–1 सयोग 2 सयुक्त समवाय, 3 सयुक्त समवेतसमवाय 4 समवाय 5 समवेत समवाय 6 विशेष्य–विशेषणभाव। नैयायिक **अलौकिक सन्निकर्ष के तीन भेद** मानते है–1 सामान्य लक्षण 2 ज्ञान लक्षण और 3 योगज। **पूर्वमीमासा दर्शन** के दोनो प्रमुख सम्प्रदायो मे उपर्युक्त सभी प्रकार के सन्निकर्षो का खण्डन करके स्वमत के अनुसार सन्निकर्ष के भेदो का प्रतिपादन किया गया है। **भाट्टमत** मे केवल दो प्रकार के सन्निकर्ष को स्वीकार किया गया है–1 सयोग तथा 2 सयुक्त तादात्म्य। **प्राभाकर मीमासक** केवल तीन प्रकार के सन्निकर्ष मानते है–1 सयोग 2 सयुक्त समवाय और 3 समवाय।

अन्य बातो की तरह **प्रत्यक्ष ज्ञान** के विषय को लेकर भी भारतीय दार्शनिको मे मतभेद है। **बौद्धो** के अनुसार प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण है। **न्याय-वैशेषिक** के अनुसार सप्त पदार्थ प्रत्यक्ष के विषय है। **मीमासको** ने सत् (विद्यमान) पदार्थो को प्रत्यक्ष का विषय माना है, जबकि **अद्वैत वेदान्त** के अनुसार ब्रह्म ही एक मात्र प्रत्यक्ष का विषय है। अद्वैत वेदान्त का यह मत तर्क

की कसौटी पर अधिक खरा उतरता है क्योकि व्यवहारत भले ही अनेक पदार्थ सत् प्रतीत होते है किन्तु परमार्थत ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी तत्व की सत्ता ही नही है। इसलिए ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी के प्रत्यक्ष का विषय होने का प्रश्न ही नही उठता।

प्रत्यक्ष के भेद के बारे मे भारतीय दार्शनिको मे मतभेद दृष्टिगोचर होता है। **चार्वाक दर्शन** मे प्रत्यक्ष के भेदो का कोई स्पष्ट उल्लेख नही किया गया है। **जैन दर्शन** मे केवल सविकल्पक को ही वास्तविक प्रत्यक्ष माना गया है जबकि **बौद्ध** और **अद्वैत वेदान्त दर्शन** मे केवल निर्विकल्पक को वास्तविक प्रत्यक्ष माना गया है। जैनो के अनुसार निर्विकल्पक ज्ञान मे सस्कारो का उद्‌बोधन नहीं होता जबकि सविकल्पक मे ऐसा होता है। इसलिए सविकल्पक ज्ञान ही प्रामाणिक ज्ञान है। बौद्ध और अद्वैत वेदान्त के अनुसार स्वलक्षण' एव ब्रह्म नाम रूप आदि सभी प्रकार के भेदो से परे है। इसलिए सविकल्पक प्रत्यक्ष के द्वारा जो कि नाम रूप भेद से युक्त है नाम रूप भेद से परे स्वलक्षण' एव ब्रह्म का साक्षत्कार नही किया जा सकता। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ही इनके साक्षात्कार का एकमात्र साधन है, इसलिए केवल निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ही यथार्थ ज्ञान है। **नव्य न्याय** के अनुसार सविकल्पक प्रत्यक्ष ही वैध है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के बारे मे वे कहते है कि यह न तो वैध है और न ही अवैध। **साख्य-योग, न्याय-वैशेषिक** तथा **मीमासा दर्शनो** मे दोनो ही प्रकार के प्रत्यक्षो को वैध माना गया है। लेकिन मीमासा का निर्विकल्पक ज्ञान न्याय-वैशेषिक दर्शन के निर्विकल्पक ज्ञान से भिन्न है। **न्याय मे निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को केवल तर्क के आधार पर सविकल्पक की प्रागवस्था के रूप मे माना जाता है, जबकि मीमासा मे निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को मनुष्य के अनुभव की एक अवस्था विशेष माना जाता है।** पशुओ तथा शिशुओ के प्रत्यक्ष को मीमासाक इसी कोटि मे रखते हैं।

इस प्रकार **मीमासक** जहॉ प्रत्यक्ष के निर्विकल्पक एव सविकल्पक केवल दो भेद मानते है वहॉ **नैयायिक** लौकिक और अलौकिक भेद से प्रत्यक्ष के कुल छ भेद मानते है। लौकिक प्रत्यक्ष के अन्तर्गत निर्विकल्पक सविकल्पक एव प्रत्यभिज्ञा ज्ञान आते है। अलौकिक प्रत्यक्ष के अन्तर्गत सामान्य लक्षणाजन्य ज्ञानलक्षणाजन्य और योगज प्रत्यक्ष आते है। नैयायिको ने प्रत्यक्ष का निर्विकल्पक सविकल्पक एव प्रत्यभिज्ञा के रूप मे जो भेद किया है उसे **बौद्ध** और **अद्वैत वेदान्ती** नही मानते। इसी तरह से अद्वैत वेदान्ती न्याय दर्शन के सामान्य लक्षण तथा ज्ञान लक्षण का खण्डन करते है और उनकी सत्यता को नही मानते है।

मीमासक भी न्याय के अलौकिक प्रत्यक्ष को नही मानते। इसका कारण है है कि मीमासक विद्यमान वस्तुओ का ही प्रत्यक्ष मानते है, अविद्यमान वस्तुओ का नहीं। विद्यमान पदार्थो के साथ चक्षुरिन्द्रियो का सन्निकर्ष होने पर लौकिक ज्ञान ही होगा, अलौकिक नही। इन्द्रिय का अविद्यमान वस्तुओ के साथ सन्निकर्ष होने पर अलौकिक ज्ञान अवश्य होता है। किन्तु मीमासक अविद्यमान वस्तुओ को प्रत्यक्ष का विषय नही मानते। इसलिए वे अलौकिक प्रत्यक्ष को भी नहीं मानते। **अद्वैत वेदान्तियो** ने नैयायिको के लौकिक प्रत्यक्ष के छ भेदो को न मानकर कवेल पॉच प्रकार के

लौकिक प्रत्यक्ष को माना है। वे मन के इन्द्रियत्व का निषेध करके केवल पॉच प्रकार की इन्द्रियो को मानते है और उनसे जन्य ज्ञान को इन्द्रियज या लौकिक प्रत्यक्ष मानते है।

उपर्युक्त विवेचन से एक बात स्पष्ट होती है कि **बौद्ध** और **अद्वैत** वेदान्त दोनो ही निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को मानते है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को मानने के पीछे उनकी तत्वमीमासीय धारणाएँ है जिनकी सिद्धि वे निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को माने बिना नही कर सकते। अद्वैत वेदान्त मे एकमात्र **ब्रह्म** की ही सत्ता स्वीकार की गयी है और माना गया है कि यह सम्पूर्ण जगत मिथ्या है यह अविद्या के द्वारा ब्रह्म के ऊपर एक अध्यास है। बौद्ध दर्शन मे भी **स्वलक्षण** के अलावा सभी प्रकार की सत्ताओ का निषेध किया गया है। **ब्रह्म** एव **स्वलक्षण** दोनो नाम रूप आदि सभी प्रकार के भेदो से परे है। इसलिए नाम रूप भेद से युक्त सविकल्पक प्रत्यक्ष द्वारा हम नाम रूप भेद से परे ब्रह्म एव स्वलक्षण का साक्षात्कार कैसे करेगे? सविकल्पक प्रत्यक्ष के लिए यह आवश्यक है कि प्रमाता से भिन्न प्रमेय की सत्ता स्वीकार की जाय। किन्तु ऐसा मानने पर ब्रह्म एव स्वलक्षण की एकतत्त्वता विनष्ट हो जायेगी। इसके विपरीत निर्विकल्पक प्रत्यक्ष नाम रूप इत्यादि भेदो से रहित है। बौद्धो और अद्वैत वेदान्तियो के अनुसार किसी विषय का ज्ञान प्राप्त **करने का अर्थ है**– ज्ञान का विषयाकार हो जाना। इस प्रकार निर्विकल्पक प्रत्यक्ष मे ज्ञेय ज्ञाता और ज्ञान का भेद नही रहता है। इसी कारण बौद्ध दर्शन और अद्वैत वेदान्त मे निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को मानना तक तार्किक बाध्यता है। इसके बिना **ब्रह्म** एव **'स्वलक्षण** की वाख्या करना असम्भव है।

परन्तु उपर्युक्त समानता के आलवा बौद्धो और अद्वैत वेदान्तियो की मान्यता मे अन्तर भी है। जहॉ बौद्ध दर्शन मे एकमात्र विर्निकल्पक प्रत्यक्ष को ही वैध प्रमाण माना गया है वहॉ अद्वैत वेदान्त मे निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के अलावा सविकल्पक प्रत्यक्ष को भी माना गया है। परन्तु इस सविकल्पक प्रत्यक्ष को अद्वैत वेदान्तियो ने सिर्फ व्यावहारिक वैधता प्रदान की है तार्किक नहीं। तार्किक वैधता सिर्फ निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को ही प्राप्त है। अद्वैत वेदान्ती जगत् की व्यावहारिक सत्ता को स्वीकार करते है। इसी आधार पर वे सविकल्पक प्रत्यक्ष को वयवहारिक वैधता प्रदान करते है। बौद्धो ने सविकल्पक प्रत्यक्ष को अवैध कहा है परन्तु इसके कारण रूप मे वे यह कहते है कि यह काल्पनिक और भ्रान्त है। हालाकि दोनो ही दर्शनो मे जगत् को असत् माना गया है परन्तु अद्वैत वेदान्ती जगत को अपेक्षाकृत अधिक मूल्य प्रदान करते हुए सामान्य अनुभव के अधिक नजदीक लगते है, जबकि बौद्ध दार्शनिक जगत् एव वाह्य वस्तुओ को अनुमानजन्य मानते हुए अपेक्षाकृत कम मूल्य प्रदान करते हुए लगते है। इस प्रकार सामान्य व्यवहार और तर्क दोनो ही दृष्टियो से अद्वैत वेदान्त का मत अधिक तर्कसगत प्रतीत होता है।

केवल निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को ही एकमात्र प्रत्यक्ष मानने के कारण बौद्धो का प्रत्यक्ष भेद निर्विकल्पक प्रत्यक्ष पर ही आधारित है। इन्द्रि प्रत्यक्ष, मानस प्रत्यक्ष, योगज प्रत्यक्ष एव स्वसवेदन इत्यादि भेद निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के ही भेद है। परन्तु अद्वैत वेदान्त मे ज्ञानगत एव विषयगत

आधार पर ही प्रत्यक्ष के दो भेद किये गये है– निर्विकल्पक एव सविकल्पक। इन दोनो के पुन जीवसाक्षी और ईश्वरसाक्षी दृष्टि से दो भेद किये गये है। जन्य एव अजन्य दृष्टि से भी वे प्रत्यक्ष के दो भेद करते है–इन्द्रियजन्य एव इन्द्रियाजन्य। इस प्रकार अद्वैत वेदान्त सम्मत प्रत्यक्ष भेद एक ओर जहॉ बौद्ध सम्मत प्रत्यक्ष-भेद की तुलना मे प्रत्यक्ष को विस्तृत आयाम प्रदान करता है वही दूसरी ओर केवल निर्विकल्पक की तात्त्विक या पारमार्थिक यथार्थता तथा सविकल्पक प्रत्यक्ष की केवल व्यावहारिक यथार्थता स्वीकार करके तत्त्वमीमासीय अद्वैतवाद से ज्ञान मीमासीय अद्वैतवाद का सामञ्जस्य भी स्थापित कर देता है। इस दृष्टि से भी अद्वैत वेदान्त की उत्कृष्टता सिद्ध होती है।

अद्वैत वेदान्त की निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की अवधारणा भी बौद्धो की निर्विकल्पक की अवधारणा से अधिक उत्कृष्ट है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार निर्विकल्पक प्रत्यक्ष वह ज्ञान है जो किसी विषय का बिना उसके अन्तर्सम्बन्धो का बोध कराये ही साक्षात् ज्ञान कराता है परन्तु यह बिना किसी इन्द्रिय की सहायता के द्वारा प्राप्त किया गया है। **शकरोत्तर अद्वैत वेदान्तियो** के अनुसार ज्ञान की प्रत्यक्षात्मकता का स्रोत ऐन्द्रिक न होकर प्रमाण चैतन्य का प्रमेय चैतन्य के साथ अभेद होने मे है। प्रत्यक्ष की यह विशेषता सोऽय देवदत्त तत्त्वमसि' इत्यादि जैसे वाक्यो के द्वारा प्रस्तुत ज्ञान मे पायी जाती है। इस प्रकार का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ही वैध ज्ञान है, क्योकि इससे एक ऐसे विषय का बोध होता है जिसका किसी दूसरे ज्ञान द्वारा बाध नहीं हुआ है तथा जिसका किसी अन्य यथार्थ ज्ञान द्वारा विरोध न हो। इस प्रकार **अद्वैत वेदान्त की निर्विकल्पक अनुभूति का स्वरूप पराबौद्धिक है, जबकि बौद्ध दर्शन के निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का स्वरूप ऐन्द्रिक भी है,** क्योकि बौद्धमतानुसार प्रथम क्षण मे इन्द्रिय और अर्थ के द्वारा प्राप्त किया जाने वाला ज्ञान ही प्रत्यक्ष है। इस दृष्टि से भी अद्वैत मत की श्रेष्ठता सिद्ध होती है।

अद्वैत वेदान्त के अनुसार प्रत्यक्ष प्रमाण का मुख्य प्रयोजन अद्वैत तत्त्व का प्रतिपादन है तथा ब्रह्म का निरूपण है। प्रत्यक्ष प्रमाण के बल पर अद्वैत वेदान्त ने यह बात सिद्ध कर दी है कि सम्पूर्ण जगत् चैतन्यमय है। चैतन्य से भिन्न कोई वस्तु नहीं है। प्रमाण, प्रमेय और प्रमाता सबकी स्थिति चैतन्यमय ही है। इस प्रकार **निष्कर्ष** के रूप मे हम कह सकते है कि **प्रत्यक्ष के समग्र पक्षो पर अद्वैत वेदान्त का मत अधिक तर्कसगत है।**

सदर्भ-ग्रथ-सूचिका

1 तर्क भाषा मिश्र केशव व्याख्या–शुक्ल बदरीनाथ मोतीलाल बनारसी दास द्वितीय सस्करण 1976 पृ० 66।

2 वेदान्तपरिभाषा धर्मराजाध्वरीन्द्र व्याख्या–मुसलगॉवकर श्री गजानन शास्त्री चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी 1983 पृ० 22।

3 तर्कभाषा मिश्र केशव व्याख्या–शुक्ल बदरीनाथ मोतीलाल बनारसी दास द्वितीय सस्करण 1976 पृ० 64।

4 प्रवचनसार 1 40 41 कुन्दकुन्द सम्पादित डॉ० उपाध्ये बम्बई 1935।

5 सर्वार्थसिद्धि 1 12 103 9 देवनन्दी पूज्यपाद भारतीय ज्ञान पीठ वाराणसी 1955।

6 राजवार्तिक 1 12 1 53 4 अकलक भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसी 1957।

7 प्रमाणवार्तिक 3 1 धर्मकीर्ति किताब महल इलाहाबाद 1943।

8 न्यायसूत्र 1 1 4 गौतम कलकत्ता सस्कृत ग्रन्थमाला ग्रन्थाक 18 कलकत्ता 1936।

9 न्यायकन्दली श्रीधर निर्देशक अनुसधान सस्थान वाराणसेय सस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी 1963 पृ० 189।

10 *Fragments fiom Dinnaga Ranadel, H N Royal Asiatic Society London 1926 P 16*

11 न्यायविन्दुटीका धर्मोत्तर काशी प्रसाद जायसवाल अनुशीलन सस्था पटना 1955 पृ० 3–8।

12 वही पृ० 12–13।

13 *Buddhist Logic, Stcherbastsky, T, Dover Publication, New Yark, 1962, part 1, P 149*

14 न्यायविन्दुटीका धर्मोत्तर काशी प्रसाद जायसवाल अनुशीलन सस्था पटना 1955 पृ० 3–13 10–12।

15 ***Quoted, Fragments from Dinnaga, Ranadel, H N, Royal Asiatic Society, Londan, 1962, P 10***

16 न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका मिश्र वाचस्पति कलकत्ता सस्कृत ग्रन्थमाला ग्रन्थाक 18 कलकत्ता 1936 पृ० 150।

17 वही पृ० 150।

18 न्यायवार्तिक उद्योतकर कलकत्ता सस्कृत ग्रन्थमाला ग्रन्थाक 18 कलकत्ता 1936 पृ0 41।

19 वही पृ० 41।

20 न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका मिश्र वाचस्पति कलकत्ता सस्कृत ग्रन्थमाला ग्रन्थाक 18 कलकत्ता 1936 पृ0 152।

21 प्रमाणवार्तिक 2 247 धर्मकीर्ति किताब महल इलाहाबाद 1943।

22 प्रमाणसमुच्चय 1 14, दिङनाग मैसूर विश्वविद्यालय प्रकाशन मैसूर 1930

23 ***Buddhist Logic, Stcherbalsky, T, Dover Publication, New Yark, 1962, Part 1, P 175***

24 प्रमाणसमुच्चय 1 3 दिङनाग मैसूर विश्वविद्यालय प्रकाशन मैसूर 1920।।

25 न्यायवार्तिक उद्योतकर कलकत्ता सस्कृत ग्रन्थमाला ग्रन्थाक 18 कलकत्ता 1936 पृ0 41।

26 न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका मिश्र, वाचस्पति कलकत्ता सस्कृत ग्रन्थमाला ग्रन्थाक 18 कलकत्ता 1936 पृ0 153–154।

27 प्रमाणवार्तिक 2 123 धर्मकीर्ति किताब महल इलाहाबाद 1943।

28 न्यायविन्दु 1 4 धर्मकीर्ति काशी प्रसाद जायसवाल अनुशीलन सस्था पटना 1955।

29 न्यायविन्दुटीका धर्मोत्तर काशी प्रसाद जायसवाल अनुशीलन सस्था पटना 1955 पृ० 2–3।

30 वही पृ० 9।

31 प्रमाणवार्तिक 2 213 धर्मकीर्ति किताब महल इलाहाबाद 1943।

32 प्रकरणपचिका मिश्र शालिकनाथ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय मुद्रणालय काशी 1961 पृ० 142।

33 न्यायसूत्र 1 1 4 गौतम कलकत्ता सस्कृत ग्रन्थमाला ग्रन्थाक 18 कलकत्ता 1936।

34 न्यायसूत्रभाष्य 1 1 4 वात्स्यायन कलकत्ता सस्कृत ग्रन्थमाला ग्रन्थाक 18 कलकत्ता 1936।

35 प्रकरणपचिका मिश्र शालिकनाथ काशी हिन्दूविश्वविद्यालय मुद्रणालय काशी 1961 पृ० 134–135।

36 तत्त्वचिन्तामणि उपाध्याय गगेश चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी 1917 पृ० 570।

37 तर्कभाषा मिश्र केशव व्याख्या–शुक्ल बदरीनाथ मोतीलाल बनारसीदास द्वितीय सस्करण 1976 पृ० 5।

38 न्यायसिद्धान्तमजरी अमर यन्त्रालय, रामापुरा काशी स० 1941 पृ० 2।

39 न्यायसिद्धान्तमुक्तावली पचानन विश्वनाथ चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी द्वितीय सस्करण 1984 पृ० 280।

40 प्रशस्तपादभाष्य प्रशस्तपाद निर्देशक अनुसन्धान सस्थान वाराणसेय सस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी 1963 पृ० 163।

41 वही पृ० 160।

42 वही पृ० 161।

43 साख्यप्रवचनभाष्य, विज्ञान भिक्षु चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी 1928 पृ० 52–53।

44 वही पृ० 52।

45 व्यासभाष्य, 4 22, व्यास, भारतीय विद्याप्रकाशन पच गगाघाट, वाराणसी, 1961।

46 मीमासासूत्र 1 1 4 जैमिनि, आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना, 1929।

47 श्लोकवार्तिक भट्ट कुमारिल मद्रास विश्वविद्यालय प्रकाशन मद्रास 1940 पृ० 36

48 वही पृ० 38।

49 प्रकरणपचिका मिश्र, शालिकनाथ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय मुद्रणालय काशी 1961 पृ० 104।

50 वही पृ० 146।

51 वही पृ० 146।

52 वृहती 1 1 5 मिश्र प्रभाकर चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी 1929 पृ० 66

53 प्रकरणपचिका मिश्र शालिकनाथ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय मुद्रणालय काशी 1961 पृ० 104।

54 वेदान्तपरिभाषा धर्मराजाध्वरीन्द्र, व्याख्या–मुसलगॉवकर श्री गजानन शास्त्री चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, 1983 पृ० 25।

55 तत्त्वप्रदीपिका 1 1, चित्सुखाचार्य, उदासीन सस्कृत विद्यालय काशी, 1956।

56 अद्वैतसिद्धि सरस्वती मधुसूदन निर्णयसागर मुद्रणालय बम्बई 1917, पृ० 783।

57 बृहदारण्यक उपनिषद् 3 4 1 वैदिक सशोधन मण्डल पूना 1958।
58 वेदान्तपरिभाषा धर्मराजाध्वरीन्द्र व्याख्या—मुसलगॉवकर श्री गजानन शास्त्री चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी 1983 पृ० 9।
59 वही पृ० 340—42
60 वही पृ० 62।
61 वही पृ० 64।
62 वही पृ० 64।
63 वही पृ० 66।
64 वही पृ० 68।
65 वही पृ० 70।
66 वही पृ० 77—71
67 वही, पृ० 37।
68 वही पृ० 39।
69 वही पृ० 37।
70 वही पृ० 42—43
71 वही पृ० 20।
72 वही पृ० 25।
73 वही पृ० 37।
74 प्रमाणवार्तिक (मनोरथनन्दि वृत्ति) 2 13 धर्मकीर्ति बौद्ध भारती प्रकाशन वाराणसी 1968।
75 न्यायमजरी भाग—1 भट्ट जयन्त प्राच्यविद्या सशोधनालय मैसूर 1970 पृ० 14।
76 प्रमाणकणिका मिश्र वाचस्पति तारा पब्लिकेशन वाराणसी 1978 पृ० 256।
77 प्रमाणवार्तिक 2 224 धर्मकीर्ति किताब महल इलाहाबाद 1943।
78 विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि, 1, बसुबन्धु, नवनालन्दामहाविहार रिसर्च पब्लिकेशन, नालन्दा, 1957।
79 भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण, पाण्डेय, प्रो सगम लाल, सेन्ट्रल बुक डिपो इलाहाबाद 1981, पृ० 286।
80 वेदान्तपरिभाषा धर्मराजाध्वरीन्द्र व्याख्या—मुसलगॉवकर श्री गजानन शास्त्री चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी 1983 पृ० 39।
81 न्यायभाष्य 1 1 12 वात्स्यायन, कलकत्ता सस्कृत ग्रन्थमाला ग्रन्थाक 18 कलकत्ता 1936।
82 न्यायसूत्र 1 1 6 गौतम, कलकत्ता सस्कृत ग्रन्थमाला ग्रन्थाक 18 कलकत्ता 1936।
83 न्यायरत्नाकर भट्ट कुमारिल चौखम्बा सस्कृत सीरीज वाराणसी 1953, पृ० 108।
84 मानमेयोदय भट्ट नारायण थियोसाफिकल पब्लिशिग हाउस, अड्यार मद्रास, 1933 पृ० 15।
85 मानमेयोदय भट्ट नारायण थियोसाफिकल पब्लिशिग हाउस अडयार मद्रास 1933 पृ० 18—19।
86 न्यायरत्नाकर भट्ट कुमारिल चौखम्बा सस्कृत सीरीज वाराणसी 1953 पृ० 252—53।

87 श्लोकवार्तिक भट्ट कुमारिल मद्रास विश्वविद्यालय प्रकाशन मद्रास 1940 पृ० 26।

88 वही पृ० 27।

89 भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण पाण्डेय प्रो सगम लाल सेन्ट्रल बुक डिपो इलाहाबाद 1981 पृ० 110।

90 न्यायबिन्दु धर्मकीर्ति काशीप्रसाद जायसवाल अनुशीलन सस्था पटना 1955 पृ० 17।

91 प्रमाणवार्तिक 3 124 धर्मकीर्ति किताब महल इलाहाबाद 1943।

92 श्लोकवार्तिक 1 1 4 60 भट्ट, कुमारिल मद्रास विश्वविद्यालय प्रकाशन मद्रास 1940।

93 प्रमाणवार्तिक 3 239 धर्मकीर्ति किताब महल इलाहाबाद 1943।

94 न्यायबिन्दु धर्मकीर्ति काशी प्रसाद जायसवाल अनुशीलन सस्था पटना 1955 पृ० 17।

95 प्रमाणवार्तिक 3 239 धर्मकीर्ति किताब महल इलाहाबाद 1943।

96 Buddhist Logic, Vol I, Stcherbatsky, T, Dover Publication, New Yark, 1962।

97 न्यायविन्दुटीका धर्मोत्तर काशी प्रसाद जायसवाल अनुशीलन सस्था पटना, 1955 पृ० 14।

98 न्यायबिन्दुटीका 1 10 धर्मोत्तर काशी प्रसाद जायसवाल अनुशीलन सस्था पटना 1955।

99 प्रमाणवार्तिक 3 239 धर्मकीर्ति किताब महल इलाहाबाद 1943।

100 न्यायबिन्दु 1 10, धर्मोत्तर, काशी प्रसाद जायसवाल अनुशीलन सस्था, पटना, 1955।

101 न्यायसूत्र 1 1 4 गौतम कलकत्ता सस्कृत ग्रन्थमाला ग्रन्थाक 18 कलकत्ता 1936।

102 न्यायकन्दली श्रीधर चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी पृ० 198।

103 न्यायसिद्धान्तमुक्तावली 134 विश्वनाथ चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी द्वितीय सस्करण 1984।

104 वही 135–136।

105 प्रमाणसमुच्चय 1 3 दिङ्नाग मैसूर विश्वविद्यालय प्रकाशन मैसूर, 1930।

106 न्यायबिन्दु धर्मकीर्ति काशी प्रसाद जायसवाल अनुशीलन सस्था पटना 1955 पृ० 11।

107 तर्कभाषा मिश्र केशव, चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी, 1953 प्रत्यक्ष पृ० 69।

108 न्यायसिद्धान्तमुक्तावली विश्वनाथ चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी द्वितीय सस्करण 1984 प्रत्यक्ष पृ० 65।

109 वही पृ० 66।

110 साख्यसूत्र पर अनिरुद्धवृत्ति, अनिरुद्ध, प आशुतोष विद्याभूषण तथा प नित्यबोध विद्यारत्न, कलकत्ता, 1935 पृ० 1 89।

111 साख्यतत्त्वकौमुदी 27 मिश्र, वाचस्पति सत्य प्रकाशन, बलरामपुर हाउस, इलाहाबाद, 1962।

112 श्लोकवार्तिक भट्ट कुमारिल मद्रास विश्वविद्यालय प्रकाशन मद्रास, 1940 पृ० 112।

113 वही पृ० 111।

114 प्रकरणपचिका मिश्र शालिकनाथ काशी विश्वविद्यालय मुद्रणालय, काशी, 1961, पृ० 141।

115 वही पृ० 141।

116 वही पृ० 141।

117 वही पृ० 138।

118 वेदान्तपरिभाषा धर्मराजाध्वरीन्द्र व्याख्या–मुसलगॉवकर श्री गजानन शास्त्री चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी 1983 पृ० 76–77।

119 वही पृ० 82।

120 वही पृ० 85।

121 वही पृ० 88।

122 वही पृ० 89।

123 वही पृ० 89।

124 वही पृ० 143।

125 वही पृ० 143।

● ●

अध्याय तृतीय

अनुमान प्रमाण

अनुमान प्रमाण

सम्पूर्ण भारतीय दर्शन मे ज्ञान प्राप्ति के साधनो मे जितना व्यापक व गहन चिन्तन अनुमान प्रमाण के बारे मे किया गया है उतना अन्य किसी प्रमाण के बारे मे नही। न्याय दर्शन का तो यह सर्वाधिक प्रिय विवेच्य विषय रहा है। न्याय दर्शन मे अनुमान को दूसरे प्रमाण के रूप मे प्रस्तुत किया है। अनुमान के सम्बन्ध मे वैशेषिक न्याय मीमासा और जैन सम्प्रदायो मे विशेष रूप से तथा साख्य योग और वेदान्त सम्प्रदायो मे गौण रूप से चिन्तन किया गया है। अनेक दार्शनिक सम्प्रदायो मे अनुमान के बारे मे न्याय मत को किसी न किसी रूप मे स्वीकार कर लिया गया है। अद्वैत वेदान्त मे अनुमान का व्यवस्थित विवेचन वेदान्तपरिभाषा व उसकी टीकाओ मे किया गया है। लेकिन इन ग्रन्थो मे अनुमान के बारे मुख्यत केवल उन्हीं विन्दुओ पर विचार किया है जहॉ वेदान्तियो की नैयायिको से असहमति है। सहमति के बिन्दुओ को लगभग यथावत रूप मे स्वीकार कर लिया गया है।

अनुमान अनु और मान'' इन दो शब्दो से मिलकर बना है जिनमे से प्रथम का अर्थ है पश्चात और द्वितीय का अर्थ है ज्ञान । अत अनुमान का शाब्दिक अर्थ हुआ 'पश्चात ज्ञान' अर्थात् वह ज्ञान जो एक ज्ञान के पश्चात् आता है अनुमान कहा जाता है। अनुमान शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से की जा सकती है— अनुमिति अनुमानम् तथा अनुमीयते अनेन इति अनुमानम्। प्रथम अर्थ मे अनुमान अनुमिति प्रमा का बोधक है जबकि द्वितीय अर्थ मे अनुमान अनुमिति प्रमा के करण का वाचक है। अर्थात् अनुमान अनुमिति प्रमा का साधन है। सामान्यत सभी दार्शनिको ने **"अनुमितिकरणमनुमानम्"** को अनुमान का लक्षण माना है। किन्तु अनुमिति प्रमा के लक्षण तथा उसके करण को लेकर विभिन्न दर्शनो मे भिन्न-भिन्न मतो का प्रतिपादन किया गया है।

अनुमान का लक्षण

वैशेषिकसूत्रकार **महर्षि कणाद** की मान्यतानुसार कार्य, कारण, सयोगी, विरोधी एव समवायी आदि लिगो के आधार पर सम्बद्ध "लिगी" का जो ज्ञान होता है, उसको लैगिक अर्थात अनुमान कहते है— **"अस्येद कार्यं कारण सयोगि विरोधि समवायि चेति लेङ्गिकम्।"**[1] लिग का ज्ञान प्रसिद्धिपूर्वक होता है—**"प्रसिद्धिपूर्वकत्वादपदेशस्य"।**[2] प्रसिद्धि को ही व्याप्ति कहते है। जिसके साथ जिसकी प्रसिद्धि होती है, वह उसका लिग कहलाता है और लिग ज्ञान व्याप्ति-ज्ञानाधीन होने के कारण, अनुमिति प्रमा का साधक होता है। व्याप्ति ज्ञान के बिना, लिग ज्ञान, प्रमिति साधक नही हो सकता। अनुमिति के लिए प्रसिद्धि को नियमित होना चाहिए। इसके लिए ग्रन्थकार ने **पाँच हेतुओ** का उल्लेख किया है। इनमे से किसी एक को लिग बनाकर अनुमान किया जाता

है। ये है—**कारण-कार्य कार्य-कारण सयोग विरोध और समवाय।**

प्रशस्तपाद ने कणादोक्त लिगो को न गिनाकर सामान्य रूप से अनुमान का लक्षण निर्दिष्ट किया है। उनके अनुसार अनुमान वह है जिसमे लिग के दर्शन से ज्ञान उत्पन्न होता है—**"लिगदर्शनात् सजायमान लैगिकम्।"**[3] यहाँ "दर्शन का अर्थ केवल चक्षु से उत्पन्न होने वाला चाक्षुष प्रत्यक्ष ज्ञान ही नही है अपितु सभी ज्ञान या उपलब्धि इससे अभिप्रेत हैं। इसीलिए **उदयन** ने दृष्ट अनुमिति तथा स्मृति द्वारा ज्ञात हेतुओ से भी अनुमान होना स्वीकार किया है—**"दर्शन ज्ञान तथा च दृष्टादनुमितात् स्मृताच्च लिगादित्यर्थ ।"**[4] **शकर मिश्र** ने प्रशस्तपाद का समर्थन करते हुए कहा है कि व्याप्ति-विशिष्ट पक्ष धर्मरूप हेतु से उत्पन्न होने वाला ज्ञान लैगिक है। **शिवादित्य** के अनुसार जो अनुमिति प्रमा के अयोग से व्यच्छिन्न हो वही अनुमान है और वह व्याप्ति पक्षधर्मता से विशिष्ट हेतु ज्ञान ही है।

सक्षेपत **वैशेषिक दर्शन** मे अनुमान हेतु के ज्ञान से उत्पन्न होने वाला सम्यक ज्ञान है। ऐसा लक्षण करने से सशय विपर्यय व स्मृति का अनुमान से व्यावर्तन हो जाता है, क्योकि यह यथार्थरूप से अपने विषयो का बोध न कराने के कारण सम्यक् ज्ञान नहीं है। सार यह है कि अनुमिति का करण लिग ज्ञान (अनुमान) है। इसे सवर्द्धित रूप मे यह कहा गया है कि लिग का ज्ञान नही वरन लिग परामर्श अनुमिति का कारण है।

न्यायसूत्रकार **महर्षि गौतम** ने **"तत्पूर्वक त्रिविधमनुमानम्"** कहकर अनुमान का लक्षण निर्धारित किया है। इस सूत्र मे तत् पद के विभिन्न अर्थ निश्चित किये गये है। **वात्स्यायन** की मान्यता है कि तत्" शब्द से "लिग–लिगि दर्शन' तथा "लिग दर्शन दोनो अभिप्रेत हैं। लिगी के साथ लिग का सम्बन्ध ग्रहण हो जाने के बाद लिग दर्शन से व्यापित का स्मरण होता है। व्याप्ति के स्मरण के पश्चात् लिगज्ञान होता है और लिग ज्ञान से परोक्ष वस्तु की जानकारी होती है। इसे ही अनुमान कहते है— **"तर्कपूर्वकमित्यनेन लिङ्गलिङ्गिनो सबन्धदर्शन लिगदर्शनम् अनुमीयते।"**[5] वात्स्यायन के मत को अधिक स्पष्टता प्रदान करने का श्रेय **उद्योतकर** को है। उनके अनुसार महानस आदि मे लिग–लिगी के सम्बन्ध का दर्शन अर्थात् ज्ञानरूप प्रथम प्रत्यक्ष होता है। तदनन्तर पर्वत आदि पक्ष मे धूम आदि लिग का द्वितीय प्रत्यक्ष होता है और व्याप्ति का स्मरण होता है। उसके पश्चात् तृतीय लिग दर्शन (धूम का प्रत्यक्ष ज्ञान) होता है, वही अनुमिति का करण होने से अनुमान कहलाता है। इस तृतीय लिग दर्शन को ही **उद्योतकर** ने पारिभाषिक रूप से **"परामर्श"**[6] या **"लिग परामर्श"**[7] कहा है।

जयन्त भट्ट के अनुसार पक्षसत्व इत्यादि पॉच लक्षणो से युक्त लिग के ज्ञान से व्याप्ति स्मरण के द्वारा उत्पन्न परोक्ष लिगी (साध्य) विषयक ज्ञान अनुमिति है और उसके कारण को अनुमान कहा जाता है।[8] जयन्त भट्ट द्वारा स्वीकृत **हेतु के पाँच लक्षण हैं–1 पक्षसत्त्व, 2 सपक्षसत्त्व, 3 विपक्षासत्त्व या विपक्षव्यावृत्ति, 4 अबाधित विषयत्व, 5 असत्प्रतिपक्षत्व।** हेतु के इन पॉच लक्षणो मे से यदि किसी एक का अभाव हुआ, तो हेतु सत् हेतु न रहकर,

हेत्वाभास हो जाता है।[9]

जयन्त की यह भी मान्यता है कि यद्यपि अनुमान मुख्यत प्रत्यक्ष पर ही आश्रित होता है जैसे धुँआ को देखकर आग का अनुमान मनुष्य को देखकर मरणशीलता का अनुमान बादल को देखकर वर्षा का अनुमान आदि परन्तु जहॉ प्रत्यक्ष द्वारा अनुमान का आधार नही मिलता है वहॉ आप्तवचन द्वारा प्राप्त ज्ञान ही अनुमान का आधार हो जाता है। जैसे शास्त्र वचन द्वारा आत्मा की अमरता का ज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद हमे यह अनुमान हो जाता है कि आत्मा निरवयव है। इस प्रकार जयन्त का मानना है कि हालॉकि प्रधानत प्रत्यक्ष ही अनुमान का आधार है किन्तु अन्य प्रमाण भी अनुमान के आधार हो सकते है।

नव्य न्याय के जनक **गगेशानुसार "व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मता के ज्ञान से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को अनुमिति और उसके कारण को अनुमान कहते है। अनुमान लिग विषयक परामर्श है, न कि परामृश्यमानलिग।"**[10] **रघुनाथ शिरोमणि** ने गगेश के मत का समर्थन किया है। **केशव मिश्र** के अनुसार जिससे अनुमिति की जाती है, वह अनुमान है। लिग परामर्श से अनुमिति की जाती है अत लिग परामर्श ही अनुमान है।[11] **"तर्कसग्रह"** मे भी **"परामर्श से उत्पन्न ज्ञान को अनुमिति तथा उसके कारण को अनुमान कहा गया है।"**[12]

मीमासा दर्शन के प्रवर्तक **महर्षि जैमिनि** ने अनुमान का कोई लक्षण निर्दृष्ट नही किया है। किन्तु भाष्यकार **शबरस्वामी** ने अनुमान के लक्षण को स्पष्ट करते हुए लिखा है— ज्ञात सम्बन्ध (विदित व्याप्ति सम्बन्ध) के सम्बन्धी एक देश दर्शन से (लिग दर्शन से) एक देशान्तर (अन्य एकदेश रूप साध्य) असन्निकृष्ट अर्थ (असम्बद्ध विषय) का ज्ञान ही अनुमान है—**"अनुमान ज्ञातसम्बन्धस्य एकदेशदर्शनात् एकदेशान्तरे असन्निकृष्टे अर्थे बुद्धि।"**[13]

शाबर भाष्य के भाष्यघटक ज्ञातसम्बन्धस्य पद की व्याख्या करते हुए **कुमारिल भट्ट** ने चार पक्ष प्रस्तुत किये है— "प्रथम पद को प्रमाता या एकदेशी के रूप मे व्यक्त किया जा सकता है अथवा "ज्ञान सम्बन्ध से केवल सम्बन्ध को लिया जा सकता है और एक देश से उसके दो अग अथवा लिग—लिगी समुदाय का भी ग्रहण किया जा सकता है।'[14]

इस प्रकार से **कुमारिल भट्ट** ने शबर स्वामी द्वारा प्रस्तुत अनुमान की परिभाषा की व्याख्या चार प्रकार से की है जिनको स्पष्ट करते हुए **पार्थसारथि** मिश्र ने लिखा है—

प्रथम विकल्प के अनुसार जिस प्रमाता के द्वारा सम्बन्ध ज्ञात है उसकी बुद्धि (ज्ञान) ही अनुमान है। अर्थात जिस अनुमाता को पूर्व मे धूम और अग्नि का सम्बन्ध ज्ञात हो वही यदि कालान्तर मे पर्वत पर धूम देखता है, तो उसे तुरन्त व्याप्ति स्मरण द्वारा वहॉ अग्नि का अनुमान हो जाता है।

द्वितीय विकल्प के अनुसार महानस रूप सपक्ष में धूम और अग्नि के नियत सम्बन्ध को जानकर पक्षरूप पर्वत पर धूम के दर्शन से अग्नि का जो ज्ञान होता है वही अनुमान है।

तृतीय विकल्प के अनुसार सम्बन्ध के एक सम्बन्धी धूम से, अपर सम्बन्धी अग्नि का जो

ज्ञान होता है वही अनुमान है।

चतुर्थ और अन्तिम विकल्प के अनुसार एकदेश (समुदायी) के ज्ञान से लिग दर्शन (धूम दर्शन) के माध्यम से दूसरे समुदायी (साध्यरूप अग्नि) का जो ज्ञान होता है वही अनुमान है।

प्राभाकर मीमासको के अनुसार समान अधिकरण मे आश्रित रहने वाले एकदेशो (हेतु और साध्य) के अधिगत सम्बन्ध नियम (महानस आदि अधिकरण मे आश्रित रहने वाले हेतु धूम और साध्य अग्नि मे अवधारित किया हुआ व्याप्ति सम्बन्ध द्वारा एकदेश दर्शन पर्वत शिखर पर दिखाई देने वाले हेतु— धूम का ज्ञान) से अन्य एक देश (साध्य-अग्नि) रूप असन्निकृष्ट अर्थ मे जो अबाधित ज्ञान होता है वही अनुमान है।

साख्यसूत्र" के प्रणेता **महर्षि कपिल** के अनुसार **प्रतिबन्ध दर्शन से प्रतिबद्ध का ज्ञान होना ही अनुमान है।** [15] यहॉ प्रतिबन्ध दर्शन से आशय व्याप्ति ज्ञान से है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि व्याप्ति ज्ञान से होने वाला व्यापक (प्रतिबद्ध)का ज्ञान अनुमान है।[16] **ईश्वरकृष्ण** के अनुसार लिग से लिगी का ज्ञान अनुमान है।[17] ईश्वरकृष्ण के मत की व्याख्या करते हुए **माठर** ने लिखा है कि अनुमान लिगलिगिपूर्वक अर्थात् हेतु तथा साध्य से उत्पन्न होने वाला ज्ञान है। इसमे लिग से लिगी तथा लिगी से लिग दोनो प्रकार का ज्ञान अनुमान मे होता है। जैसे त्रिदण्ड से सन्यासी का ज्ञान तथा सन्यासी से त्रिदण्ड का ज्ञान होता है।[18] **वाचस्पति मिश्र** व्याप्य-व्यापक भाव तथा पक्षधर्मता ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान को अनुमान कहते हैं।[19]

"योगसूत्र" मे अनुमान का कोई निश्चित लक्षण निर्दृष्ट नही किया गया है परन्तु **योगभाष्य** मे कहा गया है कि अनुमान करने योग्य वस्तु का समान जातियो से युक्त करने वाला तथा भिन्न जातियो से पृथक करने वाला जो सम्बन्ध है तद्‌विषयक सामान्यरूप से निश्चय करने वाली प्रधानवृत्ति को अनुमान कहते हैं। आगे कहा गया है कि लिग से लिगी का सम्बन्ध ग्रहणकरके सामान्य रूप से होने वाला निश्चय अनुमान है।

वस्तुत देखा जाय तो जिस "पर्वतो-वह्निमान्" इत्याकारक व्यवसायरूप ज्ञान को न्याय दर्शन मे अनुमिति प्रमा माना गया है उसे ही साख्य—योग दर्शन मे बुद्धि—वृत्ति रूप अनुमान प्रमाण कहा जाता है तथा जिसको नैयायिक अह वह्नि अनुमिनोमि इत्याकारक अनुमिति ज्ञान को विषय करने वाला अनुव्यवसाय कहते है, उसे ही साख्य-योग मे पौरुषेय बोध रूप अनुमिति प्रमा कहा गया है।

अद्वैत वेदान्त मे अनुमान का सामान्य और विशेष दोनो लक्षण दिया गया है। सामान्य लक्षण के अनुसार अनुमिति का करण अनुमान है— **"अनुमितिकरणमनुमानम्"**[20] और विशेष लक्षण के अनुसार ज्ञाप्ति ज्ञानत्व धर्म से अवच्छिन्न व्याप्तिज्ञान द्वारा उत्पन्न होने वाला ज्ञान अनुमिति है—**"अनुमितिश्च व्याप्तिज्ञानत्वेन व्याप्तिज्ञानजन्या।"**[21] अनुमितिमूलक यथार्थज्ञान, व्याप्ति ज्ञानत्व रूप होता है, अत अनुव्यवसाय, स्मृति, शब्द ज्ञान आदि के लक्षणो मे इसकी अतिव्याप्ति नहीं होती।[22] 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' मे धूम को वह्नि व्याप्य कहा गया है, क्योंकि

धूम मे वह्नि की व्याप्ति रहती है। इस व्याप्ति ज्ञान को व्याप्ति प्रकारक ज्ञान कहा गया है। **धर्मराजाध्वरीन्द्र** के अनुसार अनुमान की प्रक्रिया मे सर्वप्रथम पक्ष मे हेतु के ज्ञान से महानस आदि मे ग्रहण किया हुआ व्याप्ति ज्ञान का सस्कार उद्‌वुद्ध होता है तदुपरान्त व्याप्ति के स्मरण से अनुमिति होती है। पक्षधर्मता का ज्ञान होने पर भी व्याप्ति का यदि स्मरण न हुआ तो अनुमिति नही हो सकती है–**"अनुमितिकरण च व्याप्तिज्ञान तत्सस्कारोऽवान्तर व्यापार, न तु तृतीय लिग परामर्शोऽनुमितौ करणम् तस्यानुमिति हेतुत्वाऽसिद्धया तत्करणत्वस्य दूरनिरस्त्वात्।"**[23]

जैन दर्शन के उपलब्ध सहित्य मे केवल **"न्यायावतार"** मे ही अनुमान का लक्षण निर्दृष्ट किया गया है। **सिद्धसेन दिवाकर** के अनुसार साध्य के अभाव मे न होने वाले अविनाभावीय लिग द्वारा साध्य का जो निश्चयात्मक ज्ञान होता हे उसे अनुमान कहते हैं–

"साध्यविनानुमो लिगात् साध्यनिश्चायक स्मृतम्।
अनुमान तद्भ्रान्त प्रमाणत्वात् समक्षवत् ।।"[24]

अकलक के अनुसार साधन द्वारा साध्य का ज्ञान होना ही अनुमान है– **"साधनात् साध्यविज्ञानम् अनुमानम् तदत्यते।"**[25] विद्यानन्द माणिक्यनन्दि हेमचन्द्र धर्मभूषण यशोविजय जैसे परवर्ती जैन आचार्यो ने अकलक के लक्षण को स्वीकार किया है। इन सब लक्षणो का सार यह है कि **अनुमिति का असाधारण कारण अनुमान कहलाता है।**

बौद्ध दार्शनिक **दिङ्नाग** ने अनुमान के लक्षण मे कहा है कि **"ज्ञात अविनाभाव सम्बन्ध द्वारा नान्तरीयक अर्थ का दर्शन ही अनुमान है।"**[26] एक वस्तु का तत्सम्बन्धित दूसरी वस्तु के अभाव मे कभी भी न रहना नान्तरीयक कहलाता है या जो वस्तु इस नान्तरीयक (अविनाभाव) सम्बन्ध से सम्बद्ध होती है वह नान्तरीयक है। जैसे सूर्योदय से सर्वत्र प्रकाश होता है, अन्यथा नहीं। जिसे दो वस्तुओ का अविनाभाव सम्बन्ध ज्ञात है उसे ही नान्तरीयक" एक वस्तु के देखने से अपर वस्तु का अनुमान होता है। यहाँ पर "नान्तरीयक विशेषण है तथा "अर्थ' विशेष्य। अतएव नान्तरीयकार्थ मे कर्मधारय समास हुआ। यह हेतु त्रिरूपता सम्पन्न होता है लिग का अनुमेय मे होना (पक्ष मे रहना), सपक्ष मे निश्चित सत्व विपक्ष मे निश्चित असत्व ही त्रिरूपता है–**"अनुमेयेऽथ तत्तुल्ये सद्‌भावो नास्तिताऽसति।"**[27] इस त्रिरूप लिग के द्वारा ही साध्यरूप अर्थ का ज्ञान होता है। **"न्यायप्रवेशपजिका"** मे भी इसे ही शब्दातर से विवेचित किया गया है।[28]

धर्मकीर्ति ने **"प्रमाणवार्तिक"** मे अनुमान का सामान्यलक्षण देते हुए लिखा है कि किसी सम्बन्धी के धर्म से धर्मी के विषय मे जो ज्ञान परोक्ष रूप से उत्पन्न होता है, वही अनुमान है।[29] **मनोरथ नन्दी** ने इसकी व्याख्या मे कहा है कि **अन्वय-व्यतिरेक** लिग द्वारा, उसे आश्रय मे जो परोक्ष अर्थ की प्रतीति होती है, उसे अनुमान कहा जाता है। वह त्रैरूप लिग से उत्पन्न होता है। यहाँ अनुमान मे परोक्ष अर्थ की एकान्तरिक रूप से सिद्धि की जाती है।[30]

'न्यायविन्दु' मे **धर्मकीर्ति** ने इस प्रकार का कोई भी लक्षण निरूपित नहीं किया है, वरन् इसमे अनुमान को स्वार्थनुमान व परार्थानुमान दो रूपो मे विभक्त करके ही दोनो का भिन्न रूप से लक्षण विवेचित किया है। **शान्तरक्षित, धर्मोत्तर व मोक्षाकर गुप्त** ने भी इसी परिपाटी का

अनुसरण किया है।

इस प्रकार हम देखते है कि चार्वाक के अतिरिक्त सभी भारतीय दार्शनिक ज्ञान प्राप्ति के साधन के रूप मे अनुमान की वैधता को स्वीकार करते है। इनके अनुसार अनुमान किसी पूर्व ज्ञान के पश्चात् आता है। इनकी मान्यतानुसार अनुमान की प्रक्रिया हेतु पद और साध्य पद के बीच व्याप्ति के पूर्व ज्ञान से सम्पूरित होती है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि **अनुमान वह विचार प्रणाली है जिसमे किसी हेतु (लिग) के द्वारा पक्ष के सम्बन्ध मे किसी अन्य वस्तु (साध्य) का ज्ञान प्राप्त होता है, क्योकि उन दोनो मे व्याप्ति का सम्बन्ध विद्यमान रहता है।**

अनुमान का प्रामाण्य

समग्र भारतीय दार्शनिक वाडमय मे **चार्वाक** ही ऐसा दार्शनिक सम्प्रदाय है जो अनुमान प्रमाण को स्वीकार नही करता। जडवादी चार्वाक दार्शनिको ने समस्त मानवीय अनुभव का मूल्याकन केवल प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा सम्पादित करने का प्रयास किया है। उनका मौलिक सिद्धान्त है कि जो पदार्थ प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा उपलब्ध होता है केवल उसकी की सत्ता है और जिसकी प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा उपलब्धि नहीं होती, उसका अस्तित्व अस्वीकार्य है। चूँकि स्वर्ग, नरक आत्मा, परमात्मा आदि अतीन्द्रिय पदार्थो का प्रत्यक्ष ज्ञान नही हो सकता, इसलिए उनकी सत्ता भी नहीं मानी जा सकती। अन्य सभी दार्शनिको ने अतीन्द्रिय पुरूष प्रकृति ईश्वर आदि तथा लौकिक व्यवहार मे आने के लिए अनुमान की आवश्यकता को स्वीकार किया है। किन्तु चार्वाक दार्शनिको ने अतीन्द्रिय और लौकिक व्यवहार मे आने वाले पदाथो के लिए भी अनुमान तथा अन्य प्रमाणो को अनावश्यक व अप्रामाणिक ठहराया है। प्राय सभी दार्शनिक निश्चयात्मक ज्ञान को ही प्रवृत्ति का जनक मानते है। किन्तु चार्वाको की मान्यता है कि जगत् के सभी कार्यकलाप सभावना के आधार पर निष्पन्न होते है। इस सभावना से कभी–कभी हमे वैध और प्रामाणिक ज्ञान की प्राप्ति होती है। अत सभावनाा को निश्चयात्मक मानकर अनुमान की जो प्रामाणिकता स्वीकार की जाती है, वह काकतालीय (सयोगवशात्) सभावना सर्वदा सफल प्रवृति की जनक न होने के कारण अप्रामाणिक है।

चार्वाक के विरूद्ध **नैयायिको** का कहना है कि अनुमान सर्वथा प्रामाणिक है क्योकि यह हेतु व साध्य के नियत अनौपाधिक सम्बन्ध जिसे व्याप्ति कहा जाता है पर आधारित होता है। किन्तु **चार्वाक** इस तर्क को नहीं मानते। उनका कहना है कि अनुमान युक्तिपूर्ण तथा निश्चयात्मक तभी हो सकता है, जब व्याप्ति वाक्य सर्वथा निस्सन्देह हो। किन्तु व्याप्ति सम्बन्ध को किसी प्रकार से स्थापित नही किया जा सकता। **वाह्य या आतर प्रत्यक्ष द्वारा यह सम्बन्ध स्थापित नही हो सकता,** क्योकि वाह्य प्रत्यक्ष इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है तथा यह वर्तमान और सम्बद्ध वस्तुओ का ग्राहक है। इसलिए भूत भविष्य और वर्तमान सभी विषयो से सम्बद्ध

सम्पूर्ण हेतुओ व साध्यो के मध्य विद्यमान रहने वाला नियत सम्बन्ध अर्थात् व्याप्ति का ग्रहण बाह्य इन्द्रिय प्रत्यक्ष द्वारा सभव नही है। व्याप्ति सम्बन्ध की स्थापना अन्तर प्रत्यक्ष द्वारा भी नही हो सकती क्योकि मन बाह्य पदार्थो का ग्रहण इन्द्रियो से स्वतत्र रहकर नही कर सकता क्योकि वह बाह्य इन्द्रियो द्वारा प्रदान की गयी सामाग्री को ही ग्रहण करता हे। **अनुमान के द्वारा भी इसे स्थापित नही किया जा सकता** क्योकि जिस अनुमान के द्वारा इसकी स्थापना की जायेगी उसकी सत्यता अतत व्याप्ति पर ही निर्भर करती है। इस तरह अनुमान को व्याप्ति का आधार माानने पर **अन्योन्याश्रय दोष** होगा। व्याप्ति की स्थापना हम **शब्द** के द्वारा भी नही कर सकते क्योकि शाब्दिक प्रमा भी अनुमान के द्वारा ही सिद्ध होती है। दूसरी बात यह है कि यदि अनुमान सदैव शब्द प्रमाण पर ही निर्भर हो तो फिर कोई भी व्यक्ति स्वतत्र रुप से अनुमान नही कर सकता। उसे सदैव किसी विश्वास योग्य व्यक्ति पर निर्भर करना होगा। इसी तरह **उपमान** सज्ञा– सज्ञी सम्बन्ध ज्ञान तक ही सीमित रहता है, अत उसके द्वारा और उक्त अन्य प्रमाणो द्वारा अनौपचारिक व्याप्ति सम्बन्ध का ज्ञान नहीं हो सकता।[31]

अपने मत के समर्थन मे चार्वाक यह भी कहते है कि यदि यह मान भी लिया जाय कि किसी प्रमाण के द्वारा व्याप्ति सम्बन्ध का ग्रहण होता है तो यहॉ प्रश्न यह उठता है कि यह सम्बन्ध धूमत्व एव वह्निनत्व आदि सामान्यो मे गृहीत होता है या धूम और अग्नि व्यक्तियो मे? सामान्यो मे तो यह ग्रहीत नही हो सकता क्योकि सामान्य नाम की कोई वस्तु है ही नही[32] और यदि ऐसा मान भी लिया जाय तो **सिद्धसाधन दोष** होगा क्योकि अग्नित्व सामान्य के ज्ञान मे पर्वतीय अग्नि जिसका कि अनुमान किया जा रहा है, भी निहित होने से अवगम हो जाती हे। व्यक्तियो मे इस सम्बन्ध का अवधारण इसलिए नही किया जा सकता क्योकि धूम और अग्नि व्यक्तियो के अनन्त होने के कारण व्याप्ति का भी आनन्त्य मानना पड़ेगा। इस तरह से **आनन्त्य दोष** होगा। इस आधार पर कहा जा सकता है कि विशेष पदार्थों मे व्याप्ति गृहीत नही होती और सामान्य पदार्थो मे सिद्ध साधन दोष होने से अनुमान को प्रमाण नही माना जा सकता।[33] चार्वाको के अनुसार **कार्य-कारण सम्बन्ध** के आधार पर भी व्याप्ति सम्बन्ध को स्थिर नही किया जा सकता क्योकि कार्य–कारण सम्बन्ध भी एक व्याप्ति है। अत उपर्युक्त कठिनाइयो के कारण इसकी स्थापना भी सभव नही है।

चार्वाको का यह भी कहना है कि दो वस्तुओ को **कई बार साथ-साथ देखकर** हम कार्य-कारण सम्बन्ध या किसी अन्य व्याप्ति की स्थापना नही कर सकते क्योकि साहचर्य सम्बन्ध को निरौपाधिक भी होना चाहिए। जब तक दो वस्तुओ का सम्बन्ध उपाधि रहित न हो तब तक वह अनुमान का सही आधार नही माना जा सकता। **प्रत्यक्ष** के द्वारा यह सिद्ध नहीं हो सकता कि कोई व्याप्ति उपाधि रहित है, क्योकि प्रत्यक्ष व्यापक नही हो सकता। यह सभव नहीं है कि प्रत्यक्ष के द्वारा सभी उपाधियो का ज्ञान प्राप्त हो। उपाधि निरास के लिए **अनुमान** या **शब्द** या **अन्य किसी प्रमाण** की सहायता लेना अनुचित होगा, क्योकि जो स्वय असिद्ध है वह दूसरे का

साधन कैसे कर सकता है। कहा भी गया है – **स्वय असिद्ध कथ परान् साधयति।** चार्वाको के अनुसार हमारे जीवन के अनेक कार्य यद्यपि अनुमान द्वारा सम्पन्न होते हैं। उनमे से कुछ अनुमान सफल प्रवृति वाले होते है कुछ नही। इसलिए चार्वाक अनुमान को पूर्णत आकस्मिक मानते है क्योकि यथार्थ निश्चयात्मकता अनुमान का स्वाभाविक गुण या धर्म नहीं है। वस्तुत सशयता ही जीवन की मार्गदर्शिका है। इस प्रकार अनेक तर्को के आधार पर चार्वाक सिद्ध करत है कि अनुमान को विश्वास योग्य एव निश्चयात्मक ज्ञान का वैध व प्रामाणिक साधन नही माना जा सकता।

किन्तु अनुमान प्रमाण के बारे मे चार्वाक के उपर्युक्त विचार दोषपूर्ण है। अनुमान के विरुद्ध चार्वाक द्वारा प्रस्तुत आक्षेपो का निराकरण करते हुए **उदयन** ने लिखा है कि सभावना एक प्रकार का सशय ज्ञान है और अनुमान सभावना पर नही अपितु निश्चित रुप से ज्ञात स्वाभाविक सम्बन्ध पर आधारित होता है। इसलिए सम्भावना को जीवन के समस्त कार्य-व्यापारो का आधार नही माना जा सकता। धूम के दर्शन से उसके स्वभाव तथा जब उसका प्रत्यक्ष ज्ञान नही होता तब उसकी असत्ता का निश्चित ज्ञान होता है। अत जीवन के कार्य पदार्थो की उपस्थिति तथा अनुपस्थिति के निश्चयामक ज्ञान द्वारा ही सम्पन्न होते है, सम्भावनाओ के आधार पर नही। चार्वाक अप्रत्यक्षगम्य वस्तुओ की सत्ता नही मानते। लेकिन चक्षु आदि इन्द्रियो की सत्ता अनुमान द्वारा ही सिद्ध होती है। इसलिए इन्द्रियो की सत्ता निर्धारित करने के लिए चार्वाक को अनुमान प्रमाण को मानना चाहिए। दूसरी बात यह भी है कि परमाणु आदि अप्रत्यक्षगम्य पदार्थो की सिद्धि अथवा निषेध प्रत्यक्ष द्वारा नहीं हो सकती। अत इनके लिए भी अनुमान जैसे अन्य प्रमाणो की आवश्यकता प्रतीत होती है क्योकि प्रत्यक्षगम्य न होने पर भी उनकी सत्ता निर्विवाद रुप से मानी जाती है। चार्वाक कालान्तर मे और देशन्तर मे हेतु के उपाधियुक्त होने की सम्भावना के आधार पर अनुमान का खण्डन करते है। किन्तु यह तर्क दोषपूर्ण है, क्योकि प्रत्यक्षगम्य न होने के कारण कालान्तर और देशान्तर के सद्भाव की भी सिद्धि नही हो सकती। इसी प्रकार चार्वाको द्वारा कार्यकारण भाव का खण्डन भी अनुचित है। चार्वाक कार्यकारणभाव पर सशय करते है किन्तु इस सशय का भी कोई कारण होना चाहिये। यदि उसका कोई कारण न माना जाय तो किसी भी कार्य की किसी भी कारण से निष्पत्ति हो सकती है, मिटटी से मोदक और बालू से स्वर्ण आभूषण निर्मित किये जा सकते है। किन्तु यह असम्भव तथा अतार्किक है। इसलिए चार्वाक को भी सशय का कोई न कोई कारण अवश्य मानना होगा। अत न चाहते हुए भी उनके लिए कार्यकारण भाव को मानना अनिवार्य है।

आचार्य **धर्मकीर्ति** ने अनुमान की आवश्यकता के लिए चार्वाक की आलोचना करते हुए लिखा है कि प्रत्यक्ष के समान अनुमान भी अविसवादी है और वाह्यार्थ से उत्पन्न होता है, इसलिए प्रत्यक्ष के समान ही अनुमान को प्रमाण माना जाना चाहिए।[34] चार्वाको का यह कथन कि "अनुमान और शब्द कभी कभी दोषपूर्ण होते है", प्रत्यक्ष पर भी लागू होता है। प्रत्यक्ष भी कभी

कभी दोषयुक्त या भ्रमात्मक होता है। जैसे पीतराग से पीडित रोगी को श्वेत वस्तु भी पीली दिखाई देती हे। अत जिस प्रकार प्रत्यक्ष प्रामाणिक ज्ञान है उसी प्रकार अनुमान और शब्द भी हो सकते है। पुनश्च चार्वाक परलोक स्वर्ग आदि अप्रत्यक्ष विषयो के अस्तित्व को न मानकर स्वय प्रत्यक्ष की सीमा के बाहर चले जाते है। वस्तुओ को न देखने के कारण वे अनस्तित्त्व (अभाव) का अनुमान कर लेते है जो कि अनुचित है। फिर जब चार्वाक यह कहते है कि सभी प्रत्यक्ष प्रामाणिक होते है तब वे अनुमान की ही सहायता लेते है क्योकि यहाँ अतीत के प्रामाणिक प्रत्यक्षो के आधार पर ही वे भविष्य के प्रत्यक्षो के सम्बन्ध मे अनुमान करते है। इसी तरह चार्वाक जब अपने विपक्षियो से तर्क करते है तो उस समय भी वे अपने विपक्षियो के शब्दो से उनके विचारो का अनुमान लगाते है, अन्यथा वे किसी वाद–विवाद मे भाग ही नही ले सकत।

आचार्य धर्मकीर्ति की उपर्युक्त युक्तियो का अनुसमर्थन करते हुए **बौद्ध** दार्शनिक शान्तरक्षित कमलशील, **नैयायिक** वाचस्पति मिश्र, जयन्त भट्ट **जैन** सिद्धर्षिगणि, हेमचन्द्र, अनन्तवीर्य, मल्लिषेण आदि दार्शनिको ने चार्वाको की मान्यताओ का खण्डन करते हुए अनुमान की आवश्यकता से स्वीकार किया है जिसे तर्कयुक्त माना जाना चाहिए, क्योकि लौकिक अनुभव से भी यही सिद्ध होता है कि मनुष्य के सभी कार्यकलाप केवल प्रत्यक्ष पर ही निर्भर नही हो सकते। अत व्यावहारिक दृष्टिकोण से भी अनुमान के अस्तित्व का निषेध नही किया जा सकता। **जयन्त भट्ट** ने ठीक ही कहा है कि **महापुरुषो से लेकर साधारण गडेरियो तक सभी लोग अनुमान का सहारा लेकर काम चलाते है। अनुमान का आलाप करने पर तो प्रत्यक्ष प्रमाण से भी काम नही चल सकता यानी लौकिक कार्यकलाप करना भी कठिन हो जायेगे।"**[35] अत अनुमान प्रमाण की उपयोगिता पर शका करना व्यर्थ है। सभवत इसी कारण चार्वाको के अतिरिक्त अन्य सभी दार्शनिको ने अनुमान को एक पृथक् प्रमाण के रूप मे स्वीकार किया है।

अनुमिति का करण

अनुमान प्रमाण के स्वरूप पर विचार करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अनुमिति का करण ही अनुमान है– **"अनुमिति करण अनुमानम्।"**[36] किसी न किसी रूप मे सभी दर्शनिको ने इसे स्वीकार किया है। किन्तु करण किसे कहते है और अनुमान का करण कौन हो सकता है? इस सम्बन्ध मे दार्शनिको मे मतभेद है। अनुमिति के **करण** के विषय मे मुख्यत **चार मत** पाये जाते है–1 **लिग ज्ञान, 2 लिग परामर्श 3 ज्ञात ज्ञायमान या परामृश्यमानलिग 4 व्याप्तिज्ञान।**

वैशेषिक दार्शनिको ने "व्यापारयुक्त असाधारण कारण को ही करण" माना है। उनके **अनुसार परामर्श ही व्यापार है। अत उससे युक्त लिंग ज्ञान ही अनुमिति का करण है।**

किन्तु **जैन** व **न्याय दार्शनिको** ने इस मत का खण्डन किया है। जैन दार्शनिक **धर्मभूषण** ने "न्यादीपिका"[37] मे लिग ज्ञान का खण्डन किया है। **न्याय दार्शनिको** का कहना है कि यदि केवल लिग ज्ञान से ही अनुमिति हो जाती, तो भूत, भविष्यत् काल के लिग ज्ञान से भी अनुमिति

होनी चाहिए। किन्तु ऐसा नही होता। पक्ष के धर्म के रूप मे ज्ञात होने पर ही कोई लिग अनुमिति का कारण हो सकता है। यदि उसकी पक्षधर्मता की जॉच करने के बाद ही उसको कारण मानना हो तो यह परामर्श ही हुआ। अत लिग ज्ञान को करण नही माना जा सकता।

न्याय दार्शनिको ने **लिग परामर्श** को अनुमिति का करण माना है। लिग परामर्श दो शब्दो के याग से बना है जिनमे से परामर्श का सामान्य अर्थ है– ज्ञान और "लिग शब्द से "व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मता विशिष्ट हेतु अभिप्रेत है। इस तरह से लिग परामर्श का अर्थ हुआ– साध्य की व्याप्ति से विशिष्ट हेतु का पक्ष मे विद्यमान रहने का ज्ञान। दूसरे शब्दो मे व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मता ज्ञान ही लिग परामर्श है।[38]

केशव मिश्र ने **तीन तरह** के लिग परामर्शो का उल्लेख किया है – क प्रथम लिग परामर्श ख द्वितीय लिग परामर्श ग तृतीय लिग परामर्श।

पर्वत पर धुँआ है– यह **प्रथम लिग परामर्श** है। इसमे लिग का सम्बन्ध पक्ष के साथ होता है। जितनी बार के देखने से हेतु और साध्य की व्याप्ति का ग्रहण हो सके वह सब मिलकर हेतु का प्रथम ज्ञान कहलाता है।

धुँआ आग का व्याप्य है– यह **द्वितीय लिग परामर्श** है। यहॉ लिग का सम्बन्ध साध्य के साथ है। व्याप्ति निश्चय के अनन्तर पक्ष मे हेतु का जो दर्शन होता है वह हेतु का द्वितीय ज्ञान है।

पर्वत पर अग्नि व्याप्य धुँआ है– यह **तृतीय लिग परामर्श** है। यहॉ लिग का सम्बन्ध पक्ष और साध्य दोनो से है। इसमे साध्य युक्त लिग का सम्बन्ध पक्ष के साथ देखा जाता है।[39] **केशव मिश्र** आदि आचार्यो के अनुसार तृतीय लिग परामर्श ही अनुमिति करण है। **गगेश** ने भी लिग परामर्श को ही अनुमिति का करण माना है। उनका कथन है कि सस्कार परामर्श का व्यापार नही है क्योकि सस्कारोत्पत्ति काल मे ही अनुमिति हो जाती है।

यहॉ एक स्वाभाविक प्रश्न यह उठता है कि लिग के तृतीय ज्ञान को ही लिग परामर्श क्यो माना जाय?

इसके उत्तर मे **केशव मिश्र** का कहना है कि प्रथम लिग ज्ञान से व्याप्ति का ग्रहण न होने के कारण उससे अनुमिति उत्पन्न नही हो सकती है। इसलिए प्रथम लिग ज्ञान को लिग परामर्श नही माना जा सकता। इसी प्रकार अग्नि का सदेह पर्वत रूप पक्ष मे विद्यमान होने पर वहॉ धूम दर्शन रूप द्वितीय लिग ज्ञान से भी अनुमिति नहीं हो सकती, क्योकि वहॉ व्याप्ति स्मरण नहीं हुआ होता और जिस व्यक्ति ने व्याप्ति गृहीत नहीं की है, उसी के समान ही यदि किसी व्यक्ति को पूर्व मे व्याप्ति निश्चय कर लेने के उपरान्त भी पर्वत पर धूम को देखकर व्याप्ति का स्मरण नहीं होता, तब ऐसी दशा मे भी अनुमिति नहीं होती। अत द्वितीय लिग ज्ञान से उद्‌बद्ध सस्कार द्वारा व्याप्ति स्मरण होने पर ही जो "धूमवाश्च अय पर्वत" इत्याकारक तृतीय लिग ज्ञान होता है उसी से "पर्वतो वह्निमान्" यह अनुमिति होती है। अत तृतीय लिग ज्ञान को ही तृतीय

लिग परामर्श कहा जाता है यदि तृतीय लिग परामर्श को न माना जाय तो "जहॉ धूम होगा वही अग्नि होगी ऐसा सामान्य ज्ञान ही होगा इसलिए पर्वत रूप स्थल विशेष मे साध्य अग्नि का उपपादन करने के लिए पर्वत म भी धूम है इत्याकरक लिग परामर्श ज्ञान मानना आवश्यक है।[40]

उद्योतक[41] तथा **उदयन**[42] आदि प्राचीन नैयायिको ने **ज्ञायमान लिग** को अनुमिति का करण माना हे। **बौद्ध** और **जैन**[43] दार्शनिको को अनुमिति के करण के रूप मे **ज्ञातलिग** ही अभिप्रेत है। इस मत के अनुसार विशिष्ट वस्तु मे जहॉ कारणता का निश्चय हुआ करता है, वहॉ उस निश्चय के आधार पर विशेषण मे कारणता का निश्चय हो जाता है क्योकि कारणता-अवच्छेदक मे निहित जितने भी पदार्थ होते है उन सबको ही कारण माना गया है। इसी दृष्टि से जब लिग विषयक विशिष्ट ज्ञान अनुमिति के प्रति कारण होता है, तब उसके आधार पर उससे विशेषणीभूत जो लिग है, उसमे भी कारणता का ज्ञान हो जाना अनुभव सिद्ध है। इसलिए **परामृश्यमानलिग** या **ज्ञानमानलिग** मे कारणता का निश्चय हो जाता है।

अद्वैत वेदान्त के अनुसार **"व्याप्ति ज्ञान"** अनुमिति का करण है और सस्कार उसका अवान्तर व्यापार है– **"अनुमितिकरणञ्च व्याप्तिज्ञानम्। तत्सस्कारोऽवान्तर व्यापार।"**[44] **मीमासको** और **कुछ नैयायिको** ने भी "व्याप्ति ज्ञान को कारण माना है। किन्तु व्यापार के विषय मे उनमे मतभेद है। जहॉ मीमासको ने "व्याप्ति ज्ञान को करण और "व्याप्ति स्मरण को उसका व्यापार माना है वहॉ नैयायिको ने "व्याप्ति ज्ञान' को करण और "परामर्श को व्यापार माना है।

वेदान्तमतानुसार तृतीय लिग परामर्श को अनुमिति का कारण नही माना जा सकता, क्योकि उसमे अनुमिति का हेतुत्व ही असिद्ध है। अद्वैत वेदान्त के मतानुसार पक्षधर्मता ज्ञान (पक्ष मे हेतु का ज्ञान) से महानस आदि मे गृहीत व्याप्ति ज्ञान का सस्कार सर्वप्रथम उद्‌बुद्ध (जागरित) होता है तदनन्तर व्याप्ति का स्मरण होते ही वह्नि की अनुमिति होती है। परन्तु पक्षधर्मता ज्ञान या लिग ज्ञान होकर भी यदि व्याप्ति का स्मरण न हुआ तो अनुमिति नही होगी। इस अन्वय–व्यतिरेक से (सस्कार उद्‌बुद्ध होने पर व्याप्ति स्मरण यदि हुआ तो अनुमिति होती है। इस अन्वय और सस्कारोद्‌बोध के अभाव मे अनुमिति नही होती, यह व्यतिरेक) अनुमिति मे व्याप्ति ज्ञान ही कारण है 'परामर्श अनुमिति मे कारण नही है, यह सिद्ध होता है। अत व्याप्ति ज्ञान को ही अनुमिति का कारण मानना उचित है।[45]

यहॉ एक प्रश्न उठता है कि यदि अनुमिति को व्याप्तिज्ञान–सस्कारजन्य मान लिया जाय, तो ऐसी स्थिति मे अनुमान का स्मृति से कोई भेद नहीं रह जाएगा, क्योकि स्मृति की उत्पत्ति भी अतीत के अनुभव के सस्कारो से ही होती है और यदि ऐसा है, तो अनुमान को ज्ञान प्राप्ति का एक नवीन साधन (प्रमाण) नहीं माना जा सकता।

इसके उत्तर मे वेदान्तपरिभाषा मे कहा गया है कि यद्यपि अतीत के सस्कारो की

पुनर्प्राप्ति (रीवाइवल) अनुमान और स्मृति दोनो के लिए आवश्यक है किन्तु दोनो मे प्रमुख अतर यह हे कि जहॅा स्मृति की उत्पत्ति केवल अतीत के सस्कारो की पुनर्प्राप्ति (रीवाइबल) से ही होती है वहॅा अनुमान मे इसके अतिरिक्त लिग का पक्ष के साथ सम्बन्ध होना भी आवश्यक है जो सस्कारो की पुनर्प्राप्ति का सदेव सहयोग करती रहे जिससे अनुमान की प्रक्रिया सभव हो सक।

अनुमान के घटक

किसी भी अनुमान मे कम से कम तीन वाक्य तथा तीन पद होते है। अनुमान मे हम किसी अप्रत्यक्ष विषय के बारे मे जानते है। ऐसे निश्चय पर पहुँचने के लिए एक साधन की आवश्यकता होती है और उस साधन मे तथा जिस निश्चय पर पहुँचते है उसमे अविच्छेद्य सम्बन्ध का होना भी आवश्यक है। आग और धुँए वाले उदाहरण मे हम इस निश्चय पर पहुँचते है कि पर्वत मे आग है। पर्वत की आग को हम प्रत्यक्ष नही देखते है? प्रश्न यह उठता है कि इस निश्चय पर पहुँचने का क्या साधन है? यह साधन धुँआ है क्योकि धुँआ और आग मे व्याप्ति सम्बन्ध है। स्पष्टत हम देखते है कि इस धुँआ और आग वाले अनुमान के तीन भाग (वाक्य) है। पहला यह है कि पर्वत मे धुँआ है (लिग दर्शन)। दूसरा यह है कि धुँआ तथा आग मे व्याप्ति है जिसे हम पहले से जानते है (व्याप्तिस्मरण)। तीसरा यह है कि पर्वत मे आग है (अनुमिति) यद्यपि उस आग को हम प्रत्यक्ष नहीं देखते है। इस प्रकार हम देखते है कि अनुमान मे कम से कम तीन वाक्य अवश्य होते है। **मानसिक विचार क्रम की दृष्टि** से अनुमान के पहले वाक्य मे हेतु सहित पक्ष का ज्ञान होता है दूसरे मे हेतु तथा साध्य की व्याप्ति का ज्ञान होता हे और अतिम से यह निश्चय निकलता है कि साध्य का सम्बन्ध पक्ष के साथ है। किन्तु इसी तथ्य को जब **वाक्यो के द्वारा व्यक्त किया जाता** है तो प्रथम वाक्य मे पक्ष का सम्बन्ध साध्य के साथ स्थापित किया जाता है। जैसे पर्वत वह्निमान है तदनन्तर द्वितीय वाक्य मे इसका हेतु बताया जाता है। अर्थात यह बताया जाता है कि किस हेतु के कारण पर्वत वह्निमान है। जैसे चूँकि पर्वत धूमवान है । यहॅा धूम हेतु है। अतिम वाक्य मे यह दिखाया जाता है कि साध्य के साथ हेतु का अविच्छेद्य सम्बन्ध है। जैसे जहॅा जहॅा धुँआ है वहॅा वहॅा आग है। जैसे चूल्हे मे।

यहॅा **भारतीय अनुमान** और **पाश्चात्य न्यायवाक्य** (Syllogism) मे पर्याप्त साम्य दिखाई देता है क्योकि पाश्चात्य Syllogism मे भी तीन वाक्य माने जाते है। अनुमान को वाक्यो मे व्यक्त करने का जो क्रम निर्धारित किया गया है उसमे प्रथम द्वितीय एव तृतीय वाक्य क्रमश Syllogism के निष्कर्ष (Conclusion), मुख्य पद (Major Premise) और अमुख्य (Minor Premise) पद से साम्य रखते है। लेकिन भारतीय अनुमान तथा Syllogism मे **प्रथम अतर यह है** कि Syllogism के क्रम से अनुमान का क्रम ठीक विपरीत रहता है। Syllogism मे Conclusion सबसे अत मे आता है जबकि अनुमान मे यह सबसे पहले आता है। Syllogism मे Major Premise सबसे पहले आता

है जबकि अनुमान म यह सबसे अत मे आता है। दोनो मे **दूसरा अतर** यह है कि Syllogism मे जहॉ तीन और केवल तीन वाक्य होते है वहॉ भारतीय अनुमान मे वाक्यो की सख्या तीन से अधिक भी मानी गयी है।

Syllogism के अमुख्य (Minor) मुख्य (Major) और मध्यम पद (Middle term) की तरह **भारतीय तर्कशास्त्र** मे भी अनुमान क कम से कम तीन पद माने गये है। क्रमश इनका नाम है पक्ष पद साध्य पद और हेतु पद। **पक्ष** अनुमान का वह अग है जिसके सम्बन्ध मे अनुमान किया जाता है। **साध्य** वह है जिसे पक्ष के सम्बन्ध मे सिद्ध किया जात है और **हेतु** उसे कहते है जिसके द्वारा पक्ष के सम्बन्ध मे साध्य को सिद्ध किया जाता है। आग एव धुँए वाले उदाहरण मे पर्वत पक्ष है अग्नि साध्य है और धूम हेतु है।

अनुमान के इन तीन पदो मे **हेतु** का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है क्योकि हेतु ही अनुमान का मुख्य आधार होता है। हेतु के द्वारा ही हम अज्ञात साध्य का पक्ष के सम्बन्ध मे ज्ञान प्राप्त करते है। न्यायवाक्य (Syllogism) के मध्यम पद की तरह ही हेतु पद को अनुमान मे कम से कम दो बार अवश्य घटित होना चाहिए। पहले यह पक्ष के सम्बन्ध मे घटित (Occur) होता है तदुपरान्त साध्य पद के सम्बन्ध मे। ऐसा हेतु व साध्य पद के बीच शाश्वत सम्बन्ध के माध्यम से होता है और इसी कारण से पक्ष पद जो कि हेतु से सम्बद्ध रहता है साध्य पद से सम्बन्धित हो जाता है क्योकि इन दोनो का हेतु पद के साथ सम्बन्ध होता है। इससे स्पष्ट होता है कि हेतु अनुमान का महत्वपूर्ण घटक है। अनुमान प्रमाण मे विश्वास करने वाले सभी दार्शनिक इसकी महत्ता को स्वीकार करते हैं। फिर भी हेतु के स्वरूप विवेचन मे विभिन्न दर्शनो मे मतभेद पाया जाता है। विभिन्न दर्शनो मे सद्हेतु के लक्षण का विवेचन इस प्रकार है–

1 **जैन दार्शनिको** के अनुसार हेतु का केवल एक ही लक्षण होता है। वह है– अन्यथानुपत्तिरूप।

2 **साख्याचार्य माठर** ने हेतु को त्रिरूप माना है । ये हैं– क पक्षधर्मत्व, ख सपक्षसत्व और ग विपक्षासत्व। साख्य दर्शन मे लिग को व्याप्य के रूप मे परिभाषित किया गया है।

3 **बौद्ध दर्शन** मे भी हेतु की त्रिलक्षण परम्परा को स्वीकार किया गया है। यद्यपि हेतु का त्रैरूप्य **जयन्त पूर्व नैयायिको वैशेषिको व साख्यो** ने भी स्वकार किया था, किन्तु बौद्धो ने इसका सूक्ष्म विश्लेषण किया। अत यह बौद्ध परम्परा परम्परा के रूप मे अधिक ख्यात हुई। **बौद्ध आचार्य धर्मकीर्ति** के अनुसार हेतु मे पक्षधर्मत्व सपक्षसत्व एव लिग के ये तीन रूप होना आत्यावश्यक है। इनमे से किसी एक अथवा दो का अभाव होने से हेतु सद्हेतु न होकर असिद्ध विरूद्ध अथवा अनैकान्तिक हेत्वाभास हो जाता है।[46] **"न्यायबिन्दु"** मे भी हेतु लक्षण के लिए इन रूपो को अनिवार्य बताया गया है।[47] धर्मोत्तर[48] तथा **मोक्षाकर** गुप्त ने भी हेतु लक्षण के इन्हीं तीन रूपो का उल्लेख किया है। हेतु के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए धर्मकीर्ति ने कहा है कि जो पक्ष का धर्म हो और उसके एक देश से व्याप्य रहे, उसे

हेतु कहते है।[49]

4 **योग तथा वेदान्त** ग्रन्थो मे हेतु के लक्षण अथवा रूपो की चर्चा का प्राय अभाव पाया जाता है।

5 **कुमारिल भट्ट** ने जिसमे साध्य की व्याप्ति रहती है उसी हेतु को गमक व्याप्य एव नियामक कहा है।[50] **पार्थसारथि मिश्र प्रभाकर शालिकनाथ** आदि ने भी इन्ही का समर्थन किया है। इन दार्शनिको के ग्रन्थो मे हेतु रूपो की चर्चा नगण्य है, परन्तु **नारायण** ने न्यायसम्मत पॉच रूपो का व्यवस्थापन सद्हेतु के लिए आवश्यक माना है।[51] **शालिकनाथ** ने अन्य दार्शनिको से भिन्न सद्हेतु के तीन लक्षण स्वीकार किये है– नियतसम्बन्धैक दर्शन सम्बन्ध नियमस्मरण तथा अबाधितविषयत्व।[52]

6 **न्याय–वैशेषिक दर्शन** मे व्याप्ति और पक्षधर्मता से युक्त हेतु को सद्हेतु तथा इनके अभाव से विशिष्ट हेतु को असद् हेतु कहा गया है। सद्हेतु मे व्याप्ति और पक्षधर्मता दोनो पाये जाते है किन्तु असद्हेतु मे न तो साध्य की व्याप्ति ही रहती है और न वह पक्ष मे ही पाया जाता है। इस यथार्थता व अयथार्थता के मूल्याकन के लिए ही हेतु के पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व विपक्षासत्त्व अबाधितविषयत्त्व और असत्प्रतिपक्षत्त्व इन पॉच रूपो की कल्पना की गयी है। पक्ष मे हेतु की उपस्थिति पक्षधर्मता या **पक्षसत्त्व** है। इस धर्म के अभाव मे **असिद्ध हेत्वाभास** होता है।[53] सम्पूर्ण सपक्ष दृष्टान्तो अथवा कुछ सपक्ष दृष्टान्तो (पाजिटिव इन्टरैन्सेस) मे जिनमे साध्य होता है हेतु का निश्चित रूप से पाया जाना ही **सपक्षसत्त्व** है। जैसे, सभी धूमवान पदार्थ वह्निमान हैं। इस धर्म के अभाव मे **विरूद्ध हेत्वाभास** होता है।[54] अनुमान के लिए साध्य पद एव हेतु पद के बीच साहचर्य सम्बन्ध का होना आवश्यक है। अत सकल विपक्षो मे न रहने वाले धर्म को विपक्षासत्त्व कहते है। अर्थात् ऐसे सभी नकारात्मक दृष्टान्त जिनमे साध्य का अभाव हो हेतु का भी अभाव होना वैध अनुमान के लिए आवश्यक है। यही विपक्षासत्त्व है। जैसे जो वह्निमान नही है, वह धूमवान नहीं है। इस रूप के अभाव मे **अनैकान्तिक हेत्वाभास** होता है।[55] जिस हेतु का साध्य प्रत्यक्ष आगम आदि किसी प्रबल प्रमाण से बधित न हो उसे **अबाधितविषयत्व** कहा जाता है। यहॉ विषय पद से साध्य अभिप्रेत है। पर्वतो वह्निमानात् धूमात्' इस अनुमान मे प्रयुक्त हेतु धूम का साध्य विह्न' किसी प्रबल प्रमाण द्वारा बाधित नहीं है। इसलिए यह सत् हेतु का लक्षण है। इस रूप के अभाव से **बाधित हेत्वाभास** होता है। जिस हेतु मे असत्प्रतिपक्षत्व धर्म पया जाता है, उसे **असत्प्रतिपक्षत्त्व** कहते हैं। असत्प्रतिपक्ष का अर्थ है अनुमान मे प्रयुक्त हेतु के विरोधी हेतु की सत्ता का न होना। जैसे, 'शब्द अनित्य है, नित्य धर्म उपलब्ध नहीं होने से और "शब्द नित्य है अनित्य धर्म उपलब्ध नहीं होने से।" यहॉ दोनो हेतु समान बलवान् होने से विराधी है। इसलिए इनमे से किसी के भी द्वारा साध्य की सिद्धि नही हो सकती। इसलिए सद्हेतु के लिए हेतु मे असत्प्रतिपक्षत्त्व धर्म का होना आवश्यक है। इसके अभाव मे **सत्प्रतिपक्ष**

हेत्वाभास होता है।[56] **अर्चट** ने इसी रूप को **विवक्षितैक्यसरव्यत्व** के नाम स सूचित किया है।[57] किसी भी वैध अनुमान के लिए मध्यम पद या हेतु पद मे उपर्युक्त विशेषताओ का होना आवश्यक है। यदि ऐसा नही होता है तो हेत्वाभास होता है और अनुमान दूषित हो जाता है। चूँकि हेतु के स्वरूप लक्षण व भेद के बारे मे दार्शनिको मे मतभेद है इसलिए **हेत्वाभास** के बारे मे भी विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायो मे मतभेद पाया जाता है। **न्यायदर्शन** मे पॉच प्रकार के हेत्वाभास माने गये है। ये है– **1 सव्यभिचार 2 विरूद्ध 3 सत्प्रतिपक्ष या प्रकरणसम 4 असिद्ध या साध्यसम 5 बाधित या कालातीत।**

अनुमान का तार्किक आकार

अनुमान मे विश्वास करने वाले भारतीय दार्शनिको ने **अनुमान के दो भेद** स्वीकार किये है। **स्वार्थानुमान** और **परार्थानुमान**। स्वार्थानुमान स्वय अपने लिए होता है और परार्थानुमान दूसरो को किसी तथ्य को समझाने के लिए होता है। भारतीय तार्किको का कथन है कि यदि अनुमान अपने लिए हो तो उसे क्रमबद्ध वाक्यो के रूप मे प्रकट करने की आवश्यकता नही होती। किन्तु जब अनुमान परार्थ होता है तो उसे क्रमबद्ध एव श्रृखलित रूप मे प्रकट करने के लिए वाक्यो की आवश्यकता होती है जिन्हे पारिभाषिक शब्दावली मे **न्याय अवयव** कहा जाता हैं। लेकिन इन अवयवो की सख्या के बारे मे अनुमान को मानने वाले दर्शनिक सम्प्रदायो मे मतभेद है।

कुछ **प्राचीन न्याय दार्शनिको** के अनुसार अनुमान के **दस अवयव** होते है– 1 जिज्ञासा 2 सशय, 3 शक्यप्राप्ति 4 प्रयोजन, 5 सशयव्युदास, 6 प्रतिज्ञा 7 हेतु 8 उदाहरण 9 उपनय 10 निगमन।[58]

किन्तु **परवर्ती न्याय दार्शनिको** एव **वैशेषिक दार्शनिको** ने अनुमान की दशावयवी परम्परा की आलोचना की एव उसका परित्याग भी कर दिया। इनके अनुसार अनुमान के उपर्युक्त प्रथम पॉच अवयव अनुमान के द्वारा किसी चीज को सिद्ध करने के लिए अनावश्यक हैं। केवल अतिम पाच अवयव ही किसी निष्कर्ष को सिद्ध करने के लिए आवश्यक हैं।[59] **साख्य**[60] और **वैशेषिक** सम्प्रदाय भी अनुमान के उपर्युक्त अवयवो मे से अन्तिम पॉच को ही अनुमान के लिए आवश्यक मानते है। **प्रशस्तपाद** के अनुसार ये **पॉच अवयव** है– 1 प्रतिज्ञा 2 अपदेश 3 निदर्शन, 4 अनुसन्धान, 5 प्रत्याम्नाय।[61]

न्याय दार्शनिको के अनुसार पक्ष के साथ साध्य के सम्बन्ध का प्रतिपादन करने वाला वाक्य **प्रतिज्ञा** है। जैसे, 'यह पर्वत वह्निमान है इसमे पक्ष (पर्वत) के साथ साध्य (अग्नि) के सम्बन्ध (सयोग) का प्रतिपादन किया गया है। पक्ष मे साध्य के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए साधन (लिग) के रूप मे जिस अवयव का प्रयोग किया जाता है वह **हेतु** या **अपदेश** कहलाता है। धुँए और आग के उदाहरण मे धुँआ हेतु है। **सामान्यत हेतु और लिंग को पर्यायो के**

अनुमान के आधारभूत तत्त्व

अनुमान वस्तुत **व्याप्ति** और **पक्षधर्मता ज्ञान** पर आधारित होता है। अत इन दोनो को जान लेना आवश्यक है। हेतु और साध्य के नियत पारस्परिक सम्बन्ध को व्याप्ति तथा पक्ष और हेतु के सामञ्जस्य को पक्षधर्मता ज्ञान कहते है। किसी भी अनुमान मे व्याप्ति स्मरण होने पर ही पक्ष मे हेतु के दर्शन से अनुमेय का ज्ञान निष्पन्न होता है। अत अनुमान के लिए दोनो का यथार्थ ज्ञान होना अनिवार्य है।

(1) व्याप्ति

व्युत्पत्तिपरक दृष्टि से व्याप्ति शब्द वि + आप्ति के योग से निष्पन्न है जिसका अर्थ है विशेष रूप से आप्ति या सम्बन्ध। दो वस्तुओ का सदैव नियत रूप से एक साथ रहना ही विशेष सम्बन्ध है। लेकिन दो सहचारियो का केवल साथ-साथ रहना ही व्याप्ति नही है, बल्कि इस सम्बन्ध को निरूपाधिक या व्यभिचार से सर्वथा शून्य भी होना चाहिए। जैसे मेढक और जल मे साहचर्य सम्बध तो है किन्तु इसे व्याप्ति नही कहा जा सकता क्योकि ऐसा नही है कि मेढक बिना जल के और जल बिना मेढ़क के पाया नहीं जाता। इस लिए उनके साहचर्य सम्बन्ध को नियत नही कहा जा सकता, बल्कि व्यभिचारयुक्त ही कहा जायेगा। केवल वही अटल और अविच्छेद्य सम्बन्ध व्याप्ति हो सकता है जो किसी अपवाद अथवा व्यभिचार से सर्वथा शून्य हो। जैसे सूर्य और उसकी किरणो तथा धूप और अग्नि मे नियत साहचर्य सम्बन्ध है। हेतु एव साध्य के इसी व्यभिचार शून्य नियत साहचर्य सम्बन्ध को व्यप्ति कहा जाता है।

पक्षधर्मता का ज्ञान होने पर भी यदि व्याप्ति ज्ञान न हो तो अनुमान निष्पन्न नहीं हो सकता। जैसे "पर्वत धूमयुक्त है, वह्निमान होने से।" यहाँ वह्नि के पक्ष (पर्वत) मे पाये जाने के कारण पक्षधर्मता ज्ञान तो सिद्ध हो जाता है किन्तु वह्नि की धूम के साथ नियत व्याप्ति न होने के कारण सद् अनुमान नही होता बल्कि व्याप्यात्वासिद्व नामक असिद्ध हेत्वाभास ही होता है। इसके विपरीत 'पर्वत वह्निमान है, धूमवान होने से" इस उदाहरण मे पक्षधर्मता ज्ञान के साथ-साथ हेतु और साध्य का नियत साहचर्य भी है, क्योकि जहाँ–जहाँ धूम होता है वहाँ–वहाँ आग अवश्य रहती है। इसलिए यह सद् अनुमान है।

यहाँ यह विशेष रूप से उल्लेख्य है कि अनुमान के लिए हेतु और साध्य मे से केवल हेतु का ही साध्य के साथ अविच्छेद्य सम्बन्ध होना अनिवार्य है। साध्य का हेतु के साथ अविच्छेद्य सम्बन्ध हो या न हो, दोनो अवस्थाओ मे अनुमान हो सकता है। जैसे, अग्नि को सिद्ध करते समय यह आवश्यक नहीं है कि उसका धूम के साथ अविच्छेद्य सम्बन्ध हो ही क्योकि ऐसी व्याप्ति नही बनायी जा सकती कि जहाँ-जहाँ अग्नि होती है, वहाँ–वहाँ धूम भी होता है। इसका कारण यह है कि जलते हुए अगारे मे आग तो होती है, किन्तु धुँआ नहीं होता। इससे स्पष्ट होता है कि **दो वस्तुओ का अविच्छेद्य, अनिवार्य तथा निरूपाधिक पारस्परिक सम्बन्ध ही व्याप्ति है।**

व्याप्ति से दो वस्तुओ के पारस्परिक सम्बन्ध का बोध होता है जिनमे से एक **व्याप्य** है तथा दूसरा **व्यापक**। कोई वस्तु दूसरी वस्तु मे व्यापक तब होती है जब वह वस्तु उस दूसरी वस्तु के साथ बराबर रहती है। कोई वस्तु दूसरी वस्तु मे व्याप्त तब होती है जब उसके साथ वह दूसरी वस्तु बराबर रहती है। जैसे धूम एव आग के उदाहरण मे धुऑ व्याप्य है क्योकि धुएँ के साथ आग बराबर पायी जाती है। कोई भी ऐसा धूमवान् पदार्थ नही है जो वह्निमान न हो। लेकिन सभी वह्निमान पदार्थों का धूमवान् होना आवश्यक नहीं है। जैसे तप्त लौह खण्ड। न्यूनाधिक विस्तार वाले पदो मे जब व्याप्ति का सम्बन्ध होता है तो उसे **असम** या **विषम व्याप्ति** कहते है। जैसे, धुएँ और आग मे। दो पदो मे जब इस प्रकार का सम्बन्ध रहता है तो कम विस्तार वाले से अधिक विस्तार वाले का अनुमान किया जा सकता है किन्तु अधिक विस्तार वाले से कम विस्तार वाले का अनुमान नहीं किया जा सकता। धुएँ से आग का अनुमान किया जा सकता है किन्तु आग से धुएँ का अनुमान नही किया जा सकता है। किन्तु जब समान विस्तार वाले दो पदो मे व्याप्ति का सम्बन्ध रहता है तो उसे **समव्याप्ति** कहते है। समव्याप्ति वाले पदो की व्यापकता बराबर होने के कारण एक से दूसरे का और दूसरे से पहले का अनुमान किया जा सकता है। जैसे अभिधेय और प्रमेय। जो अभिधेय है वह प्रमेय है और जो प्रमेय है, वह अभिधेय है। समव्याप्ति वाले स्थलो मे जहॉ साध्य और साधन दोनो का एक दूसरे से नियत साहचर्य रहता है वहॉ भी अनुमान प्रयुक्त व्याप्ति साधन मे ही रहती है साध्य मे नहीं। विषम-व्याप्ति मे तो यह अनिवार्यत होता ही है। अत निष्कर्ष के रूप मे कहा जा सकता है कि साधन और साध्य मे साधन का ही साध्य के साथ अविच्छेद्य सम्बन्ध होना चाहिए।

अनुमान मे व्याप्ति की उपर्युक्त अवधारणा एव अनिवार्यता को प्राय सभी अनुमानवादी भरतीय दार्शनिको ने स्वीकार किया है, किन्तु इसके लक्षण तथा ग्रहण (ज्ञान) के साधन के बारे मे उनके भिन्न–भिन्न दृष्टिकोण हैं।

क व्याप्ति का लक्षण

नैयायिको के अनुसार लिग-लिगी के अर्थात् हेतु और साध्य के बीच नियत स्वाभाविक और अनौपाधिक साहचर्य सम्बन्ध को व्याप्ति कहते है। **जयन्त भट्ट** ने व्याप्ति के लिए **'स्मृतिनियम'** शब्द का प्रयोग किया है। उनके अनुसार नियम का अर्थ है– नित्य साहचर्य।[68] इस प्रकार जयन्त के अनुसार व्याप्ति नित्य साहचर्य सम्बन्ध है।

नव्य न्याय के जनक **गगेश** ने भी व्याप्ति के लक्षण का निर्धारण किया है। किन्तु गगेश ने व्याप्ति लक्षण को स्थापित करने से पहले अपने समय मे प्रचलित व्याप्ति विषयक इक्कीस मतो का पूर्वपक्षीय व्याप्ति लक्षणो के रूप मे उल्लेख एव खण्डन किया है जिनमे से प्रथम पॉच को उन्होने **'व्याप्तिपचक'**, अन्य दो को **सिहव्याघ्र'** तथा शेष चौदह को **'व्यधिकरण'** के नाम से सबधित किया है। व्याप्ति के इन लक्षणो का उल्लेख एव खण्डन करने के उपरान्त उन्होने व्याप्ति का जो लक्षण निर्धारित किया है उसके अनुसार **हेतु और उसके व्यापक साध्य का समानाधिकरण्य ही व्याप्ति है**। व्यापक साध्य से तात्पर्य उस साध्य से है जो हेतु के अधिकरण

मे वर्तमान रहने वाले अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता के अवच्छेदक से अवच्छिन्न न हो अर्थात प्रतियोगी न हो– **प्रतियोग्यसमानाधिकरणयत् समानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगिता–वच्छेदकावच्छिन्न यन्न भवति तेन सम तस्य समानाधिकरण्य व्याप्ति।"**

केशवामिश्र तथा **अन्नभट्ट** ने भी साहचर्य नियम को व्याप्ति कहा है। इस साहचर्य नियम की व्याख्या करते हुए अन्नभट्ट ने तर्कदीपिका मे कहा है कि जहॉ हेतु विद्यमान है वहॉ विद्यमान अत्यन्ताभाव का अप्रतियोगी जो साध्य है उसके साथ हेतु के समानाधिकरण्य को व्याप्ति कहते हैं। **नीलकण्ठ** के अनुसार व्याप्ति हेतु का वह धर्म है जो साध्य के साथ रहता है। **विश्वनाथ** ने व्याप्ति के दो लक्षण किये है। उनके अनुसार साध्यवान् से भिन्न स्थल मे हेतु का न रहना व्याप्ति है। परन्तु यह लक्षण केवलान्वयि स्थल मे अव्याप्य है क्योकि वहॉ साध्यवान से भिन्न स्थल ही अप्रसिद्ध है। अत उन्होने व्याप्ति का दूसरा लक्षण करते हुए प्रतिपादित किया कि हेतुमान पक्ष मे विद्यमान अत्यन्ताभाव का अप्रतियोगी जो साध्य है उसके साथ हेतु का एक साथ रहना व्याप्ति है। विश्वनाथ से प्राचीन नेयायिक **शकर मिश्र** ने भी इसी लक्षण को शब्दान्तर से स्वीकार किया है। सरलता की दृष्टि से उन्होने व्याप्ति का एक और लक्षण भी दिया है जिसके अनुसार अनुपाधिक सम्बन्ध व्याप्ति है। सक्षेप मे, **नैयायिको के अनुसार हेतु और साध्य का नियत साहचर्य ही व्याप्ति है।**

साख्य दर्शन के प्रवर्तक **कपिल** के अनुसार **"दोनो अथवा एक का नियत धर्म साहचर्य ही व्याप्ति है।"**[69] अर्थात साध्य के साथ, साध्य साधन दोनो का अथवा साधनमात्र का जो नियत व्यभिचारशून्य साहचर्य है, उसी को व्याप्ति कहा जाता है।[70] नियतधर्मसाहचर्य से भिन्न कोई वस्तु व्याप्ति नही हो सकती अन्यथा व्याप्ति के आश्रय जो भी पदार्थ होगे, उनकी कल्पना का प्रसग होने लगेगा। वस्तु के स्वाभाविक शक्ति के आविर्भाव को नियत अव्यभिचारी सम्बन्ध कहा जाता है। इस प्रकार का सम्बन्ध बनाने से नही बनता प्रत्युत वह वस्तुओ मे स्वाभाविक रूप से रहता है। इसी सम्बन्ध के द्वारा एक ज्ञात वस्तु से दूसरी अज्ञात वस्तु का अनुमान किया जाता है।

पचशिख के मतानुसार व्याप्ति व्याप्य की स्वाभाविक शक्ति का उद्भव नही, प्रत्युत आधेय शक्ति सम्बन्ध है। व्युत्पादन द्वारा इस शक्ति का आधान किया जाता है। अव्युत्पन्न व्यक्ति धूम को देखकर भी अग्नि का अनुमान नही कर सकता।

किन्तु, पचशिख द्वारा प्रतिपादित आधेयशक्ति सम्बन्ध को व्याप्ति नहीं माना जा सकता, क्योकि 'जहॉ-जहॉ अग्नि होती है, वहॉ-वहॉ धूम भी होता है" ऐसे उदाहरणो मे अग्नि मे आधेय शक्ति होने पर भी धूम का अनुमान कराने के लिए उसमे स्वाभाविक सामर्थ्य नहीं है अत केवल आधेय शक्ति सम्बन्ध को व्याप्ति मान लेने पर असद् हेतु मे भी हेतुता की प्रसक्ति लगेगी।

योगसूत्र के भाष्यकार **व्यास** ने व्याप्ति का उल्लेख **सम्बन्ध** के रूप मे किया है। उनके अनुसार "जो अनुमेय के साथ समान जातीय पदार्थों मे अनुवृत्त (युक्त) एव भिन्न जातीय पदार्थों

से व्यावृत्त (पृथक करने वाला) हो उसे सम्बन्ध कहा जाता है– **"अनुमेयस्य तुल्यजातीयेवनुवृत्तो भिन्न-जातीयेभ्यो व्यावृत सम्बन्ध ।"** किन्तु योगभाष्य" मे उपलब्ध सम्बन्ध का अर्थ व्याप्ति लगाने पर भी सम्बन्धमात्र को व्याप्ति नहीं कहा जा सकता है।

बौद्ध दर्शन मे व्याप्ति के लिए **अविनाभाव** शब्द का प्रयोग किया गया है। कर्णकगोमि के अनुसार कार्य स्वभाव आदि लिगो का साध्य धर्म के अभाव मे न पाया जाना ही अविनाभाव अर्थात् व्याप्ति है– **कार्यस्य स्वभावस्य च लिगस्याविनाभाव साध्यधर्म विना न भाव इत्यर्थ ।"** व्युत्पत्ति की दृष्टि से अविनाभव का अर्थ है–अ+विना + भाव। अर्थात् साध्य के अभावीय स्थलो मे हेतु की सत्ता (भाव) न (अ) होना। सरल शब्दो मे हम कह सकते हैं कि अविनाभाव उन दो वस्तुओ का नियत सम्बन्ध है, जहॉ एक वस्तु दूसरी वस्तु के अभाव मे कदापि उपलब्ध नही होती।

व्याप्ति के उपर्युक्त शाब्दिक अर्थ से ऐसा प्रतीत होता है कि व्याप्ति का सम्बन्ध केवल व्यतिरेक व्याप्ति से है किन्तु वस्तुत ऐसा नही है क्योकि "साध्य के बिना हेतु का न होने" का अर्थ यह भी है कि साध्य के होने पर ही हेतु का सद्भाव होना। अत अविनाभाव व्यतिरेक व्याप्ति के साथ ही अन्वयन्याप्ति का भी बोधक है। प्रमाण समुच्चय" मे **दिड्नाग** ने कहा है कि– **"ग्राहय" धर्मस्तद् अशेन व्याप्तो हेतु ।"** इसे स्पस्ट करते हुए **धर्मकीर्ति** एव **धर्मोत्तर** ने कहा है कि साध्य का साधन मे नियतत्व व्यस्थापना तथा साध्याभाव मे साधनाभाव की नियतता का रहना ही अविनाभाव है– **"व्याप्ति साध्यवदन्यस्मिन्नसम्बन्ध उदाहृत ।"** साधर्म्य हेतु मे साधन व्याप्य और साध्य व्यापक होता है, जबकि वैधर्म्य हेतु मे साध्याभाव व्याप्य और साधनाभाव व्यापक होता है।

किन्तु बौद्वो का यह मत समीचीन नहीं है। बौद्वो के मत की समीक्षा करते हुए **गगेश** ने लिखा है कि साध्य अभाव मे साधन का न होना अथवा साध्याभाव के अधिकरण मे हेतु का अभाव पाया जाना रूप अविनाभाव सम्बन्ध व्याप्ति नहीं कहा जा सकता क्योकि केवलान्वयी अनुमान मे जहॉ कोई विपक्षभूत दृष्टान्त प्रसिद्व नही होता वहॉ लक्षण की अव्याप्ति होगी **'नाप्यविनाभाव केवलान्वयिन्यभावात् ।**[71] **"चित्सुखी"** मे भी आया है– यह अविनाभाव वस्तुत क्या है – 1 साधन होने से साध्य का होना अथवा 2 साध्य के बिना साधन का न होना या 3 अथवा दोनो। इनमे से **प्रथम पक्ष** तर्कसगत नही है क्योकि केवल व्यतिरेकी हेतु मे 'जहॉ-जहॉ साधन होता है वहॉ-वहॉ साध्य भी होता है," इस प्रकार की अन्वय व्याप्ति नहीं बनायी जा सकती। यदि पक्ष से अतिरिक्त अन्यत्र कही हेतु का सद्भाव माना जाय तो हेतु की केवल व्यतिरेकिता स्थिर नही रह सकती। इसी प्रकार **द्वितीय पक्ष** भी समीचीन नही जान पडता, क्योकि इसमे 'जहॉ-जहॉ" साध्याभाव है वहॉ-वहॉ साध्याभाव भी है," इस प्रकार से व्यतिरेक व्याप्ति का निर्देश किया गया है, जो केवलान्वयी व्याप्ति मे नहीं पायी जाती। **अन्तिम विकल्प** अन्वय-व्यतिरेक व्याप्ति स्वरूप है जो अन्वयव्यतिरेकी हेतु मे रहने पर भी केवलान्वयी और केवल व्यतिरेकी हेतुओ मे नहीं है।[72] **शकर मिश्र** ने भी अविनाभाव सम्बन्ध को व्याप्ति मानने का खण्डन किया है। इससे स्पस्ट होता है कि अविनाभाव सिद्धान्त को व्याप्ति नहीं कहा जा सकता।

जैन दार्शनिको न भी प्राचीन न्याय वैशेषिको तथा बौद्धो की भाँति अविनाभाव को ही व्याप्ति माना है। **माणिक्यनन्दि** के अनुसार सहभाव नियम और क्रमभाव नियम ही अविनाभाव है– **"सहक्रमभाव नियमोऽविनाभाव।"** इसके अनुसार इसके होने पर यह होता है और इसके न होने पर नहीं होता। इसी बात का पारिभाषिक नाम अविनाभाव है और इसी को व्याप्ति तथा अन्यथानुपत्ति भी कहते है। माणिक्यनन्दि ने यह भी कहा है कि सहचारी और व्याप्य-व्यापक भाव वाले पदार्थो मे सहभावनियम तथा पूर्वचर उत्तरचर और कार्य-कारणभूत पदार्थो मे क्रमभाव नियम पाया जाता है। शब्दान्तर से **अनन्तवीर्य प्रभाचन्द्र** और **हेमचन्द्र** ने इसी परिभाषा को किसी न किसी रूप मे स्वीकार किया है। इसी तथ्य को **अकलक** ने इस प्रकार व्यक्त किया है– **"जो साधन साध्य के अभाव मे न हो उसके होने पर ही वही गमक है और उसका साध्य गम्य।"** सहभाव नियम और क्रमभाव नियम को ही **प्रशस्तपाद** ने देशिक व्याप्ति और कालिक व्याप्ति के रूप मे व्यक्त किया था। अत इसमे कोई नवीनता नही है। इसके साथ सहभाव नियम और क्रमभाव नियम के उदाहरणो को व्याप्य-व्यापक भाव के अन्तर्गत समाविष्ट किया जा सकता है। सभवत इसी तथ्य को ध्यान मे रखते हुए **रत्नप्रभाचार्य** ने गम्य-गमक भाव को ही अविनाभाव कहा और इसी मे **"व्यभिचारशून्यता"** शब्द जोडकर **धर्मभूषण** ने अपने लक्षण की रचना की। उनके अनुसार साध्य और साधन मे गम्य-गमक भाव का साधक एव व्यभिचार की गन्ध से रहित जो सम्बन्ध विशेष है उसी को व्याप्ति अर्थात् अविनाभाव कहा जाता है।[73]

चूँकि जैन दार्शनिको ने बौद्धो के समान ही अविनाभाव को व्याप्ति माना है, इसलिए जैन तार्किको द्वारा समर्थित अविनाभाव पक्ष मे वे सारे दोष आ जाते है जिनका उल्लेख बौद्ध व्याप्ति खण्डन प्रसग मे किया जा चुका है। अत यहाँ उसका उल्लेख करना उचित नही है। माणिक्यनन्दि प्रभाचन्द्र अनन्तवीर्य तथा हेमचन्द्र समर्थित सहक्रमभाव नियमरूप अविनाभाव मे भी कोई नवीनता परिलक्षित नही होती क्योकि इन दोनो का विवरण **"प्रशस्तपादभाष्य"** मे दैशिक व्याप्ति और कालिक व्याप्ति मे प्रस्तुत किया जा चुका है जिनको यहाँ केवल शब्दान्तर से प्रस्तुत किया गया है। सहभाव और क्रमभाव नियम के उदाहरणो को व्याप्य-व्यापक भाव के रूप मे समाविष्ट किया जा सकता है। सभवत इसी कारण **रत्नप्रभाचार्य** ने गम्य-गमकभाव सम्बन्ध को अविनाभाव के रूप मे गृहीत किया है और इसी मे व्यभिचारशून्यता विशेषण जोडकर **धर्मभूषण** ने अभिनीत किया है। उक्त दोनो आचार्यो के लक्षण पर्याप्त रूप से नैयायिक मीमासक एव बौद्ध तार्किको से प्रभावित जान पडते है। अत व्याप्य-व्यापकभाव या गम्य-गमकभाव के परिपेक्ष्य मे माणिक्यनन्दि प्रणीत सहचारीभाव व्याप्य-व्यापकभाव पूर्व उत्तर सहचारीभाव पूर्वउत्तरचारीभाव तथा कार्य कारणभाव ये चारो समाविष्ट हो जाने के कारण निष्प्रयोजक एव निरर्थक जान पडते है।

मीमासा दर्शन के प्रवर्तक **महर्षि जैमिनि** के **"मीमासा सूत्र"** मे व्याप्ति का स्पष्ट निरूपण नही मिलता। किन्तु भाष्यकार **शबर स्वामी** ने अपने अनुमान लक्षण मे **"ज्ञात सम्बन्धस्य"** पद का सन्निवेश किया है। इससे सिद्ध होता है कि वे व्याप्ति सिद्धान्त से अवश्य

ही अवगत थे। शबर स्वामी द्वारा अनुमान के लक्षण मे प्रयुक्त ज्ञात सम्बन्धस्य शब्द का विश्लेषण करते हुए **कुमारिल** ने इसका **नियमरूप साहचर्य सम्बन्ध** के रूप मे विश्लेषण किया है। कुमारिल के अनुसार लिग के साथ लिगी की जो व्याप्ति रहती है वही सम्बन्ध है। उनके मतानुसार व्याप्य गमक तथा व्यापक गम्य होता है। जो समान अथवा न्यून देश-काल की अपेक्षा रखता है वह व्याप्य तथा जो समान अथवा अधिक देश-काल मे विद्यमान रहता है उसे व्यापक कहा जाता है। व्याप्य के गृहीत हो जाने से व्यापक का ग्रहण नियमत होता है किन्तु इसके विपरीत व्यापक से व्याप्य का ग्रहण नहीं होता। तात्पर्य यह है कि व्याप्य हेतु मे रहने वाली व्याप्ति ही उपयोगी होती है, व्यापक मे रहने वाली नहीं। एक ही व्याप्ति सयोग सम्बन्ध की तरह व्यापक और व्याप्य अपने दोनो एक देशो (सम्बन्धियो) मे व्याप्य होकर रहने वाली वस्तु नही है, क्योकि साध्य व्यापक मे हेतु व्याप्य की व्याप्ति आवश्यक रूप से नही भी रहती है। इसका कारण यह है कि साध्य का अस्तित्व हेतु विहीन स्थलो मे भी उपलब्ध होता है। इससे सिद्व होता है कि लिग और लिगी का सम्बन्ध ही व्याप्ति है।

पार्थसारथि मिश्र भी कुमारिल का अनुसरण करते हुए कहते है कि **'व्याप्ति नियम रूप सम्बन्ध ही है जिसमे सयोग आदि अनेक प्रकार के सम्बन्ध भी निहित है।** [74] **नारायण भट्ट** ने (साध्य और साधन) के स्वाभाविक सम्बन्ध को व्याप्ति कहा है। स्वाभविकता उपाधिशूल्यता ही है– 'स्वाभाविक सम्बन्धोव्याप्ति। स्वाभाविकत्व चोपाध्रिाहित्यम।''[75] इस प्रकार उन्होने इस प्रसग मे **उदयन** के मत का पूर्णत अनुसरण किया है। मीमासक पूर्वाचार्यों से अपने लक्षण की सगति दिखलाने हेतु उन्होने व्याप्ति नियम, प्रतिबन्ध अव्यभिचार तथा अविनाभाव इन सभी को पर्यायवाची माना है।[76] **चिन्नास्वामी** का भी मत है कि नियमरूप सम्बन्ध ही व्याप्ति है। दृश्यमान देश काल आदि मे जो हेतु का साध्य के साथ सहभाव परिलक्षित होता है, वही नियम है। उनके इस लक्षण तथा आगे की व्याख्या मे **पार्थसारथि मिश्र** का ही समर्थन जान पडता है।[77]

लेकिन निष्पक्ष विवेचन करने पर ज्ञात होता है कि भाट्ट मीमासको द्वारा समर्थित व्याप्ति निर्दोष नही है। **कुमारिल, पार्थसारथि मिश्र** एव **चिन्नस्वामी** द्वारा प्रतिपादित लक्षण नियम घटित होने के कारण पूर्वोक्त दोष से युक्त होगे। **नारायण भट्ट** द्वारा समर्थित स्वाभाविक अनौपाधिक सम्बन्ध भी निर्दोष एव युक्तिसगत नही है।

व्याप्ति लक्षण के सम्बन्ध मे **प्रभाकर के मत** की व्याख्या करते हुए **शालिकनाथ** ने लिखा है कि जिसका जिसके साथ अव्यभिचरित तथा नियत कार्य-कारणभाव आदि सम्बन्ध हो वही सद् हेतु हो सकता है और इस प्रकार का नियत तथा अव्यभिचरित कार्य-कारण भाव आदि सम्बन्ध ही व्याप्ति कहलाता है। इसी बात को अभिव्यक्त करने के लिए अनुमान लक्षण मे **"ज्ञात सम्बन्ध नियमस्य"** पद का उपादान किया गया है। जैसे, कार्य धूम का कारण अग्नि के साथ कार्य-कारणभाव रस का रूप के साथ एकार्थ–समवाय तथा गन्ध का पृथ्वी के साथ समवाय

सम्बन्ध नियत और अव्यभिचरित सम्बन्ध है। इसके विपरीत कार्य अग्नि का कारण धूम के साथ रूप का रस के साथ एवं पृथ्वी का गन्ध के साथ यदि कार्य कारणभाव एकार्थ समवाय तथा समवाय सम्बन्ध स्थापित किया जाये तो वह अनियत और व्यभिचरित सम्बन्ध ही होगा।[78]

स्पष्ट है कि प्रभाकर के मत मे भी व्याप्ति लक्षण के लिए नियत तथा अव्यभिचरित दो विशेषणो का प्रयोग किया गया है। किन्तु अव्यभिचरित सम्बन्ध ही नियत सम्बन्ध होता है अत नियत विशेषण का प्रयोग निरर्थक है। दूसरे यदि केवल अव्यभिचरित सम्बन्ध शब्द का प्रयोग किया जाये तो तब भी यह लक्षण निर्दोष नही होगा क्योकि उसमे भी पूर्वोक्त सभी दोष होगे। इस प्रकार व्याप्ति लक्षण के सम्बन्ध मे प्रभाकर का मत मान्य नहीं है।

अद्वैत वेदान्त दर्शन मे **खण्डनकार** ने व्याप्ति के अविनाभाव साध्य साधन के विपक्षवृत्तित्व (साध्याभावाधिकरण वृतित्त्व) मे बाधक होने वाले दोनो के अन्वय एव स्वाभाविक सम्बन्ध आदि लक्षणो का व्याप्ति ग्रहण साधनो की पृष्ठभूमि मे खण्डन किया है। किन्तु **चित्सुखाचार्य** ने व्याप्ति के अविनाभाव स्वाभाविक सम्बन्ध एव निरूपाधिक सम्बन्ध आदि लक्षणो का पृथक्-पृथक खण्डन किया है। किन्तु दोनो का लक्ष्य प्रचलित व्याप्ति लक्षणो की आलोचना तक ही सीमित रहा है इसीलिए इन्होने कोई सिद्धान्त लक्षण प्रतिपादित नही किया। यह कार्य **"वेदान्तपरिभाषा"** तथा उसकी टीकाओ मे किया गया है। धर्मराजाध्वरीन्द्र के अनुसार अशेष (सकल) साधनो के अधिकरण मे रहने वाले साध्य के साथ हेतु का सामनाधिकरण्य ही व्याप्ति है– **"व्याप्तिश्च अशेषसा-धनाश्रयाश्रित–साध्यसमानाधिकरण्यरूपा।"**[79] इसी को परिष्कृत करते हुए **अर्थदीपिकाकार** ने लिखा है– साधनतावच्छेदक धर्म से विशिष्ट साधन के अधिकरण मे रहने वाले साध्यतावच्छेदक धर्म से विशिष्ट साध्य का हेतु के समान अधिकरण मे रहना ही व्याप्ति है। **"शिखामणि"**[80] और **"मणिप्रभा"**[81] मे भी थोडे-बहुत परिवर्तन के साथ यही लक्षण व्यक्त किया गया है। 'पर्वत वह्निमान है, धूमवान् होने से" इस अनुमान मे उक्त परिष्कृत लक्षण का समन्वय इस प्रकार होगा– साधन धूम के अवच्छेदक धर्म धूमत्व से विशिष्ट धूम के अधिकरण पर्वत मे रहने वाले धूमत्व से विशिष्ट धूम के अधिकरण पर्वत मे रहने वाले साध्य वह्नि के अवच्छेदक धर्म वह्नित्व से विशिष्ट वह्नि का हेतु धूम के साथ समानाधिकरण्य अर्थात एव अधिकरण्य पर्वत मे वृत्ति रहना ही व्याप्ति है। अर्थात् पर्वत आदि पक्ष पर, धूम और अग्नि का होन 'यत्र-यत्र धूम तत्र-तत्र वह्नि' इस आकार का जो सामानाधिकरण्य (एकाधिकरण-वृत्तित्व) होत है वही व्याप्ति का स्वरूप है।

लेकिन यहाँ एक शका यह होती है कि इस प्रकार व्याप्ति का लक्षण करने से, किसी एक वह्न्यादि साधन व्यक्ति के आश्रय महानसादि मे रहने वाले किसी एक धूमादि साध्य का समानाधिकरण्य ग्रहण कर 'पर्वतो धूमवान वह्ने" यह यदि किसी ने अनुमान कर लिया त वह्निरूप असद् हेतु मे व्याप्ति लक्षण की अतिव्याति होगी।

किन्तु उपर्युक्त शका का निराकरण करते हुए **अद्वैत वेदान्त मत** मे कहा गया है कि महानस मे अग्नि है इसलिए महानस उसका आश्रय है। महानस मे उसके आश्रय से धूम भी रहता है। इसलिए महानस की अग्नि को साधन बनाकर और महानस के ही धूम को साध्य बनाकर उन दोनो का समानाधिकरण्य है। अर्थात् ये दोनो एक ही अधिकरण महानस मे रहते है। इसी आधार पर जहॉ-जहॉ अग्नि है वहॉ-वहॉ धूम है, ऐसी व्याप्ति मानकर 1 पर्वत धूमवान् है 2 क्योकि उस पर अग्नि है" यह अनुमान यदि कोई करे तो इसमे अग्निरूप हेतु सत् न होकर असत है क्योकि वह्निव्याप्य धूम की तरह धूम-व्याप्य वह्नि नही है। अयोगोलक मे (तपाकर लाल किये हुए लोहे के गोले मे) अग्नि होता है किन्तु धूम नही होता। इसलिए वह्नि सत् हेतु नही है किन्तु व्यभिचारी है। यहॉ पर साधनतावच्छेदक (वह्नित्व) से अवच्छिन्न- समस्त वह्नियो के आश्रय महानस पर्वत, तप्तायोगोलक आदि इनमे से अयोगोलक रूप आश्रय पर साध्यतावच्छेदक (धूमत्व) से अवच्छिन्न हुआ एक भी धूम नहीं है। इस कारण उनका (वह्नि और धूम का) पूर्वोक्त समानाधिकरण नही दिखाया जा सकता। इसलिए व्याप्ति का लक्षण वह्निरूप असत् हेतु पर अतिव्याप्त नही है।

इससे स्पस्ट होता है कि अद्वैत वेदान्त मे व्याप्ति का जो लक्षण निर्दिष्ट किया गया है वह अधिक तर्कसगत एव ग्राह्य है। वस्तुत गम्भीरता से विचार करने पर स्पस्ट होता है कि **धर्मराजाध्वरीन्द्र** के व्याप्ति लक्षण और **गगेश** के सिद्वान्त लक्षण- **"हेतु व्यापक साध्यसामानाधिकरण्य व्याप्ति"** तथा **वर्धमान** के **"यावत् साधनाश्रयाश्रित साध्य सम्बन्ध", "कात्स्र्न्येन सम्बन्ध व्याप्ति"** मे कोई मौलिक अन्तर नही है। व्याप्तिपचक" के चतुर्थ लक्षण मे सकल' पद का अर्थ अशेष' भी किया गया है, जैसा कि कहा गया है- **'सकल पद अशेष पर न तु अनेक परम्।'** अशेष का अर्थ है व्यापकत्वा इसलिए "अशेष साधनाश्रयाश्रित' पद मे प्रयुक्त अशेष पद का अर्थ भी व्यापकत्व ही होगा। साधनाश्रयाश्रित का तात्पर्य है "साधन के अधिकरण मे रहने वाला तदनुसार **"हेत्वधिकरणवृत्य भावाप्रतियोगि साध्य समानाधिकरण्य व्याप्ति"** यह सिद्वान्त व्याप्ति ही प्रतिफलित होती है।

(ख) व्याप्ति ग्रहण के साधन

व्याप्ति के सम्बन्ध मे दूसरा महत्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि व्याप्ति का ज्ञान किस प्रकार होता है? ''सभी मनुष्य मरणशील है''- इस तरह के सर्वव्यापी वाक्यो की स्थापना कैसे होती है? प्रत्यक्षवादी **चार्वाको** के लिए इस तरह की कोई समस्या ही नही है, क्योकि वे अनुमान को मानते ही नही है। अन्यान्य भारतीय दर्शन जो अनुमान को मानते हैं, व्याप्ति-ज्ञान की समस्या का अपने-अपने ढग से समाधान करते हैं। व्याप्ति-ज्ञान के साधनों के प्रसग मे व्याप्ति के लक्षणो की ही भॉति आचार्यों मे मतभेद है।

न्याय-वैशविक दर्शन मे **अन्वय, व्यतिरेक तथा अन्वय-व्यतिरेक, सहचार** (सकृद् दर्शन), आदि को व्याप्ति ग्रहण का साधन माना गया है। **प्रशस्तपाद** के अनुसार विधि रुप मे

जहॉ धुऑ है, वहॉ अग्नि भी होती है" तथा जहॉ अग्नि का अभाव पाया जाता है, वहॉ धूम का अभाव पाया जाता है" अन्वय–व्यतिरेक ही समय अर्थात व्याप्ति का ग्राहक है। प्रशस्तपाद के अतिरिक्त कई आचार्यो ने इस मत का उल्लेख किया है किन्तु **प्राभाकर मीमासको** ने इस पर बहुत बल दिया है। **शालिकनाथ** के अनुसार सम्बन्ध नियम का ग्रहण केवल एक बार के इन्द्रिय प्रत्यक्ष से भी हो सकता है।

"योग भाष्य" के व्याप्ति विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है कि योग दार्शनिको को अन्वय सहचार तथा व्यतिरेक सहचार रूप साधन ही **प्रशस्तपाद** की विधि" के समान व्याप्ति ग्राहक साधन इष्ट था।[82]

किन्तु **"यत्सत्त्वे यत्सत्त्वम्"** रुप अन्वय सहचार तथा "यदभावे यदभाव" रुप व्यतिरेक सहचार को व्याप्ति ग्रहण का उपाय नही माना जा सकता क्योकि ईंट के भटठे आदि के पास अग्नि और रासभ साथ–साथ पाये जाने तथा पाकशाला आदि म न पाये जाने से अर्थात अन्वय–व्यतिरेक दोनो सहचार होने पर भी अग्नि और राभस मे व्याप्ति का निश्चय नही किया जा सकता क्योकि दोनो ही एक दूसरे के व्यभिचारी है। **गगेश**[83] और **साख्य सूत्रकार**[84] ने इसीलिए इस मत का खण्डन करते हुए लिखा है कि सकृद् दर्शन अर्थात् मात्र अन्वय–व्यतिरेक सहचार से व्याप्ति का निश्चय नही किया जा सकता। **भाट्ट मीमासको** ने भी सकृद् दर्शन का खण्डन और **भूयोदर्शन** का समर्थन करते हुए कहा है कि दो सामान्यो मे सम्बन्ध का निश्चय भी एक बार के प्रत्यक्ष दर्शन से सम्भव नहीं है।

उपर्युक्त आक्षेप का निराकरण करने के लिए **"न्याय किरणावली"** मे **उदयन** ने अन्वय–व्यतिरेक रुप **भूयोदर्शन सहचार** अर्थात् बार–बार सहचार दर्शन को ही व्याप्ति–ग्रहण का उपाय या साधन माना है। इनके अनुसार यद्यपि प्रथमत जब धूम और वह्नि साथ–साथ देखे जाते है तब भी दोनो की व्याप्ति गृहीत रहती है, किन्तु उक्त सहचार मे शका उपस्थित हो जाने के कारण बार–बार अवलोकन द्वारा उसका निरास किया जाता है (उपाधि निरास)। उपाधि रहित हेतु मे ही गमकता रहती है। इसलिए प्रथम सहचार दर्शन मे व्याप्ति गृहीत होने पर भी, उसके नियम का ग्रहण नही हो पाता अपितु बार–बार साध्य और हेतु को साथ–साथ देखने पर ही उपाधि के अभाव का निश्चय किया जाता है। इसी भूय सूक्ष्म परीक्षण से उक्त काकतालीय (आकस्मिक) रासभ और वह्नि के सहचार की आपत्ति का भी निराकरण हो जाता है। अत अन्वयव्यतिरेक सहचार के भूय अवलोकन को ही व्याप्ति निश्चय के प्रति कारणीभूत उपाय माना जा सकता है।[85]

भाट्ट मीमासको का भी मानना है कि दो चार बार धूम और अग्नि को साथ–साथ देखने और धूम को अग्नि के बिना कभी न देखने से **भूयोदर्शन** के आधार पर धूम और अग्नि के बीच नियत साहचर्य का सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है।[86] उनका यह भी कथन है कि यद्यपि भूयोदर्शन सीमित क्षेत्र से ही सम्बद्ध है किन्तु इसके आधार पर अनुमान किया जा सकता है। अत भाट्ट मीमासक प्रकारान्तर से व्याप्ति का ग्रहण अनुमान से करते हैं।

किन्तु **प्रभाकर** भूयोदर्शन के स्थान पर व्याप्ति-ग्रहण के लिए केवल एक बार के इन्द्रिय प्रत्यक्ष को ही पर्याप्त मानते है। प्रभाकर मत को सपादित करते हुए **शालिकनाथ** ने लिखा है कि सम्बन्ध नियम का ग्रहण केवल एक बार के इन्द्रिय प्रत्यक्ष से हो सकता है। तात्पर्य यह है कि वह्नि-धूम की व्याप्ति का ग्रहण दोनो को एक साथ नियत रुप से देखने मात्र से हो जाता है। दूसरे शब्दो मे वह्नि-धूम की व्याप्ति देश-काल से अवच्छिन्न प्रत्यक्ष द्वारा ही अवगत होती है।

किन्तु प्रभाकर का उपर्युक्त मत मान्य नही है। यद्यपि यह सत्य है कि स्वाभाविक सम्बन्ध ा का कभी बाध नहीं होता। इसलिए धूम और अग्नि का सयोग एक बार के प्रत्यक्ष दर्शन से ही अवगत हो जाता है। किन्तु भविष्य मे भी ऐसा होगा इसकी क्या गारण्टी है ? प्रत्यक्ष के द्वारा यह सभव नही है, क्योकि प्रत्यक्ष केवल वर्तमान काल से ही सम्बद्ध रहता है। अनुमान से भी यह सभव नही है क्योकि अनुमान स्वय व्याप्ति ज्ञान पर आधारित है। अत उपाधि की सभावना को निर्मूल करने के लिए भूयोदर्शन की आवश्यकता है। इसलिए सुकृद्दर्शन से व्याप्ति का अवधारण नही हो सकता। इन्ही कठिनाइयो के कारण **पार्थसारथि मिश्र** ने व्यभिचारविरहित सहचार दर्शन को व्याप्ति ग्रहण का आवश्यक एव पर्याप्त साधन माना है। इनके अनुसार व्यभिचारादर्शन सहकृत दृश्यमान् देश काल मे लिगी के साथ लिग का भूयोदर्शन ही नियम का गमक होता है।

किन्तु ध्यान पूर्वक समीक्षा करने से स्पष्ट होता है कि यह मत भी युक्तिसगत नही है क्योकि भूयोदर्शन से उपाधि के अभाव का निश्चय नही हो सकता। जैसे 'जहॉ-जहॉ वह्नि होती है, वहॉ-वहॉ धूम रहता है" इस प्रकार का अन्वय सहचार पर्वत पाकशाला चत्वर, फैक्टरी आदि मे तथा 'जहॉ-जहॉ धूम नही है, वहॉ-वहॉ अग्नि भी नहीं है" इस प्रकार का व्यतिरेक सहचार तालाब, कूप, झील, समुद्र आदि मे सैकडो बार अवलोकन कर भी वह्नि का धूम के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता, क्योकि हेतु वह्नि का व्यभिचार साध्य वह्नि अधिकरण जलते हुए अगारे, अयोगोलक आदि मे देखा जाता है। आर्द्रेन्धन सयोग उपाधि से दूषित होने के कारण यह सम्बन्ध औपाधिक कहलाता है, स्वाभाविक नही। अत भूय सहचार दर्शन से कहीं स्वाभविक सम्बन्ध का निश्चय होना सभावित भी हो सकता है, किन्तु जहॉ एक भी स्थान मे उनके सहचार का अभाव अथवा व्यभिचार का आविर्भाव हो जाता है, वहॉ यह साधन निष्प्रयोजक हो जाता है।

गगेश का भी कहना है कि साध्य और साधन के सहचार का भूय दर्शन, क्रमिक अथवा सामूहिक रुप से व्याप्ति ज्ञान का कारण नही है, क्योकि क्रमिक दर्शनो (प्रत्यक्ष) का विनाश शीघ्रता से हो जाता है। परिणमत सामूहिक रुप से भी व्याप्ति ज्ञान को उत्पन्न करने की इसमे क्षमता नही पायी जाती। इनके सस्कार से भी व्याप्ति गृहीत नहीं हो सकती, क्योकि सस्कार तो इन्द्रियार्थसन्निकर्ष की सहायता से पूर्व अनुभूत दो वस्तुओ की व्याप्ति की स्मृति मे ही कारण माने जा सकते है। ' भूयोदर्शन' शब्द के निम्नलिखित अनेक अर्थ हो सकते हैं–

1 एक ही वस्तु का अनेक बार दर्शन।

2 साध्य और हेतु के अनेक दृष्टान्तो का दर्शन।

3 साध्य और हेतु के सहचार का अनेक अधिकरणो मे दर्शन।

उपर्युक्त अर्थो मे से प्रथम अर्थ अयुक्तिपूर्ण और अग्राह्य है क्योकि साध्य और हेतु को एक बार देखने पर भी व्याप्ति का ग्रहण हो सकता है। अत उसके बार-बार अवलोकन की आवश्यकता नही है। अन्तिम दोनो अर्थ भी निप्रयोजक है क्योकि यह रसवान है रुपवान होने से ऐसे उदाहरणो मे साध्य और हेतु को अनेक दृष्टान्तो और अधिकरणो मे अनेक बार साथ-साथ भी उनमे व्याप्ति का ग्रहण नहीं हो सकता। **गगेश** का समर्थन करत हुए **रघुनाथ शिरोमणि गदाधर भट्टाचार्य,**[87] **विश्वनाथ,**[88] **अन्नभट्ट**[89] तथा **नीलकठ** ने भी भूयोदर्शन को व्याप्ति ग्राहक प्रमाण नही माना है। अत भूयोदर्शन को व्याप्ति ग्रहण का साधन नही माना जा सकता।

यद्यपि न्याय दर्शन के प्रवर्तक **गौतम** ने व्याप्ति की स्पष्ट चर्चा नही की, थी किन्तु चूँकि उन्होने अनुमान को प्रत्यक्ष पूर्वक माना है अत यह कहा जा सकता है कि उन्होने **प्रत्यक्ष** को अनुमान का कारण माना है हालॉकि **"न्याय सूत्र"** मे इस तरह का कोई स्पष्ट विवचन नही पाया जाता। **मीमासको मे सुचरित मिश्र** और **पार्थसारथि मिश्र** ने इस बात का उल्लेख किया है कि नियम का ग्रहण प्रत्यक्ष के द्वारा होता है।

लेकिन **वाचस्पति मिश्र** ने इस मत का खण्डन किया है। उनके अनुसार **प्रत्यक्ष** को व्याप्ति ग्राहक साधन नही माना जा सकता क्योकि प्रत्यक्ष से भूतकालीन और भविष्यत्कालीन वस्तुओ का ज्ञान नही किया जा सकता जबकि व्याप्ति का क्षेत्र तीनो कालो तक विस्तृत है।

कुछ दार्शनिको के अनुसार **मानस प्रत्यक्ष** से व्याप्ति का ग्रहण होता है। किन्तु यह मत भी ठीक नही है, क्योकि मन के विषय आत्मा और उसके सुख-दुख आदि धर्म हैं एव व्याप्ति आत्मा का धर्म नहीं है, किन्तु दो वस्तुओ का नियत सम्बन्ध है। **श्रीधर** और **जयन्तभट्ट** का कहना है कि व्याप्ति सम्बन्ध प्रत्यक्ष से कदाचित् गम्य भी हो सकता है किन्तु फिर भी वह वाह्य विषय से ही सभव है मानस प्रत्यक्ष से नहीं क्योकि वाह्य विषय मे मन स्वतन्त्र नहीं है। यदि मन को वाह्य वस्तुओ के ज्ञान मे स्वतन्त्र माना जायेगा, तो गूँगे अन्धे भी वाह्य अर्थ का ग्रहण करने लगेगे।[90]

सामान्य-लक्षण प्रत्यक्ष को भी व्याप्ति का आधार नही माना जा सकता क्योकि ऐसा मान लेने पर अनुमान की आवश्यकता ही समाप्त हो जाती है। **योगज प्रत्यक्ष** को भी व्याप्ति का आधार नही माना जा सकता क्योकि योगियो को तो योगज पत्यक्ष से ही सब वस्तुओ का ज्ञान हो जायेगा। अत उसे अनुमान करने की आवयकता ही नहीं होगी।[91]

वाचस्पति मिश्र के अनुसार व्याप्ति का निश्चय तर्क सहकृत भूय दर्शन से होता है। उनका मत है कि प्रत्यक्ष का सम्बन्ध केवल वर्तमान कालिक पदार्थों से ही होता है। अत उससे

सर्वकालिक व्याप्ति का निश्चय नहीं हो सकता। व्याप्ति उपाधिविहीन स्वाभाविक सम्बन्ध है। हेतु और साध्य के स्वाभाविक सम्बन्ध मे यदि व्यभिचार की शका हो तो उसका निवारण तर्क से होता है। **उदयन** ने शका रुप प्रतिबन्धक का निवर्तक होने के कारण तर्क को व्याप्ति ज्ञान का सहकारी माना है।

इस सिद्धान्त की आलोचना करते हुए **गगेश** ने लिखा है कि तर्कसहकृत भूयोदर्शन को व्याप्ति ग्राहक प्रमाण माना जाय और भूय दर्शन को प्रयोजनशून्य समझा जाय यह युक्ति सगत नही है। यह भी नही कहा जा सकता कि भूयोदर्शन के बिना तर्क का ज्ञान सभव नही हो सकता क्योकि कोई भी व्यक्ति एक बार ही व्याप्ति ज्ञान प्राप्त कर तर्कबोध कर सकता है। यदि तर्क को व्याप्ति ज्ञान का आधार माने तो **अनवस्था दोष** की प्राप्त होगी क्योकि एक व्याप्ति ज्ञान मे व्यभिचार शका होने पर तर्क की आवश्यकता होगी और उसके ज्ञान होने पर अन्य तर्क की। इस प्रकार से अनत श्रृखला उपस्थित हो जाती है। पुनश्च जिस व्यक्ति को एक बार के सहचार ज्ञान से ही यथार्थ व्याप्ति का ज्ञान हो जाता है, उसे भूयोदर्शन एव उपाधि निरास सहायक तर्क की अपेक्षा नहीं होती। ऐसी परिस्थिति मे व्याप्ति ग्राहक प्रमाण की कारणता का व्यभिचार होने पर उसे कारण नहीं माना जा सकता।[92]

तर्कसहकृत भूयोदर्शन के दोषो को ध्यान मे रखते हुए **जयन्त भट्ट** ने **"नियमित सहचार"** अर्थात् उसके होने पर ही होना और उसके न होने पर कभी न होना" को ही व्याप्ति ग्राहक प्रमाण माना है। व्याप्ति ग्राहक प्रमाण माना है। जहाँ साध्य के होने पर ही हेतु का सद्भाव और साध्य के अभाव मे हेतु का भी अभाव नियमित रुप से पाया जाय, वहाँ व्यभिचार होने की सभावना नही होती। इसीलिए जयन्त ने भूयोदर्शन प्रत्यक्ष मानस प्रत्यक्ष, योगि प्रत्यक्ष आदि को व्याप्ति ग्रहण मे कारण न मानते हुए नियमित सहचार को ही व्याप्ति का कारण माना है।[93]

किन्तु यह मत भी इसलिए समीचीन नही है कि भूत और वर्तमान मे भले ही धूम का अग्नि के साथ नित्य साहचर्य होने मे कोई व्यतिक्रम नहीं है, किन्तु कालान्तर-देशान्तर और भविष्य मे भी ऐसा ही होगा इसका क्या विश्वास है? इस शका का समाधान सहचार नियम के द्वारा नहीं हो सकता। इसलिए इसे भी व्याप्ति स्थापना का प्रामाणिक साधन नहीं माना जा सकता।

उपर्युक्त सभी आक्षेपो का निराकरण करते हुए **गगेश** ने कहा है कि **"व्यभिचार ज्ञान के अभाव से युक्त सहचार दर्शन ही व्याप्ति ग्राहक साधन है और व्यभिचार शकाओ का निरास विपक्ष बाधक तर्क द्वारा सम्पन्न होता है।"**[94] गगेश के अनुसार केवल तर्क को कारण मानने पर **अनवस्था दोष** होगा। इसके साथ यह भी कहा जा सकता है कि जिस व्यक्ति को एक बार के सहचार दर्शन से ही व्याप्ति का ज्ञान हो जायेगा, उसके लिए भूयोदर्शन निरर्थक है, चाहे वह तर्कसहकृत हो या न हो। सामान्यत तर्क का अवतरण भूयो दर्शन के विना नही होता। इसलिए परम्परा से भूयो दर्शन भी व्याप्ति निश्चय का कारण हो सकता है, किन्तु वह साक्षात् कारण नहीं है। तर्क भी प्रमाणो का अनुग्राहक है, स्वय प्रमाण नही। इसीलिए गगेश का

कहना है कि व्यभिचार ज्ञान के अभाव से युक्त सहचार दर्शन ही व्याप्ति का ग्राहक है। **विश्वनाथ** और **अन्नभट्ट** ने भी गगेश के मत का अनुगमन किया है। **अद्वैत वेदान्त** मे भी **अतीत व्यभिचारदर्शन रहित सहचार दर्शन** को व्याप्ति ग्रहण का साधन माना गया है।

उदयन और **गगेश** ने **तर्क** को व्याप्ति ज्ञान का सहकारी माना है। भूयो दर्शन" अथवा व्यभिचार अदर्शन सहित सहचार दर्शन" आदि साधनो के आधार पर धूम मे साध्य की व्याप्ति का निश्चय यदि हो भी जाय और उसके द्वारा अनुमिति निष्पन्न होने के उपरान्त भी यदि वहॉ व्यभिचार शका उपस्थिति हो जाय कि इस बात का क्या प्रमाण है कि भविष्य मे भी यह सम्बन्ध बना रहैगा? इस शका का निवारण **तर्क** द्वारा होता है। उदयन और गगेश का कहना है कि "सभी धूमवान् पदार्थ वह्निमान है यदि यह व्याप्ति वाक्य सत्य नही है तो इसका विराधी वाक्य कुछ धूमवान पदार्थ वह्निमान् नही हैं अवश्य सत्य होगा। किन्तु इसका खण्डन कार्य-कारण-सम्बन्ध सिद्धात द्वारा हो जाता है। अत सभी धूमनवान् पदार्थ वहिनमान है" यह व्याप्ति वाक्य तर्क द्वारा सत्य सिद्ध होता है। इस प्रकार उदयन और गगेश भी व्याप्ति स्थापना के लिए तर्क की सहायता अपेक्षित मानते है। इस मत को गगेश के उत्तरवर्ती सभी आचार्य मानते है।

परन्तु तर्क को व्याप्ति निश्चय का ग्राहक प्रमाण मान लेने पर और उसमे होने वाली समस्त व्यभिचार शकाओ का विपक्ष बाधक तर्क द्वारा पूर्णत व्यवच्छेद हो जाने पर भी समस्त साध्य-साधनो की सार्वकालिक तथा सार्वदेशिक व्याप्ति का ग्रहण होना दुष्कर है[95] क्योकि साधारण व्यक्ति द्वारा अनन्त धूम और अनन्त वह्नियो का व्यक्तिश ग्रहण करना सर्वथा असभव है और यदि सभव हो भी जाय तो यह सामान्य नियम निर्धारण नही किया जा सकता कि सम्पूर्ण साध्य-साधनो मे सर्वत्र नियत साहचर्य ही पाया जाये क्योकि केवल एक दो स्थानो मे व्यभिचारहित साहचर्य देखकर यह सामान्य नियम नही बनाया जा सकता कि समस्त धूमो का समस्त वह्नियो के साथ सर्वत्र एव सर्वदा सहचार सम्बन्ध पाया जाये। इस समस्या के समाधान के लिए ही न्याय दर्शन मे **सामान्य लक्षणाप्रत्यासत्ति** नामक अलौकिक सन्निकर्ष का अवलम्बन लिया गया है। इसके द्वारा एक वस्तु को देखने पर उसके समान सभी वस्तुओ का बोध हो जाता है। जैसे पाकशाला मे वह्नि के स्पार्शन प्रत्यक्ष द्वारा उसकी उष्णता का बोध हो जाने पर "सभी वह्नियॉ उष्ण होती है" ऐसा ज्ञान होता है। अत धूम को देखकर धूमत्वेन सकल धूमो का तथा वह्नि को देखकर वह्नित्वेन सकल वह्नियो का ज्ञान हो जाता है। इन दोनो को पाकशाला आदि किसी स्थान मे नियत रुप से सहचरित देखकर सर्वत्र उनके नियत सहचार का ज्ञापन किया जा सकता है। इससे सिद्ध होता है कि नियत व्याप्ति सम्बन्ध साध्य और साधन के समस्त उदाहरणो को समाविष्ट करता है। इसीलिए **"तत्त्वचिन्तामणि"**[96] तथा **"तर्कसग्रहदीपिका"**[97] मे सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति को व्याप्ति ग्रहण का आवश्यक साधन माना गया है।

किन्तु **नैयायिको** की व्याप्ति ग्रहण के साधन के रुप मे सामान्य लक्षणाप्रत्यासत्ति की अवधारणा तर्क सगत नही है क्योकि सामान्य लक्षणा को स्वीकार कर लेने पर जिस प्रकार घटत्व अथवा घट ज्ञान रुप सामान्य लक्षणा द्वारा समस्त घटो का ज्ञान हो जाता है उसी प्रकार से प्रमेयत्व रुप से समस्त प्रमेयात्मक जगत् का ज्ञान हो जाना चाहिये। इससे न्यायमत मे सर्वज्ञता की आपत्ति होगी और यदि नैयायिक इस आपत्ति को स्वीकार करते है तो अनुभव विरोध और स्वशास्त्र विरोध होगा क्योकि स्वय नैयायिको ने भी ईश्वर को ही सर्वज्ञ माना है अल्पज्ञ होने से जीव को नही। सर्वज्ञता को लेकर सामान्य लक्षणा पर इसी प्रकार के प्रहार **श्रीहर्ष** ने भी किये है।[98]

जैन दर्शन मे **तर्क** को ही एकमात्र व्याप्ति ग्राहक साधन माना गया है। **अकलक** के अनुसार प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ से होने वाला सभावनात्मक ज्ञान तर्क है। **माणिक्यनन्दि** ने अकलक का अनुसरण करते हुए कहा है कि **"उपलम्भ और अनुपलम्भ के निमित्त से जो व्याप्ति ज्ञान होता है, उसे ऊह अर्थात तर्क कहा जाता है।"** जैसे, "साध्य अग्नि के होने पर ही साधन धूम का होना" इस उपलम्भ तथा अग्नि के अभाव मे धूम का कदापि न होना" इस अनुपलम्भ का कारण व्याप्ति को सर्वोपसहार रुप से जानना ही तर्क है। जैन दार्शनिको के मतानुसार प्रत्यक्ष का विषय बनने वाले साध्य और साधन ही नहीं, अपितु अनुमान और आगम के विषयभूत पदार्थो मे भी अन्वय–व्यतिरेक द्वारा अविनाभाव का निश्चय तर्क द्वारा होता है। **साख्याचार्य विज्ञानभिक्षु** का भी मानना है कि नियम (व्याप्ति) का ग्रहण अनुकूल तर्क से होता है।

लेकिन यह मत निर्दोष नहीं है। इस मत का खण्डन करते हुए **नैयायिको** का कहना है कि तर्क को व्याप्ति ग्राहक प्रमाण मानने पर **अनवस्था दोष** की प्राप्ति होगी। इसका विस्तृत विवेचन न्याय मत मे किया गया है।

वेदान्तपरिभाषाकार **धर्मराजाध्वरीन्द्र** ने व्याप्ति ग्राहक प्रमाण की चर्चा करते हुए कहा है कि व्याप्ति का निश्चय **व्यभिचारशून्य सहचार दर्शन** से ही होता है चाहे यह निश्चय एक बार के देखने से हो अथवा बार–बार के अवलोकन से हो। किन्तु सहचार दर्शन होना प्राथमिक रुप से आवश्यक है क्योकि जिन पदार्थों मे सहचार नहीं देखा गया हो उनमे व्याप्ति अथवा व्यभिचार दोनो का निश्चय नही किया जा सकता।[99] **"शिखामणि"**[100] **"मणिप्रभा"**[101] तथा **"अर्थदीपिका"**[102] मे भी इसी मत का समर्थन किया गया है।

वेदान्तपरिभाषाकार की व्याख्या और **पार्थसारथि मिश्र** के मत मे पर्याप्त साम्य दिखाई देता है। दोनो मे **प्रमुख अतर** मात्र इतना है कि पार्थसारथि मिश्र ने जहॉ व्यभिचार के अदर्शन के साथ–साथ भूय सहचार दर्शन को आवश्यक माना है, वहॉ धर्मराजाध्वरीन्द्र ने सहचार दर्शन मात्र को प्रयोजक सिद्ध किया है।

भाट्ट उम्बेक के अनुसार सम्बन्ध नियम का निश्चय **अर्थापत्ति** से हो सकता है। इस सिद्धान्त के अनुसार यदि नियत सम्बन्ध नही होता, तो किसी देश अथवा काल मे धूम अग्नि के

बिना भी देखा जा सकता था। किन्तु ऐसा नही होता। अत सम्बन्ध नियम को अर्थापत्ति गम्य मानना चाहिए।[103]

किन्तु **पार्थसारथि** व **शालिकनाथ** ने उम्बेक के मत का खण्डन इस आधार पर किया है कि सैकडो बार यह देखने पर भी अग्नि के अधिकरण मे ही धूम रहता है यह निश्चित रुप से नही कहा जा सकता कि भविष्य मे भी ऐसा ही होगा।[104]

अन्य अनुमान वादी भारतीय दार्शनिको की भॉति **बौद्ध दार्शनिक** भी व्याप्ति को अनुमान का आधार मानते है। लेकिन बौद्धो का अन्यो से भेद यह है कि जहॉ बाद्धेतर नैयायिक व्याप्ति निश्चय के लिए वर्तमान भूत और भविष्यत् के उदाहरणो पर विचार करना आवश्यक मानते है वहॉ बौद्ध दार्शनिको का मत है कि व्याप्ति का ग्रहण भूत वर्तमान और भविष्यत के सभी उदाहरणो पर विचार किये बिना भी हो सकता है।

व्याप्ति प्रसग मे विचार करते हुए **धर्मकीर्ति** ने लिखा है कि किसी हेतु का साध्य से साथ व्याप्ति सम्बन्ध है यह बात जानने के लिए साध्य और साधन के "स्वाभाव प्रतिबन्ध" का ज्ञान होना आवश्यक है– **स्वभाव प्रतिबन्धे हि सत्यर्थे गम्येत्।"**[105] यह स्वभाव प्रतिबन्ध दो प्रकार का होता है– **तादात्य लक्षण** और **तदुत्पत्ति लक्षण।**[106] बौद्ध मत मे इन्ही दो सम्बन्धो के द्वारा हेतु की साध्य के साथ व्याप्ति ग्रहण की जाती है। साध्य के साथ स्वभाव हेतु का तादात्म्य तथा कार्य का तदुत्पत्ति सम्बन्ध होता है।[107]

धर्मकीर्ति का स्पष्ट कथन है कि सपक्ष मे हेतु के दर्शन और विपक्ष मे अदर्शन मात्र से व्याप्ति की सिद्धि नही हो सकती। इसका कारण यह है कि सपक्ष मे दर्शन और विपक्ष मे अदर्शन तो व्यभिचारी हेतु मे भी हो सकता है। इसलिए धर्मकिर्ति का कहना है कि व्याप्ति का निश्चय हेतु और साध्य के बीच अविनाभाव सम्बन्ध से होता है–

कार्यकारणभावाद् वा स्वभावाद् वा नियामकात्।
अविनाभावनियमो दर्शनान्न न दर्शनात्।।

बौद्धो के अनुसार **तीन प्रकार के हेतु** होते हैं– **स्वभाव हेतु कार्य हेतु और अनुपलब्धि हेतु।** बौद्धो ने कारण हेतु की चर्चा नही की है क्योकि उनके अनुसार किसी कारण से उसके कार्य का अनुमान नही हो सकता। केवल कार्य से ही उसके कारण का अनुमान हो सकता है। इसलिए बौद्धो के अनुसार कारण हेतु का उल्लेख अनावश्यक है। बौद्धो का तदुत्पत्ति सिद्धान्त कार्य हेतु और अनुपलब्धि हेतु पर आधारित है। अत तदुत्पत्ति सिद्धान्त पर आधरित व्याप्ति कारण और कार्य के सम्बन्ध के ज्ञान पर निर्भर है जिसके लिए बौद्धो ने **पचकारिणी विधि** का प्रवर्तन किया है। पचकारिणी एक निरीक्षण विधि है। पचकारिणी विधि के द्वारा बौद्ध इस बात का निश्चय करते हैं कि किन्हीं दो वस्तुओ के बीच कार्यकारण सिद्धान्त है या नहीं। पचकारिणी विधि के पॉच सोपान है जिनका सोदाहरण विवेचन आधोवत् है–

1 कार्य की उत्पत्ति से पहले कारण का अदर्शन	न मच्छर है न मलेरिया
2 कारण का दर्शन	मच्छर की उत्पत्ति,
3 कार्य का दर्शन	मलेरिया की उत्पत्ति
4 कारण का अदर्शन	मच्छर का नाश
5 कार्य का अदर्शन	मलेरिया का भी नाश।

लेकिन कार्य और कारण के सम्बन्ध के ज्ञान के आधार पर बौद्ध जिस व्याप्ति का निश्चय करते हैं वह कार्यकारण सिद्धान्त सतोषजनक नहीं है। कार्य–कारण सम्बन्ध दो वस्तुओ पर निर्भर करता है। बौद्ध क्षणिकवादी है। अत यहॉ प्रश्न यह उठता है कि बौद्ध इस कार्य-कारण सम्बन्ध को दो क्षणिक वस्तुओ के बीच मानते है या दो क्षणिक धाराओ के बीच? दोनो ही विकल्प इस सिद्धान्त की पुष्टि करने मे अक्षम है। पहला विकल्प असम्भव है, क्योकि दो वस्तुओ मे कार्य-कारण सम्बन्ध होने के लिए उनका कम से कम दो क्षणो तक अस्तित्व मे होना आवश्यक है। द्वितीय विकल्प भी कार्य-कारण सम्बन्ध की पुष्टि नहीं कर पाता, क्योकि यह एकदम काल्पनिक है।

बौद्ध अपने मत के समर्थन मे **कणाद** का उल्लेख करते है। किन्तु बौद्धो का यह कथन अनुचित है कि कणाद ने भी कारण का अनुमान कार्य से करने की बात कही है। वस्तुत कणाद ने तो केवल यह कहा है कि कारण और कार्य मे विद्यमान सम्बन्ध अनुमान का आधार है। कार्य कारण के अतिरिक्त और भी हेतु है।[108]

बौद्ध दार्शनिक तदुत्पत्ति के आतिरिक्त **तादात्म्य सम्बन्ध** के द्वारा भी हेतु की साध्य के साथ व्याप्ति का निश्चय करते है। **तादात्म्य का अर्थ है– दो वस्तुओ मे उनके सारगुण की एकता।** जैसे, मनुष्य और जीव मे जीवत्त्व। **धर्मोत्तर** ने तादात्म्य की व्याख्या करते हुए लिखा है कि **"वह साध्य अर्थ जिसका आत्म स्वभाव होता है, वह तदात्मा और उसके भाव को तादात्म्य कहा जाता है।"** इसका आशय यह है कि जो वस्तु किसी दूसरी वस्तु की आत्मस्वरूप होती है वह उसके बिना कदापि नहीं रह सकती। इसलिए तादात्म्य सम्बन्ध को अविनाभाव का नियामक कहा जाता है। जैसे शिशपा और वृक्ष मे तादात्म्य सम्बन्ध पाया जाता है, क्योकि शिशपात्व का वृक्ष के अतिरिक्त कोई अस्तित्व नही है। लेकिन यहॉ इस बात का उल्लेख करना आवश्यक है कि 'यह शिशपा है, वृक्ष होने से", यहॉ शिशपा और वृक्ष मे जो तादात्म्य सम्बन्ध पाया जाता है, उसका निश्चय समान अधिकरणता के आधार पर ही किया जाता है। जिन दो वस्तुओ मे एक समान धर्म पाया जाता है उन्ही मे तादात्म्य सम्बन्ध होता है। जैसे, वृक्षत्व रूप सामान्य धर्म मे शिशपा और वृक्ष दोनो सन्निविष्ट हो जाते हैं। शिशपा और वृक्ष दोनो का अधिकरण होने के नाते वृक्षत्व को समान अधिकरण कहा जाता है। इसी समानाधिकरण्य सम्बन्ध को ही तादात्म्य सम्बन्ध कहा जा सकता है। इसके विपरीत जहॉ दो वस्तुओ मे अत्यन्त अभेद पाया जाता है, वहॉ तादात्म्य सम्बन्ध नही होता। जैसे, यह घट है, कलश हाने से", यहॉ घट और कलश पर्यायवाची

होने के कारण उनमे किसी प्रकार का भेद ज्ञापित नही होता। इसी प्रकार जिन पदार्थो मे अत्यन्त भेद पाया जाता है उनमे भी प्रकृत सम्बन्ध नही पाया जाता है। जैसे, यह गाय है अश्व होने से यहॉ गाय और अश्व अत्यन्त भिन्न प्राणी है। अत उनमे तादात्म्य सम्बन्ध नही है। अत साध्य साधन मे जहॉ अत्यन्त अभेद अथवा अत्यन्त भेद प्रसक्त होता है वहॉ तादात्म्य सम्बन्ध नहीं होता अपितु उनमे समानाधिकरण्य पाया जाना ही तादात्म्य सम्बन्ध है।[109]

लेकिन बौद्धो के अनुसार तादात्म्य सम्बन्ध ही केवल अविनाभव का निश्चायक नही है प्रत्युत जैसा कि पहले बताया गया है साध्य अर्थ से जिस लिग की उत्पत्ति होती है वह **तदुत्पत्ति सम्बन्ध** अर्थात् कार्य-कारणभाव सम्बन्ध भी नियामक है। इन दोनो सम्बन्धो को ही धर्मकीर्ति ने अविनाभाव का नियामक माना है एव जिसका वह स्वभाव न हो अर्थात जिसकी उससे उत्पत्ति न हो (तादात्म्य और तदुत्पत्ति न हो) उसमे स्वभाव प्रतिबद्धता अर्थात् अविनाभाव नही रहता।[110]

किन्तु गम्भीर रूप से विचार करने पर स्पष्ट होता है कि जिस प्रकार बौद्धो का तदुत्पत्ति सिद्धान्त दोषपूर्ण है उसी प्रकार उनका तादात्य सिद्धान्त भी दोषपूर्ण है। बौद्धो का यह कथन है कि प्रत्येक वस्तु का अपना स्वभाव होता है, जिससे उसको पृथक् नही किया जा सकता। इसलिए साध्य के अभावीय उदाहरणो मे भी हेतु और साध्य का तादात्म्य दिखाई देता है। किन्तु तादात्म्य उन्ही पदार्थों मे हो सकता है जिनका एक साथ दर्शन हो। किन्तु यदि धूम और अग्नि का एक साथ ही दर्शन हो जाय तो अनुमान की आवश्यकता ही क्या रह जाती है? और यदि उनके एक साथ दर्शन नही होते तो फिर उनमे तादात्म्य कैसे रह सकता है?[111]

दूसरी बात यह है कि यदि तर्क के लिए हेतु और साध्य का तादात्म्य मान भी लिया जाय, तो दोनो मे से किसी भी एक से दूसरे का अनुमान हो जाना चाहिए। किन्तु ऐसा नही होता। तथ्य यह है कि धूम से अग्नि का अनुमान तो हो सकता है किन्तु अग्नि से धूम का अनुमान नही हो सकता।

इस आपत्ति के निराकरणार्थ **बौद्ध** कहते हैं कि तादात्म्य का अर्थ प्रतिबन्ध है, न कि सम्बन्ध –**"तादात्म्य प्रतिबन्ध।"** प्रतिबन्ध का अर्थ है एक का दूसरे पर निर्भर होना, जबकि सम्बन्ध मे दोनो वस्तुऍ समान होती है।

लेकिन बौद्धो की इस युक्ति के विरुद्ध **नैयायिक जयन्त** का कहना है कि तादात्म्य का ऐसा अर्थ लगाना ठीक नहीं है। उनका यह भी कथन है कि कई बार कारण नहीं दिखाई देता केवल कार्य ही दिखाई देता है। अत हेतु और साध्य का तादात्म्य किसी भी प्रकार सभव नही है। बौद्धो के अनुसार **"शब्दोऽनित्य कृतकत्वात्"**, इस उदाहरण मे अनित्यत्व और कृतकत्व मे तादाम्य सम्बन्ध है किन्तु **जयन्त** का कहना है कि यद्यपि प्रत्येक कार्य नाशवान् है, परन्तु **"कार्य"** **स्वय मे "नाश" तो नही है। इसके साथ ही जब किसी वस्तु का नाश हो जाता है, तो वह वस्तु दिखाई नहीं देती। ऐसी स्थिति मे उस वस्तु और उसके नाश मे तादात्म्य कैसे हो सकता है?**[112]

धर्मकीर्ति के अनुसार विपरीत वस्तु के आरोप की व्यावृत्ति के लिए अनुमान किया जाता है।" किन्तु इसके प्रत्युत्तर मे **जयन्त** का कहना है कि वृक्षत्व और शिशपात्व मे अभेद होने से शिशपात्व के ग्रहण से वृक्षेतर वस्तु के समारोप का प्रश्न ही नही उठता।[113]

निष्कर्ष यह है कि अविनाभाव निश्चायक साधनो को केवल तादात्म्य और तदुत्पत्ति तक ही प्रतिबन्धित नही किया जा सकता। इस मत की समीक्षा करते हुए **पार्थसारथि मिश्र** ने लिखा है कि जहॉ कार्य-कारणभाव तथा तादात्म्य निश्चय दोनो नही अथवा दोनो मे से एक भी नही है वहॉ अनुमान नही होना चाहिए। किन्तु इन दोनो के अभाव मे भी कृतिका नक्षत्र के उदय होने से अचिरोदित (समीप मे उदय होने वाले) रोहिणी के उदय होने का यथार्थ अनुमान होता है। इसी प्रकार रस से रूप का भी अनुमान होता है। फिर अविनाभाव भी एक प्रकार का नियम ही है और कार्यकारणभाव भी पौर्वापर्य रूप से नियम का ही भान कराता है। अत नियम को ही नियम का ग्राहक प्रमाण मानने से **आत्माश्रय दोष** होगा। इससे सिद्ध होता है कि कार्यकारणभावरूप तदुत्पत्ति सम्बन्ध का अनुसरण करना व्यर्थ है।[114] **श्रीधर** ने भी इसी प्रकार तादात्म्य तथा तदुत्पत्ति सिद्धान्तो का विस्तृत खण्डन किया है। केवल नैयायिक ही नहीं, प्राय सभी बौद्धेतर दार्शनिको ने बौद्धो के इन सिद्धान्तो का खण्डन किया है। अत तादात्म्य और तदुत्पत्ति द्वारा व्याप्ति का निर्धारण नही किया जा सकता।

ऊर्ध्व विवेचन से स्पष्ट होता है कि व्याप्ति ग्रहण के साधनो के बारे मे न्याय, वैशेषिक बौद्ध आदि जितने मत है सब दोषपूर्ण है। इस सन्दर्भ मे **अद्वैत वेदान्त** मत अधिक तर्कसगत दिखाइ देता है। व्याप्ति का निश्चय एक बार के दर्शन मात्र से भी हो सकता और अनेक बार के दर्शन से भी। अत इसके लिए केवल भूय सहचार दर्शन को आवश्यक मानना उचित नहीं है। **सक्षेप मे, व्याप्ति का निश्चय व्यभिचारशून्य सहचार दर्शन से ही होता है– चाहे यह निश्चय एक बार के दर्शन से हो अथवा अनेक बार के अवलोकन से।**

ग व्याप्ति के भेद

प्राय सभी अनुमानवादी दार्शनिको ने व्याप्ति के भेदो की चर्चा की है। भारतीय दार्शनिक ग्रन्थो मे व्याप्ति के निम्नलिखित भेद पाये जाते है– 1 अन्वय-व्यतिरेक व्याप्ति, 2 समव्याप्ति-विषम व्याप्ति, 3 सामान्य-विशेष व्याप्ति 4 सह-क्रम व्याप्ति, 5 अन्त, वहि एव साकल्य व्याप्ति, 6 दैशिक-कालिक व्याप्ति।

अन्वय-व्यतिरेक व्याप्तियॉ **महर्षि कणाद** और **गौतम** के सूत्रो मे बीज रूप मे पायी जाती है। इन्हे विकसित करने का कार्य **व्यास, वात्स्यायन एव प्रशस्तपाद** ने किया है तथा इन्हे ठोस सूक्ष्म एव परिष्कृत लक्षण प्रदान करने का श्रेय **कुमारिल भट्ट** को है जिसका समर्थन प्राय सभी उत्तरवर्ती दार्शनिको की कृतियो मे किया गया है। इन्ही लक्षणो का चरम परिष्कार **नव्य न्याय** मे हुआ है।

वात्स्यायन ने साध्य-साधनभाव तथा साध्याभाव-साधनाभाव के रूप मे अन्वय-व्यतिरेक व्याप्ति की चर्चा की है। **वाचस्पति मिश्र**[115] **उदयन** तथा **जयन्त भट्ट**[116] ने भी व्याप्ति के इन भेदो का समर्थन किया है। इनके अनुसार साधन के सद्भाव मे जहॉ साध्य का सद्भाव नियमिति रूप से पाया जाता हो, उसे अन्वय व्याप्ति तथा साध्य के अभाव मे जहॉ साधन का अभाव नियमत उपलब्ध होता है वहॉ व्यतिरेक व्याप्ति होती है। **नव्य न्याय** मे समानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगिसाध्यसमानाधिकरण्य" के रूप मे अन्वय व्याप्ति को परिभाषित किया गया है। **गगेश** के अनुसार **"साध्यभावव्यापकाभावप्रतियोगित्वम्"** अर्थात् साध्याभाव के व्यापक अभाव का प्रतियोगित्व ही व्यतिरेक व्याप्ति का लक्षण है। **केशव मिश्र, अन्नभट्ट तथा विश्वनाथ जैसे नैयायिको तथा बौद्ध नैयायिको** ने भी इस वर्गीकरण को स्वीकार किया है। **प्रशस्तपाद** ने व्याप्ति भेदो के निरूपण मे यद्यपि अन्वय-व्यतिरेक शब्द का प्रयोग नही किया है, किन्तु उनके विधि पद के विवेचन से यही दोनो व्याप्तियॉ अभिप्रेत है।[117]

कुमारिल भट्ट ने व्याप्य-व्यापकभाव निर्णय के लिए अन्वय-व्यतिरेक व्याप्ति का बडे व्यापक रूप से समर्थन किया है जिसका समर्थन सभी उत्तरवर्ती भाट्ट मीमासको ने किया है।[118] किन्तु प्राभाकर मतानुयायी **शालिकनाथ** ने केवल अन्यवय व्याप्ति को ही माना है। उनका कहना **है कि अन्वय व्याप्ति को स्वीकार कर लेने पर व्यतिरेक व्याप्ति स्वत ही सिद्ध हो जाती है।** अत उसे अलग से एक भेद के रूप मे मानने की कोई आवश्यकता नही है। **साख्य दर्शन** मे वीत और अवीत अनुमान के भेदो के माध्यम से व्याप्ति के ये दोनो भेद स्वीकार किये गये हैं।[119] जैन दार्शनिक **सिद्धसेन दिवाकर** ने तथोत्पत्ति तथा अन्यथानुपपत्ति के रूप मे अन्वय व्यतिरेक व्याप्तियो की ही स्थापना की है।[120] **हेमचन्द्र** ने भी इन्हीं दो व्याप्तियो का उल्लेख किया है। इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक व्याप्ति का उल्लेख प्राभाकर मीमासको के अतिरिक्त प्राय सभी दर्शनो मे पाया जाता है। बौद्ध दर्शन मे **धर्मकीर्ति** एव उनके टीकाकार **कर्णकगोमि, मनोरथनन्दी, धर्मोत्तर**[121] आदि ने भी इन व्याप्तियो का विशद् विवेचन किया है। **साख्यतत्त्वकौमुदीकार** के वीत और अवीत अनुमान भेदो मे भी ये दोनो व्याप्तियॉ सूचित की गयी है।[122] **योगभाष्यकार** के अनुमान–विवेचन–निष्ठ सम्बन्ध की व्याख्या मे इन व्याप्तियो का निर्देशन हुआ है।[123]

सम व्याप्ति-विषम व्याप्ति का विवेचन मीमासा **दर्शन के भाट्ट सम्प्रदाय**[124] **तथा साख्य दर्शन**[125] मे किया गया है। अन्य दार्शनिको ने इस सन्दर्भ मे कुमरिल का अनुगमन किया है। जब साध्य और साधन के लिए नियत साहचर्य को अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा समान रूप मे प्रकट किया जा सकता हो तब उन व्याप्य-व्यापक मे **सम व्याप्ति** पायी जाती है किन्तु जहॉ व्याप्य-व्यापक मे इस प्रकार का अन्वय-व्यतिरेक न पाया जाय, वहॉ **विषम व्याप्ति** होती है। दोनो स्थलो मे व्याप्ति हेतु मे ही रहती है इसलिए हेतु को व्याप्य या गमक एव साध्य को व्यापक या गम्य कहा जाता है।

सामान्य-विशेष व्याप्ति का उल्लेख **न्याय** एव **मीमासा दर्शन** मे मिलता है। दो सामान्य पदार्थों मे होने वाली व्याप्ति **सामान्य व्याप्ति है** तथा विशेष पदार्थों मे उपलब्ध व्याप्ति **विशेष**

व्याप्ति है। **बौद्धो** के अनुसार चूँकि अनुमान द्वारा विशेष वस्तुओ का ग्रहण न होकर सामान्य वस्तुओ का ही ग्रहण होता है[126] इसलिए व्याप्ति सामान्य विषयो मे ही हो सकती है विशेष विषयो मे नही।[127] किन्तु **नैययिको**[128] एव **भाट्ट मीमासको**[129] ने बौद्धो के इस मत का खण्डन करते हुए विशेष पदार्थो मे भी व्याप्ति को स्वीकार किया है। अन्य सभी दार्शनिको को न्याय, मीमासा सिद्धान्त ही मान्य है।

सह-क्रम व्याप्ति का विवेचन **माणिक्यनन्दी** से लेकर **यशोविजय** तक प्राय सभी **जैन ग्रन्थो** मे पाया जाता है। अन्य दार्शनिको की रचनाओ मे यह भेद प्राय अुनपलब्ध है।

एक अन्य दृष्टि से **व्याप्ति के अन्त, वहि एव साकल्य तीन भेद** किये गये है। जब पक्ष मे व्याप्य-व्यापक भाव को नियत रूप से ग्रहण किया जाता है तो उसे **अन्तर्व्याप्ति** कहा जाता है और जहॉ पर सपक्ष मे व्याप्ति को ग्रहण कियाा जाता है उसे **वहिर्व्याप्ति** कहते हैं। जहॉ पर पक्ष और सपक्ष दोनो मे व्याप्ति ग्रहण करके अनुमान किया जाता है उसे **साकल्य व्याप्ति** कहा जाता है। **डॉ० महैन्द्र कुमार जैन** ने तीनो व्याप्तियो का निर्देश किया है।

दैशिक एव **कालिक व्याप्ति** का विवेचन केवल **वैशेषिक दर्शन** मे किया गया है। अन्य दार्शनिक ग्रन्थो मे इसका विवेचन नहीं मिलता। **प्रशस्तपाद**[130] एव उनके टीकाकारो ने इन्हे स्पष्ट किया है। यह व्याप्ति-भेद जैनो के सहक्रम भाव का शब्दान्तर मात्र प्रतीत होता है।

इससे स्पष्ट होता है कि व्याप्य-व्यापक की विशेष स्थिति अनुसार व्याप्ति के भी उपर्युक्त अनेक भेद किये गये है। ‘

(2) पक्षधर्मता

अनुमान की निष्पत्ति के दो मुख्य आधार हैं– 1 व्याप्ति और 2 पक्षधर्मता। व्याप्ति ज्ञान द्वारा केवल हेतु और साध्य की नियत सम्बद्धता का ही सामान्य बोध हैाता है। जैसे "पर्वतो अग्निमान् धूमात्", इस अनुमान मे व्याप्ति ज्ञान द्वारा केवल इतना ही, सामान्य बोध हो पाता है कि "जहॉ-जहॉ साधन (हेतु) धूम रहता है, वहॉ-वहॉ साध्य अग्नि भी पायी जाती है" अथवा "साध्य अग्नि के अभाव वाले स्थलो मे साधन धूम का अभाव भी नियमित रूप से ज्ञात होता है।" किन्तु केवल इसी ज्ञान के आधार पर 'पर्वत वह्निमान है" यह निगमन निगमित नही किया जा सकता क्योकि जब तक प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा यह ज्ञात नहीं हो जाता है कि पर्वत पर धुऑ उठ रहा है', तब तक साधन धूम द्वारा साध्य अग्नि का पर्वत पर अनुमान नहीं हो सकता। अत पर्वत पर अग्नि की सत्ता को अनुमान द्वारा सिद्ध करने के लिए यह आवश्यक है कि वहॉ अग्नि सूचक धूम की सत्ता भी अनिवार्यत ज्ञात रहे। यही पक्षधर्मता है। कहा भी गया है– **"साध्य (अग्नि) की पक्षधर्मता हेतु (धूम) की पक्षधर्मता के आधर पर सिद्ध होती है।"** व्याप्ति ज्ञान द्वारा साध्य **सामान्य का ही निश्चय किया जाता है, किन्तु पक्षधर्मता ज्ञान के आधार पर साध्य के पक्षसम्बद्धता रूप विशेष की सिद्धि की जाती है।**

पक्षधर्मता का अर्थ है पक्षरूप आश्रय विशेष मे व्याप्य अर्थात व्याप्ति विशिष्ट हेतु का विद्यमान रहना–"**पक्षधर्मता तु व्याप्यस्य पक्ष सम्बन्ध ।**[131] तात्पर्य यह है कि हेतु स्वरूपत साध्य निश्चय मे प्रयोजक नही है अपितु साध्य के साथ नियमित रूप से सहचरित होने पर ही वह उपयोगी हो सकता है। इसलिए साध्य-साधन की व्याप्ति का निरूपण होने के पश्चात ही व्याप्ति विशिष्ट हेतु की पक्ष मे विद्यमानता प्रदर्शित करने के लिए पक्षधर्मता का विवेचन किया जाता है। **"व्याप्यनन्तर पक्षधर्मता निरूप्यते।"**[132] **न्याय-वैशेषिक दर्शन** मे व्याप्ति ज्ञान और पक्षधर्मता ज्ञान दोनो के सम्मिश्रण से जो विशिष्ट लिग परामर्श ज्ञान उत्पन्न होता है वही पक्षधर्मता के रूप मे व्यवहृत किया जाता है।

अन्यान्य दार्शनिक जिन्होने लिग परामर्शात्मक ज्ञान को अनुमिति का चरम कारण नहीं माना है उन्होने भी व्याप्ति स्मरण अथवा व्याप्ति सस्कार को जागृत करने के लिए पक्ष (पर्वत) मे हेतु (धूम) की वृत्तिता दिखाने के लिए पक्षधर्मता के ज्ञान को आवश्यक माना है। **डॉ० एस०सी० चटर्जी** का भी कहना है कि **"अनुमान की प्रामाणिकता व्याप्ति ज्ञान पर और सम्भावना पक्षता (पक्षधर्मता ज्ञान) पर निर्भर है, क्योकि अनुमान वही निष्पन्न हो सकता है, जहाँ कोई पक्ष विद्यमान हो ओर वह तभी प्रामाणिक सिद्ध हो सकता है, जबकि वह हेतु और साध्य के नियत साहचर्य सम्बन्ध पर आधारित हो। अत व्यप्ति ज्ञान अनुमान का तार्किक आधार है और पक्षता (पक्षधर्मता ज्ञान) मनोवैज्ञानिक आधार है।"**[133]

उल्लेखनीय है कि **जैन दार्शनिको** ने पक्षधर्मता को स्वीकार नहीं किया है। जैनो के अनुसार केवल अविनाभाव के अवलम्बन के आधार पर ही हेतु द्वारा साध्य का निश्चय हो जाता है। अत इसके लिए पक्षधर्मता को मानने की आवश्यकता नहीं है। **"खण्डनखण्डखाद्य"**[134] तथा **"तत्वप्रदीपिका"**[135] मे भी पक्षधर्मता का खण्डन किया गया है।

किन्तु साध्य निश्चय के लिए पक्ष प्रयोग की उपयोगिता को अपरिहार्य मानते हुए भी जैन दार्शनिको द्वारा पक्षधर्मत्व की आलोचना तथा केवल अविनाभाव के आधार पर हेतु द्वारा साध्य का निश्चय समीचीन नहीं है क्योकि पक्षधर्मता के अभाव मे हेतु मे अविनाभाव रहने पर भी अनुमिति नही हो सकती है। जैसे "जलाशय अग्नियुक्त है, धूमवान होने से।" इस अनुमान मे हेतु धूम" मे साध्य 'अग्नि" की 'जहॉ-जहॉ धूम होता है, वहॉ-वहॉ अग्नि भी होती है" तथा 'जहॉ-जहॉ अग्नि नही पायी जाती, वहॉ-वहॉ धूम भी नही पाया जाता है" इत्याकारक नियत व्याप्ति उपलब्ध होने पर भी हेतु "धूम" पक्ष "जलाशय" का धर्म न होने के कारण सद्हेतु नहीं है, प्रत्युत स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास ही कहलाता है। अत व्याप्ति के साथ-साथ पक्षधर्मता को भी आवश्यक रूप से मानना अनिवार्य है। **वेदान्तपरिभाषा**[136] तथा **उसके टीकाकारो**[137] ने न्याय, मीमासक दार्शनिको की भॉति व्याप्ति सस्कार के उद्बोधन के लिए पक्षधर्मता की उपयोगिता को आवश्यक माना है। इससे सिद्ध होता है कि अनुमान की निष्पत्ति के लिए पक्ष धर्मता को मानना आवश्यक है।

अनुमान के भेद

अनुमान के लक्षण मौलिक घटक तथा आधारभूत तत्वो की भॉति अनुमान के भेदो के बारे मे भी भारतीय दार्शनिको मे मतभेद दिखाई देता है। भारतीय दर्शन मे स्वीकृत अनुमान के भेदो को मोटे तौर पर तीन वर्गो मे वर्गीकृत किया जा सकता है–

1 पूर्ववत् शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट

2 स्वार्थ और परार्थ तथा

3 केवलान्वयी केवल व्यतिरेकी एव अन्वयव्यतिरेकी।

इनमे से प्रथम वर्गीकरण **योग और अद्वैत वेदान्त दर्शन** के अतिरिक्त प्राय सभी दार्शनिक परम्पराओ मे न्यूनाधिक रूप से प्राप्त होता है जबकि द्वितीय वर्गीकरण प्राय सभी दार्शनिको को मान्य है। तृतीय वर्गीकरण का विवेचन **बौद्ध** और **जैन** परम्पराओ मे न प्राप्त होकर केवल **वैदिक परम्परा** मे ही प्राप्त होता है। **अद्वैत वेदान्ती** अनुमान के इस वर्गीकरण के स्थान पर केवल एक ही अनुमान **अन्वयिरूप** को ही मानते है।

पूर्ववत् शेषवत और सामान्यतोदृष्ट के रूप मे अनुमान के तीन भेदो का निरूपण सर्वप्रथम **महर्षि गौतम** ने न्यायसूत्र" मे किया किन्तु परिभाषाओ और उदाहरणो द्वारा उनके स्वरूप का निरूपण नही किया। इन भेदो की व्याख्या करने का श्रेय न्यायभाष्यकार **वात्स्यायन** को है। उन्होने इनकी व्याख्या दो प्रकार से की है। **प्रथम व्याख्या** के अनुसार जहॉ कारण द्वारा कार्य का अनुमान किया जाय उसे **पूर्ववत् अनुमान** कहा जाता है। जैसे मेघाच्छन्न आकाश को देखकर होने वाली वर्षा का अनुमान। पूर्ववत् अनुमान मे ज्ञात कारण से अज्ञात कार्य का अनुमान होता है।[138] इसके विपरीत जहॉ कार्य द्वारा कारण का अनुमान किया जाय, वह **शेषवत् अनुमान** है। जैसे नदी की गदी और वेगवती धारा को देखकर (विगत) वृष्टि का अनुमान।

कार्य-कारणभाव से निरपेक्ष जिन दो वस्तुओ का नियत सहभाव (सम्बन्ध) पाया जाता है, उनमे एक का प्रत्यक्ष होने से दूसरी का अनुमान करना ही **सामान्यतोदृष्ट** अनुमान है। जैसे समय-समय पर देखने से मालुम पडता है कि चन्द्रमा आकाश के भिन्न-भिन्न स्थानो पर रहता है। इससे उसकी गति को प्रत्यक्ष नही भी देखकर हम इस निश्चय पर पहुँचते है कि चन्द्रमा गतिशील है। इस अनुमान का आधार यह है कि अन्यान्य वस्तुओ के स्थान परिवर्तन के साथ–साथ उनकी गति का भी प्रत्यक्ष होता है।

वात्स्यायन द्वारा निर्धारित **द्वितीय व्याख्या** के अनुसार **पूर्ववत्** शब्द मे प्रयुक्त "पूर्व" पद से 'पूर्वकाल" या "पूर्व काल के समान" यह अर्थ भी ग्रहण किया जा सकता है। जैसे, पूर्वकाल में पाकशाला आदि किसी आश्रय मे प्रत्यक्ष के द्वारा धूम के साथ नियत रूप से अग्नि को देखकर बाद मे पर्वत आदि अधिकरण मे केवल धूम के प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष अग्नि का अनुमान कर लिया जाता है। पूर्व अनुभव के आधार पर सम्पादित होने के कारण ही इसे पूर्ववत् अनुमान कहा जाता है।

शेषवत् का अर्थ है– परिशेष यानी बचा हुआ। सभावित विषयो मे से कुछ विषयो का निषेध होने पर और कुछ विषयो मे प्रसग की सभावना भी न होने से बाकी जो बच जाय वही शेषवत् अनुमान कहलाता है। शब्द द्रव्य न होकर गुण ही है यह शेषवत् अनुमान से सिद्ध होता है। इससे सिद्ध होता है कि सभावित इतर वस्तुओ को व्यावृत्ति द्वारा अवशिष्ट वस्तु का अनुमान ही शेषवत् अनुमान है।

वात्सायन की द्वितीय व्याख्या के अनुसार जहॉ पर साधन और साध्य का सम्बन्ध प्रत्यक्ष द्वारा गृहीत नही हो सकता किन्तु किसी अन्य विषय के साथ हेतु का सादृश्य रहने से अप्रत्यक्ष साध्य का अनुमान किया जाय उसे **सामान्यतोदृष्ट अनुमान** कहते हैं। जैसे इच्छा आदि से आत्मा का अनुमान। इस प्रकार सामान्य सम्बन्ध के बल पर होने वाला आत्मा का अनुमान सामन्यतोदृष्ट अनुमान है।[139]

पूर्ववत् शेषवत और सामान्यातोदृष्ट के रूप मे अनुमान का जो उपर्युक्त वर्गीकरण किया गया है, उसे योग और वेदान्त दर्शनो के अतिरिक्त प्राय सभी दर्शनो द्वारा किसी न किसी रूप मे मान्यता प्रदान की गयी है।

एक अन्य वर्गीकरण के अनुसार भारतीय दर्शन मे **अनुमान के दो भेद** प्राप्त होते है– **1 स्वार्थानुमान** और **2 परार्थानुमान।** यह विभेद अनुमान के प्रयोजन-भेद के अनुसार किया गया है। जब अपने ज्ञान के लिए अनुमान किया जाता है तब इसे स्वार्थानुमान कहते है। किन्तु जब किसी तथ्य को दूसरो के सम्मुख प्रदर्शित करने के लिए अनुमान का सहारा लिया जाता है तब उसे परार्थनुमान कहते हैं। **नैयायिको** के अनुसार अनुमान के द्वारा यदि दूसरो को कुछ समझाने की जरूरत हो तो इसे पॉच स्पष्ट वाक्यो मे व्यक्त करना चाहिए। इन्हे अनुमान के **पचावयव** कहते है। किन्तु **मीमासको** एव **वेदान्तियो** का कहना है कि परार्थानुमान के लिए त्रिअवयव ही पर्याप्त होते हैं।

वैदिक दर्शनो मे अनुमान का एक अन्य दृष्टिकोण से भी वर्गीकरण पाया जाता है, जिसका प्रतिनिधित्व मुख्यत **नव्य नैयायिको** ने किया है। इस वर्गीकरण के अनुसार भी अनुमान के तीन भेद है, जिन्हे स्पष्ट रूप मे व्यक्त करने का श्रेय **गगेश** को है। ये है–

1 केवलान्वयी

2 केवल व्यतिरेकी और

3 अन्वयव्यतिरेकी।

अनुमान के इन भेदो का आरम्भिक प्रवर्तन नैयायिक उद्योतकर ने किया था। **उदयन** ने सहचार भेद के आधार पर इनका विश्लेषण करने का प्रयत्न किया और **गगेश** ने व्याप्ति के आधार पर इनका निरूपण किया, जबकि **रघुनाथ शिरोमणि** ने अपने विश्लेषण मे साध्य को प्रमुखता दी है। उन्होने अन्त मे प्रथम दो का खण्डन करके अन्वयव्यतिरेकी नामक एक ही अनुमान माना है।

उदयन केवल एक ही प्रकार की व्याप्ति मानते है। वह है– अन्वय व्याप्ति और इसका ग्रहण अन्वय तथा व्यतिरेक सहचार द्वारा किया जाता है। इसके अनुसार जहॉ केवल अन्वय सहचार से हेतु मे साध्य की अन्वय व्याप्ति का निश्चय किया जाता है उसे केवलान्वयी जहॉ केवल व्यतिरेक सहचार द्वारा अन्वय व्याप्ति का अवधारण हेतु मे किया जाता है उसे **केवल व्यतिरेकी** तथा जहॉ उभय सहचारो द्वारा अन्वय व्याप्ति जिस हेतु मे गृहीत की जाती है उसे **अन्वयव्यतिरेकी** अनुमान कहा जाता है। सामान्यत पर्वतोवह्निमान् धूमात्" को अन्वयव्यतिरेकी अनुमान माना गया है क्योकि प्रकृत स्थलीय हेतु धूम मे, होने वाला व्याप्ति ज्ञान अन्वय सहचारजन्य भी है और धूम हेतुक व्यतिरेकी साध्यक अनुमिति का करण भी। इसलिए इस अनुमिति के कारणीभूत व्याप्ति ज्ञान को अन्वयव्यतिरेकी कहा गया है।

नव्य न्याय के जनक **आचार्य गगेश** ने व्याप्ति स्थापना प्रणाली के प्रकार भेद के आधार पर अनुमान के तीन भेद किये है– 1 केवलान्वयी 2 केवलव्यतिरेकी तथा 3 अन्वयव्यतिरेकी। उनके अनुसार **केवलान्वयी अनुमान** वह है जिसके साध्य तथा साधन मे नियत साहचर्य देखा जाता है अर्थात् जिसकी व्याप्ति केवल अन्वय के द्वारा स्थापित होती है और जिसमे व्यतिरेक का सर्वथा अभाव होता है।[140] जैसे–

सभी प्रमेय अभिधेय हैं,
घट प्रमेय है
अत घट अभिधेय है।

केवलव्यतिरेकी अनुमान उसे कहते हैं जिसमे साध्य के अभाव के साथ-साथ साधन के अभाव की व्याप्ति के ज्ञान से अनुमान होता है साधन और साध्य की अन्वयमूलक व्याप्ति से नही। इसलिए इस व्याप्ति की स्थापना व्यतिरेकी प्रणाली के द्वारा ही हो सकती है, क्योकि पक्ष के अतिरिक्त साधन का और कोई दृष्टान्त नहीं है जिसमे उनका साध्य के साथ अन्वय देखा जाय। जैसे–

अन्य भूतो से जो भिन्न नहीं है, उसमे गन्ध नहीं है।
पृथ्वी मे गध है।
अत पृथ्वी अन्य भूतो से भिन्न है।

इस अनुमान के प्रथम वाक्य मे साध्य के अभाव के साथ साधन के अभाव की व्याप्ति दिखाई जाती है। साधन गध को पक्ष पृथ्वी के सिवा और कही देखना सभव नही है। इसलिए साधन और साध्य के बीच अन्वय मूलक व्याप्ति नही हो सकती। इससे स्पष्ट है कि यहॉ व्यतिरेक मूलक व्याप्ति पर ही अनुमान किया जा सकता है।

अन्वयव्यतिरेकी अनुमान उसे कहते है जिसमे साधन और साध्य का सम्बन्ध अन्वय और व्यतिरेक दोनो के ही द्वारा स्थापित होता है। इस अनुमान मे व्याप्ति सम्बन्ध इस प्रकार स्थापित होता है– साधन के उपस्थित रहने पर साध्य भी उपस्थित रहता है तथा साध्य के अनुपस्थित

रहने पर साधन भी अनुपस्थित रहता है। इस प्रकार की व्याप्ति का ज्ञान अन्वय और व्यतिरेक की सम्मिलित प्रणाली पर निर्भर करता है। निम्नलिखित युग्म अनुमान द्वारा अन्वयव्यतिरेकी अनुमार का स्पष्टीकरण हो सकता है–

1 सभी धूमवान् पदार्थ वहिनमान है,
पर्वत धूमवान् है
अत पर्वत वह्निमान है।

2 सभी वह्निहीन पदार्थ धूमहीन है।
पर्वत धूमवान् है।
अत पर्वत वाह्निमान् है।

अनुमान के उपर्युक्त तीन भेदो को **दीधितिकार रघुनाथ शिरोमणि** ने भी माना है किन्तु उनका यह वर्गीकरण न तो सहचार भेद पर आधारित है और न व्याप्ति भेद पर बल्कि साध्यभेद पर आधारित है। उनके अनुसार अत्यन्ताभाव के अप्रतियोगी साध्यक अनुमिति के करण को केवलान्वयी कहा जाता है। जैसे घट अभिधेय है प्रमेय होने से।" जो अनुमिति प्रकृत हेतु मे होने वाले साध्य के अन्वय सहचार से उत्पन्न न हो, उस प्रकृत हेतुक व्यतिरेकी साध्यक अनुमिति के करण को **केवल व्यतिरेकी** अनुमान कहा जाता है। जैसे 'पृथ्वी इतरभेदवती है गन्धवती होने से।" इसी प्रकार प्रकृत हेतु मे साध्य सहचार ग्रह के आधार पर होने वाले व्याप्ति निश्चय से उत्पन्न होने वाले प्रकृत हेतुक व्यतिरेकी साध्यक अनुमिति के करण को अन्वय व्यतिरेकी अनुमान कहा जाता है। जैसे 'पर्वत अग्नियुक्त है, धूमयुक्त होने से।"

दीधितिकार के उक्त विवेचन मे प्रथम अनुमान के अन्दर अन्वयी साध्य और शेष दोनो मे व्यतिरेकी साध्य प्रयुक्त हुआ है। **अन्तिम दोनो मे अन्तर** यही है कि द्वितीय मे अन्वय सहचारभूत कोई सपक्ष नही रहता, जबकि तृतीय मे सपक्ष विद्यमान रहता है। इस प्रकार दीधितिकार ने साध्य भेद के आधार पर केवलान्वयी केवलव्यतिरेकी तथा अन्वयक्यतिरेकी इन तीन प्रकार के अनुमानो की चर्चा की है किन्तु सिद्धान्त रूप से उन्होने एक ही प्रकार का अन्वयव्यतिरेकी अनुमान ही स्वीकार किया है, शेष दोनो अनुमानो की आलोचना कर अर्थापत्ति को प्रमाणान्तर घोषित करने का प्रयास किया है।

साख्य योग बौद्ध एव जैन परम्परा मे इन प्रकारो का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता। जहॉ तक अद्वैत वेदान्त की बात है **"खण्डनखण्डखाद्य"** तथा **"चित्सुखी"** मे भी अनुमान के इन प्रकारो का कोई विवेचन प्राप्त नहीं होता। "वेदान्तपरिभाषा" तथा उसकी टीकाओ मे इन भेदो का व्यापक रूप से खण्डन-मण्डन देखा जाता है।

अद्वैत वेदान्ती विशेषत वेदान्तपरिभाषाकार अनुमान के उपर्युक्त भेदो को स्वीकार नहीं करते। **वेदान्तपरिभाषाकार** के अनुसार अनुमान **अन्वयीरूप** एक ही प्रकार का होता है, **केवलान्वययी नहीं, क्योकि वेदान्त मत मे समस्त धर्म ब्रह्मवृत्ति अत्यन्ताभाव के प्रतियोगी होते हैं**

इसलिए अत्यन्ताभाव के अप्रतियोगी साध्यवाले केवलान्वयी अनुमान का निर्वाह नहीं हो सकता।[141] लेकिन **शिखामणिकार** तथा **मणिप्रभाकार** धर्मराजाध्वरीन्द्र के केवलान्वयी लक्षण का परिष्कार करते हुए उनके लक्षण मे स्ववृत्ति विरोधी" तथा 'वृत्तिमत्" दो विशेषण सन्निविष्ट करके केवलान्वयी अनुमान का समर्थन किया है। वेदान्तपरिभाषा के इन टीकाकारो के विवेचन मे किसी न किसी रूप मे न्याय मत-मतान्तरो को समाविष्ट कर लिया गया है। लेकिन **वेदान्तपरिभाषाकार** को न्याय मत अमान्य है। नैयायिक केवलान्वयि केवलव्यतिरेक और अन्वय व्यतिरक भेद से तीन प्रकार का लिग (हेतु) मानते है। किन्तु वेदान्तमत मे अन्वायिरूप एक ही लिग को स्वीकार किया गया है। अन्वयिरूप का अर्थ है अन्वयमुख व्याप्ति ज्ञान रूप। केवलान्वयि लिग का खण्डन करते हुए कहा गया है कि केवलान्वयि लिग का साध्य अत्यन्ताभाव का अप्रतियोगी होता है। अर्थात केवलान्वयि लिग का साध्य कभी भी अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी नही होता। किन्तु वेदान्त मे ऐसा कोई साध्य पदार्थ ही सभव नहीं है, क्योकि **"नेह नानाऽस्ति किचिन्"** इस श्रुति से ब्रह्मातिरिक्त समस्त वस्तुओ मे ब्रह्मनिष्ठ अत्यन्ताभाव का प्रतियोगित्व रहता है। इस कारण अत्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्यक ऐसे केवलान्वयि की सिद्ध नहीं हो पाती। इस प्रकार नैयायिकाभिमत तीनो लिगो मे से प्रथम अर्थात् केवलान्वयिरूप का निराकरण कर केवलान्वयिरूप अनुमान का निराकरण वेदान्तपरिभाषाकार द्वारा किया गया है जिसे तर्कसगत कहा जा सकता है।

केवलान्वयी अनुमान के समान वेदान्तपरिभाषाकार को केवलव्यतिरेकी अनुमान भी मान्य नही है, क्योकि साध्य के अभाव मे साधनाभाव निरूपित व्याप्तिज्ञान (अर्थात् व्यतिरेक व्याप्तिज्ञान) का साधन से होने वाली साध्य की अनुमिति मे कोई उपयोग सिद्ध नही होता। यदि यहॉ यह आशका की जाय कि जिस व्यक्ति को धूम आदि साधन मे अन्वव्यप्तिज्ञान का निश्चय नहीं हुआ है उसे भी व्यतिरेक व्याप्तिज्ञान से अनुमिति हो जाती है, तो इसके समाधान मे यह कहा जा सकता है कि वहॉ अर्थापत्ति प्रमाण द्वारा ही वह्नि आदि का ज्ञान प्राप्त कर लिया जाता है। इसके लिए अनुमान की आवश्यकता नहीं पडती। अत अर्थापत्ति प्रमाण द्वारा ही केवलव्यतिरेकी अनुमान को स्वतत्र प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं है।[142] **इस प्रकार अद्वैत वेदान्त मे केवल व्यतिरेकी अनुमान का अन्तर्भाव अर्थापत्ति प्रमाण मे हो जाता है।** उल्लेख्य है कि वेदान्तपरिभाषा के विरूद्ध **"शिखामणि"** तथा **"मणिप्रमा"** मे केवलान्वयी अनुमान के समान केवलव्यतिरेकी अनुमान का भी समर्थन किया गया है। वेदान्तपरिभाषा की इन टीकाओ मे व्यतिरेकी अनुमान के सन्दर्भ मे किसी न किसी रूप मे न्याय मत को स्वीकार कर लिया गया है। अत यह मत भी अमान्य है।

केवलान्वयी और केवलव्यतिरेकी अनुमान की भॉति वेदान्तपरिभाषाकार को अन्वयव्यतिरेकी अनुमान भी मान्य नहीं है। वेदान्तपरिभाषाकार ने जिन आधारो पर केवलव्यतिरेकी अनुमान का खण्डन किया है, उन्ही आधारो पर अन्वयव्यतिरेकी अनुमान का भी खण्डन किया है। धर्मराजाध्वरीन्द्र के अनुसार व्यतिरेकी व्याप्ति ज्ञान अनुमिति का कारण नहीं है, इसलिए अन्वयव्याप्तिरेकी व्याप्ति

ज्ञान अनुमिति का कारण नहीं है। इसलिए अत्वयव्यतिरेकी अनुमान अमान्य है– **"अत एवाऽनुमानस्य नान्वयव्यतिरेकि–रूपत्व व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानस्यानुमित्यहेतुत्वात् ।"**[143] किन्तु **शिखामणिकार** तथा **मणिप्रमाकार** न अन्वयव्यतिरेकी अनुमान को भी माना गया है क्योकि इनके अनुसार व्यतिरेक व्याप्ति ज्ञान को अनुमिति का कारण सिद्ध किया जा सकता है अथवा अन्वय-व्यतिरेक उभय सहचार से उत्पन्न होने वाली अन्वय व्याप्ति का ज्ञान जहाँ अनुमित्तिकरण होता है उसे अन्वय-व्यतिरेकी अनुमान कहा जाता है। **"अर्थदीपिका"** मे भी **शिखामणिकार** तथा **मणिप्रभाकार** का समर्थन करते हुए उक्त तीनो प्रकार के अनुमान माने गये है। अनुमान के इस प्रकार मे भी न्याय मत-मतान्तर का समावेश ऐन केन प्रकारेण हो ही गया है।

लेकिन अन्वयव्यतिरेकी अनुमान का खण्डन करते हुए **वेदान्तपरिभाषाकार** कहते है कि जब व्यतिरेकव्याप्तिज्ञान मे अनुमिति जनकत्व नही है तब नैयायिको द्वारा मानी हुई अन्वय व्यतिरेक-उभयरूपता अनुमान से सभव नही होती क्योकि अन्वयरूप और व्यतिरेकरूप दोनो मे से एक अन्वयव्याप्तिज्ञान से ही यदि अनुमिति हो सकती है तो व्यतिरेक व्याप्तिज्ञान को अनुमिति के प्रति हेतु मानना व्यर्थ है। व्यतिरेक के निराकरण के समय इस बात को स्पष्ट किया जा चुका है कि व्यतिरेक व्याप्तिज्ञान अनुमिति के प्रति हेतुत्व नहीं है। इस प्रकार अद्वैत वेदान्ती धर्मराजाध्वरीन्द्र यह सिद्ध करते है कि अन्यवियरूप एक ही अनुमान है।

वेदान्तपरिभाषाकार के अनुसार अन्वयिरूप अनुमान के दो भेद है– स्वार्थ और परार्थ।[144] स्वार्थानुमान स्वय अपने लिए होता है जबकि परार्थानुमान दूसरो के लिए। यहाँ तक वेदान्तियो की नैयायिको से सहमति है। लेकिन जहाँ **नैयायिक** परार्थानुमान के लिए **पाँच अवयवो** को मानते है वहाँ **वेदान्ती** पचावयव के स्थान पर धर्ममीमासको के **तीन अवयवो** को ही स्वीकार करते है क्योकि यदि तीन अवयव–समुदाय से ही व्याप्ति और पक्षधर्मता (व्याप्ति विशिष्ट हेतु का पक्ष मे रहना) का ज्ञान होता है तो दो अतिरिक्त अवयवो को मानाना व्यर्थ है।[145] **मीमासको** द्वारा स्वीकृत किये गये पूर्वोवत दो पक्षो मे से पहले पक्ष मे उपनय और निगमन का कार्य हेतु और प्रतिज्ञा के द्वारा हो सकता है और दूसरे पक्ष मे हेतु और प्रतिज्ञा का कार्य उपनय और निगमन से हो सकता है। इसलिए प्रतिज्ञा और हेतु इन दो अवयवो को मानने पर उपनय और निगमन रूप अधिक अवयवो को मानने की आवश्यकता नही है और उनको स्वीकार करने पर प्रतिज्ञा और हेतु रूपो की आवश्यकता नही रह जाती। अनुमिति ज्ञान के उपयुक्त ज्ञान को पैदा करना ही सब अवयवो का कार्य है और यह कार्य कवेल तीन अवयवो से सम्पन्न हो जाता है। इसलिए परार्थानुमान की पचावयव परम्परा अनावश्यक है।

इस अध्याय मे अनुमान प्रमाण से सम्बन्धित समग्र पक्षो को सार रूप मे प्रस्तुत करते हुए **निष्कर्षत** यह कहा जा सकता है कि भारतीय दार्शनिको द्वारा अनुमान प्रमाण का जितना स्पष्ट और सविस्तार वर्णन किया गया है उतना अन्य किसी प्रमाण का नहीं। **चार्वाक** के अतिरिक्त सभी भारतीय दर्शनो मे इसकी वैधता एव तार्किक महत्ता को स्वीकृत प्रदान की गयी है। न्याय दर्शन

का तो यह प्रमुख विवेच्य विषय ही रहा है। **न्याय दर्शन** मे यह दूसरे प्रमाण के रूप मे प्रस्तुत किया गया है।

प्रत्यक्ष प्रमाण के पश्चात् अनुमान की प्राप्ति होती है वह इस कारण कि यह प्रत्यक्ष प्रमाण का उपजीव्य है। कुछ स्थल ऐसे है जो प्रत्यक्ष से सम्भव नहीं होते हैं। अत ऐसे ज्ञानो की उत्पत्ति के लिए अनुमान प्रमाण को मानना आवश्यक है। परदेहवर्ती ज्ञान, अज्ञानादि कुछ ऐसे धर्म हैं जिनका प्रत्यक्ष नही हो सकता है। अतएव इनका ज्ञान अनुमान से ही सभव होने के कारण अनुमान को प्रमाण मानना आवश्यक है। अनुमान से परोक्ष विषय का ज्ञान होता है। आत्मा मन इत्यादि पदार्थों की सत्ता का बोध प्रत्यक्ष प्रमाण से सभव नहीं है। **अद्वैत वेदान्तियो** के अनुसार अनुमान के द्वारा ब्रह्म भिन्न समस्त प्रपच की मिथ्यात्व सिद्धि हो जाती है– **"तस्माद् ब्रह्मभिन्न निखिल प्रपचस्य मिथ्यात्वसिद्धि ।"** वास्तव मे यदि देखा जाय तो समग्र भारतीय न्यायशस्त्र मे समूची तार्किक प्रक्रिया केवल अनुमान से ही सम्बन्धित है। इसका कारण यह है कि जब भी हम कोई सार्वभौमिक नियम या सत्य की खोज करते हैं, तो अनुमान ही चाहे आगमन हो या निगमन पर निर्भर होना पडता है।

अधिकाशत प्रत्यक्ष को ही अनुमान का आधार माना जाता है। परन्तु जहॉ प्रत्यक्ष द्वारा अनुमान का आधार नही मिलता है वहॉ आप्त वचन द्वारा प्राप्त ज्ञान ही अनुमान का आधार होता है। इससे इतना तो सिद्ध हो ही जाता है कि अनुमान मे एक ज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् ही दूसरी वस्तु का ज्ञान होता है। जैसे, पर्वत पर धूम देखकर अग्नि का अनुमान करना। अनुमान मे लिग साधन या हेतु का बडा महत्व होता है, क्योकि इसी के आधार पर पक्ष तथा साध्य के बीच सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। इस तरह से कहा जा सकता है कि अनुमान वह है जिसमे किसी हेतु या साधन के द्वारा किसी अन्य वस्तु का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। हेतु या साधन को करण भी कहा जाता है। अत कहा जा सकता है कि **अनुमिति का करण ही अनुमान प्रमाण है।** अनुमान के इस लक्षण को प्राय सभी भारतीय दार्शनिक मानते है किन्तु अनुमिति के करण अनुमान के तार्किक आकार (अवयव), अनुमान के आधारभूत तत्वो (व्याप्ति एव पक्षधर्मता) तथा अनुमान के भेदो आदि के बारे में अनुमानवादी भारतीय दार्शनिको मे मतभेद है।

अनुमिति के करण के सम्बन्ध मे मुख्यत' चार सिद्धान्त प्रचलित हैं–1 लिग या लिगज्ञान, 2 लिग परामर्श, 3 ज्ञात ज्ञायमान या परामृश्यमान लिग और, 4 व्याप्ति ज्ञान।

प्राचीन नैयायिक अनुमिति के प्रति लिग (हेतु=धूमादि) या **लिग ज्ञान** को ही अनुमिति का कारण या करण मानते है। **उद्योतकर, गगेश और केशव मिश्र** जैसे नैयायिक **लिग परामर्श** को अनुमिति का कारण मानते हैं जबकि **अद्वैत वेदान्तियो** के अनुसार **व्याप्ति ज्ञान** अनुमिति का करण (साधन) है और सस्कार उसका (व्याप्ति ज्ञान का) अवान्तर व्यापार है। **मीमासको** और **कुछ नैयायिको** ने भी व्याप्ति ज्ञान को करण माना है। किन्तु व्यापार के विषय

मे उनमे मतभेद है। मीमासको के अनुसार व्याप्ति स्मरण व्याप्ति ज्ञान का व्यापार है जबकि नैयायिको के अनुसार परामर्श व्यापार हे।

लेकिन **लिग** को अनुमिति का कारण नही माना जा सकता क्योकि जिस स्थल मे लिग प्रत्यक्ष गम्य नही होता वहॉ परामर्श की व्यापारता सभव नही होती। अर्थात् व्यापार के न होन से लिग मे करणता नहीं मानी जा सकती क्योकि व्यापारयुक्त असाधारण कारण को ही करण कहा गया है। दूसरी बात यह भी है कि धूलि-पटल मे धूम का भ्रम होने से पर्वत वह्निमान् है ऐसी अयथार्थ अनुमिति होती है। यहॉ पर लिग के न होते हुए भी अनुमिति होती है। अत लिग को अनुमिति का करण नही माना जा सकता है। इसी प्रकार मात्र **लिगज्ञान** को भी अनुमिति का करण नहीं माना जा सकता क्योकि जिस व्यक्ति ने पहले कभी पाकशाला आदि मे हेतु और साध्य के अविनाभाव सम्बन्ध का ग्रहण नही किया है अथवा जिसे उक्त सम्बन्ध गृहीत करने के बाद भी पर्वत पर धूम को देखकर अर्थात् पर्वत पर धूम है इत्याकारक लिग ज्ञान होने पर भी व्याप्ति सम्बन्ध का स्मरण न हुआ हो उसे पर्वत वह्निमान है इत्याकारक अनुमिति नही हो सकती। इसलिए लिग की तरह ही **लिगज्ञान** को भी अनुमिति का करण नही माना जा सकता।

इसी तरह से **लिग परामर्श** को भी अनुमिति का करण नही माना जा सकता। नैयायिको के अनुसार **तृतीय लिगपरामर्श** ही अनुमिति के प्रतिकरण है, क्योकि तृतीय लिगपरामर्श के बाद ही उत्तर क्षण मे अनुमिति होती है। परन्तु नैयायिको का यह सिद्धान्त ठीक नहीं है, क्योकि पक्षधर्मता ज्ञान पर्वत धूमवान है इस प्रकार पक्ष मे हेतु का ज्ञान) से महानस मे गृहीत व्याप्ति का स्मरण होते ही वह्नि की अनुमति होती है। परन्तु लिगज्ञान या पक्षधर्मता ज्ञान होकर भी यदि व्याप्ति का स्मरण न हुआ, तो अनुमिति नही होती। इस अन्वय-व्यतिरेक से अनुमिति मे व्याप्तिज्ञान ही कारण है परामर्श अनुमिति मे कारण नही है यह सिद्ध होता है क्योकि **"परामर्शसत्त्वे अनुमिति, परामर्शाभावे अनुमित्यभाव।"** अर्थात् परामर्श होने पर ही अनुमिति होती है और उसके न होने पर अनुमिति नहीं होती, इस प्रकार परामर्श के विषय मे अन्वय-व्यतिरेक नहीं दिखाये जा सकते, क्योकि जब पक्षधर्मता ज्ञान और व्याप्तिज्ञान के कारण ही अनुमिति होती है तब बिना परामर्श के भी वह होती है– यह अनुभव सिद्ध है। इस कारण व्यतिरेक-व्यभिचार हो जाता है। इसलिए परामर्श को अनुमिति का कारण (सामान्य कारण) नहीं कहा जा सकता। ऐसी स्थिति मे उसे करण (असाधारण कारण स्वरूप) कहना कैसे सम्भव है?

जिस प्रकार लिग परामर्श अनुमिति के प्रति करण नहीं है, उसी प्रकार **ज्ञायमान (ज्ञात होने वाला) लिग (हेतु)** भी अनुमिति के प्रति करण नही हो सकता। ज्ञान मे विषय होने वाला लिग ही अनुमिति के प्रति करण है ऐसा मानने पर पर्वतो वह्निमान्भविष्यद्धूमात्' (पर्वत वह्निमान है क्योकि उस पर अग्रिम क्षण मे ही धूम उत्पन्न होगा) आदि स्थलो मे सबको जो अनुमिति होती है वह नही होगी, क्योकि उस समय वहॉ लिग नहीं है। इसलिए वहॉ पर उसके कारणत्व का व्यभिचार होता है। अत उसमे करणत्व तो है ही नहीं। अत प्राचीन नैयायिको का यह मत ठीक

नहीं है। इसलिए व्याप्तिज्ञान ही करण है। व्याप्तिज्ञान ही सस्कार द्वारा अनुमिति का करण बना है। यह धूमवान् है – ऐसा पक्षधर्मताज्ञान होने पर और धूमवह्निव्याप्य है – इस अनुभव से उत्पन्न हुए सस्कार का उद्‌बोध होने पर वह्निमान् इत्याकारक अनुमिति होती है। अत कहा जा सकता है कि व्याप्तिज्ञान ही अनुमिति का करण है।

अनुमान के तार्किक आकार के बारे मे भी भारतीय दार्शनिको मे मतभेद है। यहॉ विवाद का मुख्य विषय यह है कि परार्थानुमान को कितने वाक्यो (अवयवो) द्वारा व्यक्त किया जाता है। इस सम्बन्ध मे मुख्यत **दो सिद्धान्त** विशेष रूप से प्रचलित है। प्रथम है **पचावयवी परम्परा,** जिसका समर्थन न्याय-वैशेषिक साख्य और जैन दर्शनो मे किया गया है। द्वितीय है **त्रिअवयवी,** परम्परा जिसका समर्थन विशेषत मीमासा, अद्वैत वेदान्त और साख्य दर्शनो मे किया गया है। **बौद्धाचार्य बसुबन्धु** ने भी तीन अवयवो (प्रतिज्ञा हेतु और दृष्टान्त) का समर्थन किया है। सम्भवत दिङनाग ने भी प्रतिज्ञा या पक्षवचन का स्पष्ट खण्डन नही किया था। अत कहा जा सकता है कि अनुमान की अवयत्रयी परम्परा का उन्होने विरोध नही किया था। पचावयवी परम्परा के अग्रगण्य आचार्य नैयायिको के अनुसार अनुमान के निम्नलिखित पॉच अवयव है– 1 प्रतिज्ञा 2 हेतु, 3 उदाहरण 4 उपनय 5 निगमन। मीमासको और वेदान्तियो के अनुसार अनुमान के निम्नलिखित तीन अवयव है। 1 प्रतिज्ञा 2 हेतु, 3 उदाहरण अथवा 1 उदाहरण 2 उपनय 3 निगमन।

अब यहॉ प्रश्न यह उठता है कि क्यो नैयायिक अनुमान के पॉच अवयव मानते हैं और क्यो मीमासक अनुमान के केवल तीन ही अवयव मानते हैं? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि अनुमान के अवयवो के सन्दर्भ मे नैयायिको और मीमासको की परिस्थितियॉ जिम्मेदार हैं। **नैयायिक** कहते हैं कि हम लोग चार प्रमाण मानते है जिनकी प्रामाणिकता सिद्ध करने हेतु उन्हे हम लोगो ने अनुमान के पॉच अवयवो मे विभक्त किया है। प्रतिज्ञा मे शब्द प्रमाण, हेतु मे अनुमान प्रमाण उदाहरण मे प्रत्यक्ष प्रमाण उपनय मे उपमान प्रमाण समाविष्ट है। निगमन मे चारो प्रमाणो का सग्रह होता है। इस प्रकार नैयायिक चारो प्रमाणो की प्रतिष्ठा सिद्ध करने हेतु अनुमान के पॉच अवयवो को मानते है।

मीमासको का मत है कि हमे चूँकि यहॉ केवल अनुमान प्रमाण पर विचार करना है, इसलिए हम लोग अनुमान के केवल तीन अवयव मानते है। इन्ही तीन अवयवो से ही परार्थानुमान हो जाता है। अतएव मीमासको को अनुमान के तीन से अधिक अवयवो को मानने की आवश्यकता नहीं है। मीमासको के इस मत का समर्थन **अद्वैत वेदान्ती** भी करते हैं। मीमासको और वेदान्तियो का कहना है कि यदि केवल तीन अवयवो से ही व्याप्ति और पक्षधर्मता का ज्ञान हो जाता है, तो दो अतिरिक्त अवयवो को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। उन्हे मानने से **पुनरूक्ति दोष** की उत्पत्ति होगी। मीमासको एव अद्वैत वेदान्तियो का यह मत उचित प्रतीत होता है कि अनुमान के केवल तीन अवयव ही पर्याप्त हैं।

अनुमान के दो आधारभूत तत्व है– 1 व्याप्ति और 2 पक्षधर्मता। इनके बारे मे भी दार्शनिको मे मतभेद है। तार्किको ने अपने-अपने दृष्टिकोणो के अनुसार व्याप्ति के रूप मे साधन (हेतु) और साध्य के रूप मे ऐसा सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया है जिसके द्वारा यथार्थ अनुमान निष्पन्न हो सके। प्राचीन न्याय-वैशेषिक मीमासा साख्य-योग बौद्ध तथा जैन दार्शनिको ने अपने-अपने लक्षणो द्वारा साधन और साध्य के यथार्थ सम्बन्ध को सूचति करने के लिए हेतु की अव्यभिचारता पर ही अधिक बल दिया है। वस्तुत इन सभी ने व्याप्यत्व का ही परिष्कार किया है। **गगेश** और **उनके उत्तरवर्ती आचार्यों** ने इस परिष्कार को पूर्वपक्ष मे रखकर सिद्धान्त लक्षण मे व्यापकत्व का भी परिष्कार किया है एव व्याप्ति व्याप्य और व्यापक दोनो का धर्म है ऐसा मानते हुए उन्होने दोनो का समन्वय करते हुए दोनो को समान अधिकरण मे गृहीत होना भी आवश्यक बतलाया है। **अद्वैत वेदान्त** के अनुसार **"समस्त साधनो के आश्रय के आश्रित के साथ हेतु का समानाधिकरण्य ही व्याप्ति है।** व्याप्ति के इस लक्षण के आधार पर अनुमान करने से वह्नि रूप असद्हेतु मे व्याप्ति लक्षण की **अतिव्याप्ति** भी नही होगी। अत व्याप्ति का यह अधिक तर्कसगत लक्षण प्रतीत होता है।

व्याप्ति के लक्षण की तरह ही **व्याप्ति ग्रहण के साधन** के बारे मे भारतीय दार्शनिको मे मतभेद है। व्याप्ति ग्रहण के साधन से सम्बन्धित जितने भी मत हैं उन सब पर गम्भीरता से विचार करने पर स्पष्ट होता है कि **उदयन** तथा **कुमारिल** ने भूयोदर्शन वाचस्पति मिश्र तथा नारायण भट्ट ने तर्कसहकृत भूयोदर्शन जयन्त ने नियम सहचार प्रभाकर ने सकृद सहचार दर्शन कुछ ने प्रत्यक्ष अथवा मानस प्रत्यक्ष, बौद्धो ने तादात्म्य तथा तदुत्पत्ति, जैनो ने तर्क श्रीधर ने उपाधिविहीन भूयोदर्शन एव तर्क की साहयता से व्यभिचार शकाओ का निरास करते हुए सामान्यलक्षणा अलौकिक प्रत्यक्ष द्वारा व्यभिचारविहीन सहचार दर्शन को व्याप्ति ग्राहक प्रमाण गगेश दीधितिकार केशवमिश्र विश्वनाथ तथा अन्नभट्ट आदि दार्शनिको ने माना है।

लेकिन ऐसी व्याप्ति का ग्रहण **तर्क** से नहीं हो सकता है, क्योकि व्याप्य के आरोप से व्यापक का आरोप करनारूप जो तर्क है, वह व्याप्ति के अधीन है। **सहचारदर्शन** से भी व्याप्ति का ग्रहण नही हो सकता, क्योकि दो पदार्थों का साहचर्य एक बार या बार-बार दीखने पर भी उसका (साहचर्य का) क्वचित् व्यभिचार भी दिखाई देता है। इस शका का समाधान सा च" से किया गया है। व्यभिचार के अदर्शन के साथ सहचार दर्शन से उस व्याप्ति का ग्रहण किया जाता है। जैसे, धूम अग्नि का व्यभिचार दिखाई न देते हुए उनका सहचार दीखने से ही 'धूम-वह्नि-व्याप्य है', यह ज्ञान होता है। जहॉ धूम होता है वहॉ अग्नि अवश्य ही होती है। धूम हो और अग्नि न हो यह कभी नहीं हो सकता। इस रीति से धूम और अग्नि के व्यभिचार का अनुभव न आकर सहचार के अनुभव होने से ही धूम और अग्नि की व्याप्ति का ज्ञान हो जाता है। दो पदार्थों का नियमेन एकत्र देखना ही सहचार दर्शन है, चाहे वह अनेक बार के देखने से हुआ हो अथवा एक बार के देखने से हुआ हो। केवल व्यभिचारशून्य सहचार दर्शन की आवश्यकता है, अर्थात् जिनका

सहचार ज्ञात हुआ हो उनकी व्याप्ति का ग्रहण होता है और जिनका सहचार ज्ञात नही हुआ हो उनकी व्याप्ति का ग्रहण नही होता इस अन्वयव्यतिरेक के द्वारा सहचारदर्शन ही व्याप्तिज्ञान मे हेतु है, यह लाघव से सिद्ध होता है। इसलिए सहचारदर्शन मे ही व्याप्ति का प्रयोजकत्व है। भूयोदर्शन या सकृद्दर्शन उसमे प्रयोजक नही है। निष्कर्ष यह है कि अद्वैत वेदान्तियो का यह मत तर्क सगत है कि व्याप्ति की स्थापना अतीत अव्यभिचारी साहचर्य के अनुभव पर अवलम्बित है– **'व्यभिचारादर्शन सति सहचार दर्शनम्'**।

व्याप्ति की ही भॉति सभी अनुमानवादी भारतीय चिन्तको ने यथार्थ अनुमान की निष्पत्ति के लिए **पक्षधर्मता** को भी आवश्यक माना है। नैयायिको एव मीमासको की भॉति अद्वैत वेदान्तियो ने भी व्याप्ति सस्कार के उद्‌बोधन के लिए पक्षधर्मता की उपयोगिता को आवश्यक माना है। इसी तरह से सभी दार्शनिको ने अनुमान मे तीन पदो को आवश्यक माना है ये हैं– पक्ष हेतु और साध्य।

अनुमान के भेदो के बारे मे भी दार्शनिको मे मतभेद है। **अद्वैत वेदान्त** के अतिरिक्त अन्य वैदिक दर्शनो मे अनुमान के तीन भेद माने गये हैं– केवलान्वयी, केवल व्यतिरेकी और अन्वयव्यतिरेकी। किन्तु अद्वैत वेदान्त मे इन भेदो के स्थान पर अनुमान का केवल एक भेद माना गया है। वह है–अन्वयिरूप। अनुमान के भेद प्रकरण मे इस बात का विस्तृत विवेचन किया जा चुका है कि केवलान्वयी केवल व्यतिरेकी और अन्वयव्यतिरेकी के रुप मे अनुमान का जो वर्गीकरण किया गया है, वह दोषपूर्ण व अतार्किक है। इस सम्बन्ध मे अद्वैत वेदान्त का मत ज्यादा तर्कसगत प्रतीत होता है।

एक अन्य दृष्टि से अनुमान का वर्गीकरण स्वार्थ और परार्थ दो रूपो मे किया गया है जिसे सभी भारतीय तार्किको ने स्वीकार किया है। किन्तु परार्थानुमान को व्यक्त करने के लिए जहॉ न्यायादि अनेक दार्शनिको ने पॉच वाक्यो को आवश्यक माना है, वहीं मीमासको, वेदान्तियो और बौद्ध बसुबन्धु आदि ने परार्थानुमान के लिए केवल तीन अवयवो को ही आवश्यक एव पर्याप्त माना है जिसे तर्कसगत कहा जा सकता है, क्योकि यदि त्रिअवयव समुदाय से ही व्याप्ति और पक्षधर्मता का का ज्ञान हो जाता है तो दो अन्य अवयवो को मानाना व्यर्थ है–मीमासको व वेदान्तियो का यह कथन उचित ही है।

इस प्रकार, अनुमान प्रमाण का आद्यान्त अनुशीलन करने के उपरान्त हम निष्कर्ष के रूप मे यह कह सकते हैं कि अनुमान प्रमाण के बारे मे **अद्वैत वेदान्त** का मत अधिक तार्किक एव ग्राहय है।

सदर्भ-ग्रथ-सूचिका

1 वैशेषिक सूत्र 9 2 4 कणाद चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी 1933।

2 वही 3 1 14।

3 प्रशस्तपाद भाष्य प्रशस्तपाद निर्देशक अनुसन्धान सस्थान वाराणसी सस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी 1963 पृ० 289।

4 किरणावली उदयन चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी पृ० 289।

5 न्यायभाष्य 1 1 5 वात्स्यायन कलकत्ता सस्कृत ग्रथमाला ग्रन्थाक 18 कलकत्ता 1936 पृ० 142–146।

6 न्यायवार्तिक उद्योतकर कलकत्ता सस्कृत ग्रन्थमाला ग्रन्थाक 18 कलकत्ता 1936 पृ० 134–40।

7 वही, पृ० 143।

8 न्याय मजरी 1 101 भटट जयन्त चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी 1936।

9 वही 1 पृ० 101।

10 तत्त्वचिन्तामणि उपाध्याय गगेश चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी 1917 पृ० 24।

11 तर्कभाषा मिश्र केशव चौखम्ब प्रकाशन वाराणसी 1953 पृ० 71।

12 तर्कसग्रह अन्नभटट भण्डारकर प्राच्यविद्या सशोधन मन्दिर पूना 1930 पृ० 34।

13 शाबरभाष्य शबर स्वामी आनन्दाश्रम मुद्रणालय पूना 1929, पृ० 36।

14 श्लोक वार्तिक अनुमान– 2–3 भट्ट कुमारिल, मद्रास विश्वविद्यालय प्रकाशन, मद्रास, 1940।

15 साख्यसूत्र, 1 100 कपिल प० आतुतोष विद्या भूषण तथा प० नित्यबोध विद्यारत्न कलकत्ता 1935।

16 साख्यप्रवचनभाष्य विज्ञानभिक्षु चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी 1928 पृ० 53।

17 साख्यकारिका 5 ईश्वरकृष्ण चौखम्बा प्रकाशन, वाराणी 1963।

18 माठरवृत्ति माठर चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी 1963 पृ० 12–13।

19 साख्यतत्त्वकौमुदी मिश्र वाचस्पति सत्य प्रकाशन बलरामपुर हाउस इलाहाबाद 1962, पृ० 38।

20 वेदान्तपरिभाषा धर्मराजाध्वरीन्द्र व्याख्या–मुसलगॉवकर श्रीगजानन शास्त्री चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी 1983 पृ० 148।

21 वही पृ० 161।

22 वही, पृ० 163।

23 वही, पृ० 150–51।

24 न्यायावतार 5 दिवाकर सिद्धसेन श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल बम्बई 1950।

25 न्यायविनिश्चय अकलक भारतीय ज्ञानपीठ काशी 1949–54 पृ० 170।

26 प्रमाण समुच्चय दिङगनाग अध्याय–2 उद्धृत न्यायवार्तिक उद्योतकर कलकत्ता सस्कृत ग्रन्थमाला ग्रन्थाक 18 कलकत्ता 1936 पृ० 161।

27 वही पृ० 163।

28 न्यायप्रवेश पजिका गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज बडौदा 1940 पृ० 42।

29 प्रमाणवार्तिक 2–62 धर्मकीर्ति किताब महल इलाहाबाद 1943।

30 मनोरथनन्दी वृत्ति मनोरथनन्दी किताब महल इलाहाबाद 1943 पृ० 134।

31 सर्वदर्शनसग्रह माधवाचार्य भण्डारकर प्राच्यविद्या सशोधन मन्दिर पूना 1951 पृ० 7–10।

32 तत्रसिद्धान्तरत्नावली चिन्नस्वामी काशी हिन्दू विश्वविद्यालय प्रकाशन 1944, पृ० 47।

33 वही पृ० 426–27।

34 उद्धृत प्रमाण मीमासा सिन्धी जैन ग्रन्थमाला अहमदाबाद 1939 पृ० 7–8।

35 न्याय मजरी भटट जयन्त चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी 1936 पृ० 110।

36 वेदान्तपरिभाषा धर्मराजाध्वरीन्द्र व्याख्या–मुसलगॉवकर श्रीगजानन शास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, 1983 पृ० 148।

37 न्यायदीपिका धर्मभूषण वीर सेवा मन्दिर सहारनपुर 1945 पृ० 67।

38 सिद्धान्तमुक्तावली विश्वनाथ चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी 1951 पृ० 4।

39 तर्कभाषा मिश्र केशव चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी, 1953 पृ० 78।

40 वही पृ० 77–79।

41 न्यायवार्तिक, उद्योतकर कलकत्ता सस्कृत ग्रन्थमाला, ग्रन्थाक 18 कलकत्ता, 1936, पृ० 143।

42 किरणावली उदयन चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी 1919 पृ० 290।

43 न्यायदीपिका, रत्नप्रभाचार्य, वीर सेवा मन्दिर सहारनपुर, 1945 पृ० 67–68।

44 वेदान्तपरिभाषा धर्मराजाध्वरीन्द्र व्याख्या– मुसलगॉवकर श्री गजनानन शास्त्री चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, 1983 पृ० 150–51।

45 वही पृ० 153।

46 प्रमाणवार्तिक 3 14 धर्मकीर्ति किताब महल इलाहाबाद 1943।

47 न्यायविन्दु, 2 3–10 धर्मोत्तर काशी प्रसाद जायसवाल अनुशीलन सस्था पटना 1955।

48 न्यायविन्दुटीका, धर्मोत्तर काशी प्रसाद जायसवाल, अनुशीलन सस्था, पटना, 1955, पृ० 91–100।

49 प्रमाणवार्तिक 3 1 धर्मकीर्ति किताब महल इलाहाबाद 1943।

50 श्लोकवार्तिक श्लो० 3–11 भटट कुमरिल मद्रास विश्वविद्यालय प्रकाशन मद्रास 1940।

51 मानमेयोदय भटट नारायण थियोसाफिकल पब्लिशिग हाउस अडचार मद्रास 1933 पृ० 58–59।

52 प्रकरणपचिका मिश्र शालिकनाथ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय मुद्रणालय काशी 1961 पृ० 212।

53 तर्कभाषा मिश्र केशव चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी 1953 पृ० 87।

54 वही पृ० 87।

55 वही पृ० 87।

56 वही पृ० 87।

57 हेतुविन्दुटीका अर्चट गायकवाड ओरयिण्टल सीरीज बडौदा 1949 पृ० 205–6।

58 न्यायभाष्य 1 1 32 मिश्र वाचस्पति कलकत्ता सस्कृत ग्रन्थमाला ग्रन्थाक 18 कलकत्ता 1936।

59 वही 1 1 32।

60 साख्यसूत्र 5 27 कपिल प० आशुतोष विद्याभूषण तथा प० नित्यबोध विद्यारत्न कलकत्ता 1935।

61 प्रशस्तपादभाष्य प्रशस्तपाद निर्देशक अनुसन्धान सस्थान वाराणसेय सस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी 1963 पृ० 114।

62 भारतीय न्यायशास्त्र विजल्वान डॉ० चक्रधर उत्तर प्रदेश हिन्दी सस्थान ग्रन्थाक 258 लखनऊ 1983 पृ० 201।

63 प्रमाणमीमासा 2 1 8 हेमचन्द्र सिन्धी जैन ग्रन्थमाला अहमदाबाद 1939।

64 वेदान्तपरिभाषा धर्मराजाध्वरीन्द्र व्याख्या–मुसलगाँवकर श्री गजानन शास्त्री चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी 1983 पृ० 159।

65 शास्त्रदीपिका मिश्र पार्थसारथि चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी 1913 पृ० 178–79

66 मानमेयोदय भटट नारायण थियोसाफिकल पब्लिशिग हाउस अडयार मद्रास 1933 पृ० 64–65।

67 प्रकरणपचिका, मिश्र शालिकनाथ काशी हिन्दूविश्वविद्यालय मुद्रणालय काशी, 1961 पृ0 223–25।

68 न्यायमजरी भाग–1 भटट जयन्त चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1936 पृ० 103।

69 साख्यसूत्र 5 29 कपिल प० आशुतोष विद्याभूषण तथा प० नित्यबोध विद्यारत्न कलकत्ता 1935।

70 साख्यप्रवचनभाष्य विज्ञानभिक्षु, चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी 1928 पृ० 128।

71 तत्त्वचिन्तामणि उपाध्याय, गगेश, चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी, 1917 पृ० 377।

72. तत्त्वप्रदीपिका, चित्सुखी, निर्णय सागर प्रेस बम्बई, 931 पृ० 384।

73 न्यायदीपिका, रत्नप्रभाचार्य, बीर सेवा मन्दिर सहारनपुर 1945 पृ० 196।

74 न्यायरत्नमाला मिश्र पार्थसारथि चौखम्बा सस्कृत बुक डिपो वाराणसी 1900 पृ०326 336।

75 मानमेयोदय भटट नारायण थियोसाफिकल पब्लिशिग हाउस अडयार मद्रास 1938 पृ० 26।

76 वही पृ० 48।

77 तन्त्रसिद्धान्तरत्नावली चिन्नस्वामी काशी हिन्दू विश्वविद्यालय प्रकाशन, काशी, 1944, पृ० 58।

78 प्रकरणपचिका मिश्र शालिकनाथ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय मुद्राणालय काशी 1961।

79 वेदान्तपरिभाषा धर्मराजाध्वरीन्द्र व्याख्या--मुसलगॉवकर श्री गजानन शास्त्री चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी 1983 पृ० 161।

80 वेदान्तपरिभाषा धर्मराजाध्वरीन्द्र शिखामणि तथा मणिप्रमाटीका श्री वेकटेश्वर छायाखाना बम्बई सवत् 1951 पृ० 174।

81 वही पृ० 105।

82 योगभाष्य व्यास भारतीय विद्या प्रकाशन पचगगाघाट वाराणसी 1963 पृ० 11।

83 तत्वचिन्तामणि उपाध्याय गगेश चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी 1917 पृ०649–54।

84 साख्यसूत्र 5 28 कपिल प० आशुतोष विद्याभूषण तथा प० नित्य बोध विद्यारत्न कलकत्ता 1935।

85 किरणावली उदयनाचार्य चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी 1919 पृ० 295–96।

86 श्लोकवार्तिक अनुमान 12–13 भटट, कुमरिल मद्रास विश्वविद्यालय प्रकाशन मद्रास 1940।

87 गादाधरी भट्टाचार्य गदाधर चौखम्बा प्रकाशन, वाराणी 1917 पृ० 634–44।

88 सिद्धातमुक्तावली पचानन, विश्वनाथ चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी 1951 पृ० 152।

89 तर्कसग्रहदीपिका अन्नभट्ट भण्डारकर प्राच्य विद्या सशोधन मन्दिर पूना 1930 पृ० 38।

90 न्यायमजरी, भटट जयन्त चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी 1936 पृ० 1–3।

91 वही, पृ० 1–3।

92 तत्त्वचिन्तामणि उपाध्याय गगेश, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी 1917 पृ० 644–45।

93 न्यायमजरी भटट जयन्त चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी 1936, पृ० 121।

94 तत्त्वचिन्तामणि, उपाध्याय गगेश, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1917, पृ० 622।

95 तर्कसग्रहदीपिका अन्नभट्ट भण्डारकर प्राच्यविद्या सशोधन मन्दिर पूना, 1930 पृ० 38।

96 तत्त्वचिन्तामणि, उपाध्याय गगेश चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी 1917 पृ० 770।

97 तर्कसग्रहदीपिका अन्नभटट भण्डारकर प्राच्यविद्या सशोधन मन्दिर पूना 1930 पृ० 38।

98 खण्डनखण्डखाद्य श्री हर्ष अच्युत ग्रथमाला, ग्रान्थाक 1, वाराणसी स० 2018 पृ० 255–58।

99 वेदान्तपरिभाषा धर्मराजाध्वरीन्द्र, व्याख्या–मुसलगॉवकर श्रीगजानन शास्त्री चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, 1983, पृ० 161।

100 वेदान्तपरिभाषा धर्मराजाध्वरीन्द्र शिखामणिटीका श्री वेकटेश्वर छापाखाना बम्बई स० 1985 पृ० 176 ।

101 वही शिखामणिटीका पृ० 176 ।

102 वही पृ० 64 ।

103 श्लोकवार्तिकतात्पर्यटीका उम्बेक मद्रास विश्वविद्यालय प्रकाशन, मद्रास 1940 पृ० 308 ।

104 प्रकरणपचिका मिश्र शालिकनाथ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय मुद्रणालय काशी 1969 पृ० 203 ।

105 न्यायविनिश्चय 2 9 धर्मकीर्ति काशी प्रसाद जायसवाल अनुशीलन सस्था पटना 1955 ।

106 वही 3 31 ।

107 वही 2 21 22 24 ।

108 न्यायमजरी 1–110 भटट जयन्त चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी 1939 ।

109 सर्वदर्शनसग्रह माधवाचार्य भण्डारकर प्राच्यविद्या सशोधन मन्दिर पूना 1951 पृ० 17–18 ।

110 न्यायविनिश्चय 2 23 धर्मकीर्ति काशी प्रसाद जायसवाल अनुशीलन सस्था पटना 1955 ।

111 न्यायमजरी भट्ट, जयन्त, चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी, 1939 पृ० 104 ।

112 वही 1 115 ।

113 वही 1 104 ।

114 न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका मिश्र वाचस्पति कलकत्ता सस्कृत ग्रन्थमाला ग्रन्थाक 18 कलकत्ता 1936 पृ० 135 ।

115 न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका मिश्र वाचस्पति कलकत्ता सस्कृत गन्थमाला ग्रन्थाक 18 कलकत्ता 1936 पृ० 291–92 310 ।

116 न्यायमजरी–2 भटट जयन्त चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी 196 पृ० 139–40 ।

117 प्रशस्तपादभाष्य प्रशस्तपाद निर्देशक अनुसधान सस्थान, वाराणसेय सस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी 1963 पृ० 294 ।

118 श्लोकवार्तिक अनुमान श्लोक 121–123 भटट कुमरिल मद्रास विश्वविद्यालय, प्रकाशन 1940 ।

119 साख्यतत्वकौमुदी मिश्र वाचस्पति, सत्य प्रकाशन बलरामपुर, हाउस इलाहाबाद, 1962 पृ० 39 ।

120 न्यायायावतार दिवाकर सिद्धसेन श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल बम्बई 1950 पृ० 15 ।

121 न्यायविनिश्चयटीका धर्मोत्तर, काशी प्रसाद जायसवाल अनुशीलन सस्था, पटना, 1955 पृ० 234–39 ।

122 साख्यतत्वकौमुदी मिश्र वाचस्पति, सत्य प्रकाशन बलरामपुर हाउस इलाहाबाद 1962 पृ० 39 ।

123 योगभाष्य व्यास, भारतीय विद्याप्रकाशन पचगगाघाट वाराणसी 1963 पृ० 11 ।

124 श्लोकवार्तिक अनुमान श्लोक 4–11 भट्ट, कुमारिल मद्रास विश्वविद्यालय प्रकाशन, 1940 ।

125 साख्यसूत्र 5–29 कपिल, प० आशुतोष विद्याभूषण तथा प० नित्यबोध विद्यारत्न कलकत्ता, 1935 ।

अध्याय चतुर्थ

उपमान प्रमाण

उपमान प्रमाण

न्याय पूर्व मीमासा एव अद्वैत वेदान्त दर्शन मे इसे पृथक प्रमाण की मान्यता प्रदान की गयी है। सामान्यत उपमिति के करण को उपमान प्रमाण कहते है। उपमिति सादृश्य ज्ञान रूप है। उपमान उप और मान शब्दो के योग से बना है। उप का तात्पर्य है सादृश्य या समान और मान का अर्थ है ज्ञान । इस प्रकार उपमान का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ है–सादृश्य का ज्ञान जिस साधकतम कारण से होता है उसे उपमान प्रमाण कहते है। उपमान प्रमाण के स्वरूप के बारे मे इस सामान्य सहमति के अतिरिक्त उपमान को प्रमाण मानने वाले दर्शनो मे उपमान के विशिष्ट लक्षण को लेकर मतभेद परिलक्षित होता है।

उपमान का लक्षण

उपमान **नैयायिको** के अनुसार यथार्थज्ञान का तीसरा प्रमाण है। न्यायसार" के रचयिता **भासर्वज्ञ** (नवी शताब्दी) को छोडकर सूत्रकार **आचार्य गौतम** से लेकर उत्तरकालीन **अन्नभट्ट केशवमिश्र विश्वनाथ, गगेश उपाध्याय** आदि नैयायिको और उनके टीकाकारो ने भी इस प्रमाण को मान्यता प्रदान की है। **वैशेषिक दर्शन** के प्रणेता **कणाद** तथा उनके अनुयायियो ने इसे स्वतन्त्र प्रमाण के रूप मे स्वीकार नही किया अथवा अनुमान प्रमाण मे ही इसे अन्तर्भूत करन का प्रयास किया है। किन्तु नव्य न्याय के उदय होने पर जब न्याय और वैशेषिक के सिद्धान्तो मे समन्वय स्थापित किया गया तब से उस परम्परा मे भी इस प्रमाण को माना जाने लगा है।

न्याय दर्शन के अनुसार उपमान वह प्रमाण है जिसमे सादृश्य का बोध कराने वाले वाक्य का स्मरण करके सादृश्य वस्तु का ज्ञान होता है। अर्थात् इसमे सादृश्यता के आधार पर ज्ञान प्राप्त किया जाता है। **"न्यायसूत्र"** मे कहा गया है कि प्रसिद्ध वस्तु (जैसे गाय) के साधर्म्य से अप्रसिद्ध वस्तु (जैसे गवय) के ज्ञान को उपमिति और उसके साधन को उपमान कहा जाता है–**"प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्।"**[1] चूँकि साधर्म्य की मात्रा को निश्चित करना बहुत कठिन है इसलिए **गौतम** कहते हैं कि **"उपमान का आधार साधर्म्य की मात्रा या स्तर नही अपितु उसकी प्रसिद्धि है।"**[2] गौतम के कथन का विश्लेषण करते हुए **वात्स्यायन** ने कहा है कि ज्ञात वस्तु के साम्य के आधार पर ज्ञापनीय वस्तु का ज्ञान कराने वाला साधन उपमान है। उदाहाणार्थ "जिस प्रकार की गौ होती है, उसी प्रकार का गवय होता है"– इस कथन मे गवय का ज्ञान कराने वाला जो साधन है वह उपमान प्रमाण कहलाता है। इस प्रकार उपमान के द्वारा नाम और नाम वाले पदार्थ के पारस्परिक सम्बन्ध का ज्ञान होता है और यह ज्ञान साधर्म्य के

द्वारा होता है। किन्तु **उद्योतकर** का कहना है कि उपमान का क्षेत्र और अधिकार विस्तृत है। **वात्स्यायन** के मत मे सशोधन करते हुए उद्योतकर ने कहा है कि साधर्म्य के अतिरिक्त वैधर्म्य और असाधारण धर्म के द्वारा भी उपमिति होती है। सभवत इसी कारण उत्तरवर्ती नैयायिको ने उपमान की परिभाषा मे साधर्म्य–वैधर्म्य की अपेक्षा सज्ञासज्ञिसम्बन्ध का उल्लेख किया है।

केशव मिश्र का कहना है कि **"अतिदेश वाक्य के अर्थ का स्मरण करने के साथ ज्ञात वस्तु (गाय) के सादृश्य से युक्त अज्ञात पिण्ड (गवय) का ज्ञान कराने वाला प्रमाण उपमान है।"** अतिदेश वाक्य का अर्थ है– समानता आदि बताने वाला वाक्य।[3] जैसे गौ की समानता से युक्त पिण्ड के ज्ञान के पश्चात् यह पिण्ड गवय शब्द का वाच्य है– इस प्रकार की जो सज्ञा (गवय शब्द) तथा सज्ञी (गवय वस्तु) के सम्बन्ध की प्रतीति होती है वह उपमिति यानी उपमान का फल है। उपमान की प्रक्रिया के निम्नलिखित तीन सोपान है जिनमे से प्रथम दो को उपमान तथा अन्तिम को उपमिति कहा जाता है।

1 गोसदृश पशु विशेष का ज्ञान

2 अतिदेश वाक्य के अर्थ का स्मरण और

3 गोसदृश पशु विशेष गवय शब्द का वाच्य है –इस प्रकार की प्रतीति।

लेकिन **विश्वनाथ** का मत इससे कुछ भिन्न है। विश्वनाथ के अनुसार उपमिति मे सादृश्य का दर्शन करण है अतिदेश वाक्य (जैसे–गोसदृश प्राणी गवय शब्द का वाच्यार्थ है) का स्मरण अवान्तर–व्यापार है और सदृश प्राणी को गवय कहना चाहिए –यह ज्ञान फल है न कि सम्मुख दीखने वाला पशु गवय है। विश्वनाथ का कहना है कि ऐसा न स्वीकार करने पर गवयान्तर मे शक्ति का ज्ञान नहीं हो सकेगा। **अन्नभट्ट** ने भी यही स्वीकार किया है। परन्तु सभी नैयायिक उपमान को एक स्वतन्त्र प्रमाण मानते है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि जब किसी अज्ञातनामा पदार्थ मे किसी ज्ञातनामा पदार्थ के सादृश्य का ज्ञान होता है और उस समय अतिदेश वाक्य अज्ञातनामा पदार्थ का नाम बताने वाले वाक्य के अर्थ का स्मरण भी हो जाता है तब वह ज्ञान उपमान प्रमाण कहा जाता है। यानी किसी ऐसे नागरिक पुरूष जिसने कभी नीलगाय नहीं देखा है से किसी आरण्यक का परिचय होने पर तथा वन्य पशुओ की चर्चा मे गवय की चर्चा होने पर वह नागरिक पुरूप उस आरण्यक से प्रश्न करता है कि गवय कैसा होता है? आरण्यक से उसे ज्ञात होता है कि गवय गौ के सदृश होता है। इस तरह जब कभी भी वह नागरिक पुरूष वन मे जाता है और वहॉ गौ के सदृश किसी पशु को देखता है, तो उसे उस अतिदेश वाक्य का स्मरण हो जाता है कि **"गोसदृश गवयो भवति।"** इस प्रकार इस स्मरण का सन्निधान होने पर गो सदृश पशु का ज्ञान जो तुरन्त उस पुरूष को हुआ उसे उपमिति प्रमा का करण होने से उपमान प्रमाण कहा जाता

है क्योकि उस ज्ञान के अनन्तर नागरिक पुरूष को इस प्रकार की प्रमा का उदय होता है कि गौ के समान दिखने वाला यह पशु पिण्ड गवय शब्द का वाच्यार्थ है अर्थात् इसी पशु का नाम गवय है। इस प्रकार **"नीलगाय"** सज्ञि के साथ "गवय सज्ञा के वाच्य-वाचक भाव सम्बन्ध की जो प्रमा होती है वही उपमान का फल होता है। यह फल प्रत्यक्ष अंगेर अनुमान प्रमाण से असाध्य है इसका साधक होने से ही उपमान एक अतिरिक्त प्रमाण है।

इस प्रकार की व्याख्या से यह प्रतीत होता है कि सज्ञा और सज्ञि का सम्बन्ध ही उपमान प्रमाण का क्षेत्र है और अप्रसिद्ध पदार्थ मे प्रसिद्ध पदार्थ के सादृश्य का ज्ञान ही अतिदेश वाक्यार्थ के स्मरण के सन्निधान मे उपमान प्रमाण है। इसके अतिरिक्त **"वात्स्यायन भाष्य"** की वृत्ति को देखने पर उपमान प्रमाण का क्षेत्र और विस्तृत दिखाई पडता है क्योकि यहॉ अप्रसिद्धनामा पदार्थ मे प्रसिद्धनामा पदार्थ के वैसादृश्य-वैधर्म्य-ज्ञान को भी उपमान प्रमाण माना गया है। जैसे जब किसी पुरूष को उष्ट्र शब्द का अर्थ ज्ञात नही होता और उसे अन्य पुरूष के वाक्य से यह ज्ञात होता है कि अन्य सभी पशुओ से विसदृश्य दिखने वाले पशु को उष्ट्र कहा जाता है तो इस पूर्वश्रुत वाक्य के अर्थ का स्मरण होने से उस पुरूष को उस विसदृश पशु मे उष्ट्र शब्द की वाच्यता का उपमित्यात्मक निश्चय सम्पन्न होता है। अत इस अनुभव के आधार पर सादृश्यमान के समान वैसादृश्य ज्ञान को भी उपमान प्रमाण माना जा सकता है।

इन बातो से हमे यह ज्ञात होता है कि उपमान प्रमाण मे अनेक विविधताँ भी है। उपमान केवल सज्ञा और सज्ञि के सम्बन्ध का ही निश्चय नही कराता है बल्कि अन्य विषय का भी निश्चय कराता है। जैसे मूँगे के आकार का दिखाने वाला पौधा विष दूर करने की औषधि है।" यह बात जान लेने पर जब कभी भी इस प्रकार के पौधे का साक्षात्कार होता है तो पता चलता है कि यह वही पौधा है। इस उदाहरण से यह स्पष्ट होता है कि उपमान प्रमाण से सिर्फ सज्ञा और सज्ञि जैसे शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का ही निश्चय नही होता, बल्कि विषहरण साधनत्व जैसे अन्य पदार्थ का भी निश्चय होता है। अत उपमान प्रमाण का क्षेत्र शब्दार्थ सम्बन्ध तक ही सीमित नहीं है बल्कि अन्य पदार्थो तक भी फैला हुआ है।

न्याय के समान **मीमासा** और **अद्वैत वेदान्त** मे भी उपमान को एक पृथक् प्रमाण माना गया है किन्तु ये दर्शन उपमान के बारे मे न्याय मत को स्वीकार नहीं करते। न्याय से भिन्न मीमासा और अद्वैत वेदान्त मे सादृश्य ज्ञान के कारण को उपमान और **"गाय गवय के सदृश है–"** इस ज्ञान को उपमिति कहा गया है।

यहॉ यह उल्लेखनीय है कि सादृश्य ज्ञान की करणता को न्याय के समान मीमासा और अद्वैत वेदान्त मे भी स्वीकार की गयी है, किन्तु जहॉ नैयायिक सज्ञा-सधि-सम्बन्ध ज्ञान को फल

मानते है वहाँ **मीमासको** और और **अद्वैत वेदान्तियो** के अनुसार "गाय गवय के सदृश है – यह ज्ञान फल है। इस प्रकार मीमासा व अद्वैत वेदान्त मे न्याय द्वारा स्वीकृत उपमान का लक्षण मान्य नही है। **मीमासा** के अनुसार "जैसा गौ वैसा गवय (यथा गौस्तथा गवय) यह अतिदेश वाक्य है। इसे सुनने के बाद कोई व्यक्ति वन मे जाकर गो के समान पिण्ड को देखता है तो उसे ज्ञान होता है कि मेरी गाय इस पशु के सदृश है। यही उपमिति है उपमान का फल है। यह ज्ञान प्रत्यक्ष और अनुमान से भिन्न है। प्रत्यक्ष के लिए ग्रामस्थ गौ के साथ अरण्यगत मनुष्य क चक्षुसन्निकर्ष की आवश्यकता है जो ग्रामस्थ गौ के साथ दूरस्थ होने से सभव नही है। अनुमान के लिए अनुमापक हेतु मे अनुमेय साध्य की व्याप्ति और पक्षधर्मता ज्ञान की आवश्यकता है जो गवय मे नही है। अत अरण्यगत मनुष्य को ग्रामस्थ गौ मे गवयसादृश्य का ज्ञान उपमान से होता है। इस प्रकार मीमासा मे उपमान को स्वतन्त्र प्रमाण तो माना गया है जो प्रत्यक्ष और अनुमान से भिन्न है परन्तु इसका स्वरूप न्याय से भिन्न है। मीमासक न्याय के उपमान का खण्डन करते है।

न्यायसूत्रकार **आचार्य गौतम** ने उपमान का लक्षण इस प्रकार किया है– **"प्रसिद्ध वस्तु के साधर्म्य से साध्य की सिद्धि करने वाला उपमान प्रमाण होता है।"** **वात्स्यायन** ने सज्ञा-सज्ञि सम्बन्ध को उपमान प्रमाण का फल माना है। **प्राच्य तथा नव्य नैयायिको के मत मे उपमान प्रमाण को लेकर भिन्नता पायी जाती है।** प्राच्य नैयायिक आप्त पुरूष के वचन (अतिदेश वाक्य) को ही उपमिति का करण मानते है जबकि नव्य नैयायिक अतिदेश्यावाक्यस्मृति सापेक्ष सादृश्य के इन्द्रियजन्य ज्ञान को उपमिति के करण के रूप मे स्वीकार करते है–**"अतिदेशवाक्यार्थस्मरण सहकृत गो सादृश्यविशिष्टपिण्डज्ञानमुपमानम्।**[4]

कुमारिल भट्ट ने उपर्युक्त दोनो प्रकार के नैयायिको के उपमान विषयक सिद्धान्तो की आलोचना की है। प्राच्य नैयायिको के उपमान प्रमाण को कुमारिल ने शब्द प्रमाण मे ही अन्तर्भूत माना है क्योकि नैयायिक आप्त पुरूष के उपदेश को शब्द प्रमाण मानते है– **"आप्तोपदेश शब्द"** [5] तथा उपमान भी आरण्यक के "यथा गौर्गवस्यस्तथा इस अतिदेश वाक्य के द्वारा होता है। अत प्राचीन न्याय सम्मत उपमान को आगम प्रमाण से भिन्न नहीं माना जा सकता है। यही कारण है कि **शबरस्वामी** ने उपमान का पृथक् लक्षण प्रस्तुत किया है। अरण्यवासी पर विश्वास करने के कारण ही उस पुरूष को गवय का ज्ञान होता है ठीक उसी प्रकार जैसे एक व्यक्ति के द्वारा दूसरे व्यक्ति से पूछने पर कि अमुक वस्तु कहाँ है? उस वस्तु का ज्ञान शब्द प्रमाण द्वारा प्राप्त होता है।[6]

नव्य नैयायिको के अनुसार जिज्ञासु व्यक्ति "गाय के सदृश गवय होता है" इस अतिदेश वाक्य को अरण्य वासी से सुनकर अरण्य मे जाता है तथा ऐसे पिण्ड का दर्शन करता है जो गोसदृश है। उस अतिदेश वाक्य के स्मरण के साथ वह सादृश्य ज्ञान ही उपमान है। किंच, यह

सादृश्य ज्ञान इन्द्रियजन्य है जो स्मरण के साथ अप्रसिद्ध पिण्ड (गवय) मे प्रसिद्ध पिण्ड (गो) का सादृश्य उत्पन्न करता है। अत अतिदेशवाक्य स्मृति सापेक्ष सादृश्य का इन्द्रियजन्य ज्ञान ही उपमान प्रमाण होता है तथा उपमान प्रमाण से जन्य "यह पिण्ड गवय शब्द का वाच्य है इस प्रकार से सज्ञा–सज्ञि–सम्बन्ध का ज्ञान ही उसका फल है।

कुमारिल भट्ट ने उपर्युक्त नव्य नैयायिक मत का खण्डन किया है। उनके अनुसार न्याय का यह उपमान स्मृतिसहित सादृश्य का प्रत्यक्ष ज्ञान है जिसमे गवय का तो प्रत्यक्ष होता है तथा गवय मे गो सादृश्य अतिदेशवाक्य द्वारा पूर्वकथित होने के कारण पूर्वानुभूत है, अत वह स्मृति है। इस पर **नैयायिक** यह कह सकते है कि गवय तथा सादृश्य का ज्ञान यद्यपि प्रत्यक्ष तथा स्मृति से होता है तथापि गोसादृश्यविशिष्ट गवय का ज्ञान न तो स्मृति से होता है और न प्रत्यक्ष से बल्कि उपमान नामक पृथक प्रमाण से ही होता है। कुमारिल का कहना है कि यदि ऐसा है तो इसे स्वीकार करने से पूर्व यह परीक्षा करनी चाहिए कि गोसादृश्य युक्त अर्थ का ज्ञान अतिदेश वाक्य से अधिक होता है या उतना ही होता है जितना अतिदेश वाक्य मे कहा गया है। अर्थात् अतिदेश वाक्य अपेक्षा अग्रहीतग्रहिता है अथवा नही। यदि नही है तो यह सादृश्य ज्ञान स्मृति ही है। अत यह उपमान प्रमाण नही हो सकता है।

प्राभाकर भी नैयायिको के उपमान प्रमाण के लक्षण से सहमत नही हैं। उनका कहना है कि नैयायिको ने उपमान का जो लक्षण किया है,[7] उसे उपमान का निर्दुष्ट लक्षण नही कहा जा सकता[8], क्योकि "गोसादृशो गवय–' इत्याकारक जो प्रथम ज्ञान उत्पन्न होता है वह तो केवल पुरूष वाक्य से जन्य होने के कारण शाब्द बोधात्मक है और वन मे जाने पर गवय या गवयगत–गोसादृश्य का जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह प्रत्यभिज्ञा नामक प्रत्यक्ष है। गवय शब्द गवयगत वाच्यता का ज्ञान अनुमान प्रमाण है। वन मे गवय को देखकर जो ज्ञान होता है– "एतत्सैव मया सा सज्ञा अवगता' वह ज्ञान भी स्मरणात्मक है। इस प्रकार नैयायिको द्वारा प्रदत्त उपमान के लक्षण को निर्दुष्ट लक्षण नही कहा जा सकता है।

न्यायसम्मत उपमान के लक्षण को दोषपूर्ण बताने के वाद **विभिन्न मीमासक आचार्यो** ने अपने–अपने ढग से उपमान का लक्षण दिया है, जिसका विवेचन अधोवत् है।

मीमास सूत्रकार महर्षि जैमिनि ने उपमान के विषय मे कुछ भी नहीं कहा है, किन्तु **शबरस्वामी** ने मीमासा सूत्रो के भाष्य मे लिखा है **"उपमान सादृश्य है, जो उस वस्तु का ज्ञान कराता है जिसका इन्द्रिय के साथ सन्निकर्ष नही होता है।"**[9] उपमान की इस परिभाषा मे शबर ने "उपमान शब्द का साधन (करण) के रूप मे प्रयोग किया हैं। शबर ने अन्य प्रमाणो के वर्णन स्थल पर प्रमा रूप फल को ही परिभाषित किया है, किन्तु उपमान का वर्णन करते समय उपमान प्रमाण अर्थात् साधन का लक्षण दिया है। शबर ने ज्ञान के साधन तथा प्रमारूप फल के लिए एक ही शब्द उपमान का प्रयोग किया है, जबकि न्याय सिद्धान्त मे उपमान

तथा उपमिति शब्दो के द्वारा साधन तथा फल को पृथक–पृथक् अभिहित किया गया है। शबर द्वारा दी गयी उपमान की परिभाषा उसके फल की व्याख्या नहीं कर पाती। अत शबर ने उस इस उदाहरण के द्वारा स्पष्ट करने का प्रयास किया है– जिस प्रकार गवय का प्रत्यक्ष गोस्मरण का कारण है **यथा गवददर्शन गोस्मरणस्य।**[10]

यहॉ उल्लेखनीय है कि पूर्वोक्त लक्षण मे तो शबर ने उपमिति का करण "सादृश्य" बताया था किन्तु उदाहरण मे गवय–दर्शन––– को करण रूप कहा है। यहॉ पर गवय–दर्शन से अक्षरश गवय का दर्शन अभिप्रेत नही है बल्कि गवय–दर्शन से गोसादृश्यविशिष्टगवयदर्शन अभिप्रेत है जिसे उपमिति का करण मानना चाहिए और करणरूप होने के कारण गोसादृश्यविशिष्टगवयदर्शन उपमान प्रमाण है। आचार्य शबर के शब्दो मे इस उपमान प्रमाण का फल गोस्मरण' है।

भाट्ट मीभासक उपमान प्रमाण की प्रक्रिया के सन्दर्भ मे **आचार्य शवरस्वामी** के मत से पूर्णतया सहमत नही हैं। इनके अनुसार उपमान प्रमाण का फल गोस्मरण नहीं है बल्कि गवय के सादृश्य का ज्ञान ही फल है। उनका कहना है कि स्मरण किया जाने वाला अर्थ गो इन्द्रियासन्निकृष्ट है ऐसा मानने पर तो उपमान तथा स्मरण मे कोई भेद ही नहीं रह जायेगा। यही कारण हे कि **कुमारिल भट्ट शाबर** मत का खण्डन करते हुए कहते है कि गो सादृश्यविशिष्टगवय का प्रत्यक्ष जिस गो विषयकस्मरण का ज्ञान उत्पन्ना करता है, उसी स्मरण को उपमान प्रमाण कहा गया है। किन्तु वह स्मरणात्मक होने के कारण प्रमाण नही हो सकता क्योकि यदि ऐसा स्वीकार कर लिया जाय, तो देवताओ के ध्यानात्मक स्मरण तथा इस गो–स्मरण मे कोई भिन्नता नही रहेगी।

कुमारिल ने गवय सादृश्य से विशिष्ट स्मृत गो को अथवा पूर्वज्ञात अर्थ से विशिष्ट सादृश्य को उपमान का प्रमेय बताया है।[11] कोई व्यक्ति जिसने गाय को तो देखा है किन्तु गवय को कभी नही देखा है, जब वह अरण्य मे जाता है और गवय को देखता है तब वह गवय के प्रत्यक्ष के द्वारा उसमे गो के समान चिहने को पाता है। तत्पश्चात् उसे स्मरण होता है कि पूर्वदृष्ट गो इस गवय के समान है और वह इस प्रकार स्मृत गो मे गवय के सादृश्य का ज्ञान प्राप्त करता है। गवय के सादृश्य से विशिष्ट स्मृत गो ही उपमान का विषय (प्रमेय) है। **कुमारिल** ने **"वा"** कहकर विकल्प के रूप मे **"पूर्वज्ञात अर्थ से विशिष्ट सादृश्य"** को भी उपमान का प्रमेय माना है। स्मृतगो गवय के सदृश्य है, यह ज्ञान ही उपमान प्रमाण का फल है।

पार्थसारथि मिश्र भी इस विषय मे **कुमारिल** से साम्य रखते है। उन्होने उमपान शब्द का प्रयोग फल' बतलाने के लिये किया है और इस प्रकार उपमति के अर्थ मे उपमान शब्द का प्रयोग करके उपमान की परिभाषा दी है। उनके अनुसार **"पूर्वदृष्टे स्मर्यमाणार्थे दृश्यमानार्थ सादृश्य ज्ञानमुपमानम्।'**[12] **नारायण भट्ट** ही वह प्रथम व्यक्ति हैं, जिन्होने भाट्ट

मत के आधार पर रचित **मानमेयोदय** मे उपमान प्रमाण तथा उपमति को अलग–अलग स्पष्ट रूप से परिभाषित किया है। उनके अनुसार सादृश्य का ज्ञान जो गाय मे है वह उपमिति है–

गवयस्थितसादृश्यदर्शन करण भवेत्।
फल गोगत सादृश्य ज्ञानमित्यवगम्यताम् ।।[13]

प्रश्न उठता है कि उपमान तथा उपमिति दोनो ही सादृश्य ज्ञान है तो दोनो मे अतर क्या है? इस प्रश्न का उत्तर है कि प्रथम सादृश्य ज्ञान का प्रत्यक्ष होता है जिसे उपमान प्रमाण कहते है और द्वितीय सादृश्य ज्ञान उपमिति है जो प्रत्यक्ष द्वारा नही बल्कि प्रत्यक्ष के बाद हुए सादृश्य ज्ञान (अय पिण्डो गो सदृश) से उत्पन्न होता है। इस प्रकार **अनेन सदृशी मदीया गौ** उपमान प्रमाण का फल अर्थात् उपमिति है और इस उपमिति का कारण **'गोसादृश्य विशिष्ट गवय दर्शन'** है।

भाष्यकार शबर की शब्दावली के पर्यवसित अर्थ को ध्यान मे रखते हुए **प्राभाकर मीमासको** ने उपमान प्रमाण की मीमासा प्रस्तुत की है। **शालिक नाथ मिश्र** ने उपमान प्रमाण का लक्षण किया है– **सादृश्य दर्शनोत्थ ज्ञान सादृश्यविषयमुपमानम्।**"[14] अर्थात सादृश्य दर्शन से सादृश्य विशिष्ट विषय का ज्ञान ही उपमान है। इस लक्षण मे प्रयुक्त **'सादृश्य दर्शन'** का तात्पर्य **गोसादृष्य विशिष्ट गवय का दर्शन** है और **"सादृश्य विषय"** का तात्पर्य है **गवयसादृश्यविशिष्ट गौ।** सादृश्य दर्शन उपमान प्रमाण है और सादृश्य विषय प्रमेय जिसका ज्ञान उपमान प्रमाण का फल अर्थात् उपमिति है। **प्राभाकर मीमासको ने आचार्य शबर स्वामी के इस मत का खण्डन किया है कि गोसादृश्यविशिष्ट गवय का प्रत्यक्ष स्मृत गो का कारण है।** इनके अनुसार स्मृत गो उपमान प्रमाण का फल नही हो सकता है। गोसादृश्यविशिष्ट गवय दर्शन से केवल पूर्व ज्ञात गाय के सादृश्य का ज्ञान होता है। कुछ लोगो (प्रतिपक्षियो) का आक्षेप है कि प्राभाकर जब सादृश्य को प्रमेय नहीं मानते है, तो उपमान प्रमाण का प्रमेय अन्य कोई पदार्थ नही हो सकता है। प्राभाकर मीमासक इस आपत्ति का खण्डन करते हुऐ कहते है कि गोसादृश्यविशिष्ट गवय अर्थात् गाय मे गवय का सादृश्य वह पदार्थ है, जिसका ज्ञान पहले प्रत्यक्षादि प्रमाणो से नहीं हुआ है, क्योकि जिस समय गाय का प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ था, उस समय गवय का प्रत्यक्ष नही हुआ था, जिसके फलस्वरूप सादृश्यता का भी प्रत्यक्ष ज्ञान नही हुआ था । जिसका पहले प्रत्यक्ष ज्ञान नही हुआ है, वह कैसे स्मरण का विषय बन सकता है? इस प्रकार गाय मे गवय के सादृश्य दर्शन से गवयगत सादृश्यविशिष्ट गाय का ज्ञान होता है, जिसे उपमिति कहते है।[15]

अद्वैत वेदान्त मे भी उपमान को एक स्वतत्र प्रमाण माना गया है। उपमिति को परिभाषित करते हुए **आनन्दपूर्ण** ने कहा है कि सन्निकृष्ट वस्तु से असन्निकृष्ट वस्तु की सादृश्य बुद्धि

उपमिति है ।[16] आनन्दपूर्ण ने उपमान की प्रक्रिया को परिभाषित करते हुए कहा है कि उपमान के द्वारा होने वाला ज्ञान इस प्रकार होगा–गवय सादृश्य विशिष्ट गो ज्ञान ही उपमिति है [17]– उपमान को निरूपित करते हुए **वेदान्तपरिभाषाकार** ने लिखा है कि सादृश्य प्रमा के करण का उपमान कहते है–**सादृश्य प्रमाकरणमुपमानम्** ।[18] अर्थात उस सादश्य प्रमा का करण उपमान है जिससे सादृश्य मूलक उपमिति ज्ञान होता है। आनन्दपूर्ण एक उदाहरण के द्वारा उपमान की प्रक्रिया को स्पष्ट करते है– नगर मे जिस पुरूष ने गो पिण्ड को देखा है बाद मे वह जगल मे गया और वहॉ पर गवयपिण्ड के साथ इन्द्रिय–सन्निकर्ष होने पर "यह पिण्ड गो के सदृश है –ऐसा प्रतीति हुई। इसके बाद इसके जैसी मेरी गाय है–ऐसा निश्चय हुआ। यहॉ पर गवय मे रहने वाला गो के सादृश्य का ज्ञान करण है एव "गो" मे रहने वाला गवय के सादृश्य का ज्ञान (उपमति रूप) फल है। इसके जैसी मेरी गाय हे इस ज्ञान को उपमिति प्रमा कहा गया हे। इसका उत्पादक प्रथम सादृश्य ज्ञान है अत "अय पशु गो सदृश" यह उपमान प्रमाण है। ऐस द्वितीय उपमिति रूप ज्ञान का जनक प्रत्यक्ष प्रमाण को नही मान सकते क्योकि गा पिण्ड के साथ उस समय इन्द्रिय सन्निकर्ष नही है फिर भी "अनेन सदृशी मदीया गौ ऐसा निश्चित ज्ञान हो रहा है। अत इसका उत्पादक प्रत्याक्षादि से भिन्न उपमान प्रमाण को ही मानना पडेगा। इन्द्रियसन्निकर्ष के विना उत्पन्न होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष नही कहा जा सकता। अत उसका करण भी प्रत्यक्ष प्रमाण से भिन्न सादृश्य ज्ञान रूप उपमान प्रमाण माना गया है।

यद्यपि सादृश्य से सादृश्य ज्ञान अनुव्यवसाय भी उत्पन्न होता है और उपमिति ज्ञान भी उत्पन्न होता है फिर भी उपमति ज्ञान मे सादृश्य ज्ञान करण होने से कारण है और अनुव्यवसाय का सादृश्य ज्ञान व्यवसाय होने से कारण है। अत उपमिति के लक्षण की सादृश्य ज्ञान के अनुव्यवसाय आदि मे अतिव्याप्ति नही है। उपमिति का करण सादृश्य ज्ञान है। उसमे "करण का लक्षण असाधारण कारणत्व ही माना गया है व्यापरवत् असाधारण कारण नही माना गया है क्योकि गवयनिष्ठ गो के सादृश्य ज्ञान रूप उपमान को उपमिति उत्पन्न करने मे व्यापार का अभाव है। अत यह कहा गया है कि नगर मे जिसने गोपिण्ड को देखा कभी जगल मे जाने पर उसे गवय पिण्ड दिखाई दिया। गवय पिण्ड के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष होते ही यह पिण्ड गो सदृश है ऐसा ज्ञान हुआ। तदनन्तर ही "इसके समान मेरी गाय है ऐसा निश्चय हो गया । उपमान और उपमिति के बीच मे किसी व्यापार का उल्लेख नहीं किया गया है। तात्पर्य यह है कि गवय पिण्ड मे गो का सादृश्य ज्ञान होने पर इसके समान ही मेरी गो है ऐसी उपमिति नही होती। अत अन्वयव्यतिरेक आधार पर गवयनिष्ठ गो सादृश्य ज्ञान को ही करण मानना चाहिए।

वास्तव मे यह पिण्ड गो सदृश है– ऐसा गवय मे गो सादृश्य का ज्ञान होते ही सादृश्य–ज्ञान से पहले देखी हुई गाय का सस्कार उत्पन्न हो जाता है। अत अनुमान मे जैसे व्याप्ति जन्य

सस्कार व्यापार जान पडता था वैसे ही यहाँ भी सादृश्य ज्ञान जनित उत्पन्न सस्कार का व्यापार समझना चाहिए। **अद्वैत वेदान्त का उमान सम्बन्धी मत कुमारिल भट्ट जैसा** है। कुमारिल के अनुसार– उपमिति (उपमान का फल) के लिए दो विकल्प बताये जा सकते है—

1 सादृश्य और

2 सादृश्य विशिष्ट पिण्ड।[19]

आनन्दपूर्ण ने उपर्युक्त दोनो ही विकल्पो को स्वीकार कर लिया है जबकि **धर्मराजाध्वरीन्द्र** केवल सादृश्य ज्ञान को ही उपमिति स्वीकार करते हैं। उपमान की इस मानोवैज्ञानिक प्रक्रिया के **चार स्तर** है– 1 **सबसे पहले** गवय मे सादृश्य के अवयवो का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। **दूसरे स्तर पर** सादृश्य के द्वारा गॉव मे पहले देखी गई गाय का स्मरण होता है। **तीसरे स्तर पर** प्रत्यक्ष गवय गाय के जैसी है ऐसा ज्ञान उत्पन्न होता है। और **अन्त मे** निष्कर्ष रूप से यह ज्ञात होता है कि पहले देखी गयी गाय वर्तमान मे देखी जा रही गवय के सदृश्य है। दूसरे शब्दो मे पूर्वदृष्ट गाय प्रत्यक्ष गवय के सादृश्य से विशिष्ट है।[20]

उपमान का प्रामाण्य

चार्वाक जैन, बौद्ध साख्य–योग एव वैशेषिक दर्शनो मे उपमान को स्वतन्त्र प्रमाण नहीं माना गया है। **चार्वाक** उपमान प्रमाण का अन्तर्भाव अनुमान प्रमाण मे करते है। उनके अनुसार उपमान अनुमान का ही एक रूप है और अनुमान का प्रमाणत्व किसी भी प्रकार से सिद्ध नही किया जा सकता क्योकि अनुमान का आधार व्याप्ति है जिसकी स्थापना किसी भी प्रकार से नही की जा सकती है। इसलिए अनुमान पर आधारित उपमान को प्रमाण नही माना जा सकता है।

जैन आचार्य अकलकदेव प्रभाचन्द्र वेदराजसूरि और **यशोविजय** आदि ने **उपमान को प्रत्याभिज्ञा मे अन्तर्भूत** किया है। सभी उत्तरवर्ती जैनाचार्यो ने इन्हीं का अनुगमन किया है।[21] विशिष्टाद्वैत के समर्थक **मेघनाद सूरी** ने भी उपमान को प्रत्याभिज्ञा मे अन्तर्भावित किया है। **जैन** दार्शनिको के अनुसार उपमान का जो उद्देश्य नैयायिको ने बताया है वह प्रत्यभिज्ञा के द्वारा पूरा हो सकता है। इस प्रक्रिया मे ज्ञान के एक से ज्यादा साधनो का तत्त्व विद्यमान है। प्रत्याभिज्ञा का उदाहरण है–"यह वही बर्तन है , यह ज्ञान बर्तन के पूर्व ज्ञान पर आधारित है। इसी प्रकार उपमान मे भी जो वस्तु जानी जा रही है वह पहले से ही जगल के व्यक्ति द्वारा बताये जाने पर पहले से ही ज्ञात है इसलिए उपमान मे कोई भी तत्त्व ऐसा नहीं है जो उपमान को प्रत्याभिज्ञा से पृथक कर सके।[22] विशिष्टाद्वैत के अनुयायी **मेघनाद सूरि** ने उदयन के विचार को बताते हुए कहा है कि उनके द्वारा बताया गया उपमान प्रत्याभिज्ञा है, या फिर हमे इस प्रकार के ज्ञान के लिए कि **यह वही देवदत्त है** एक अतिरिक्त प्रमाण की आवश्यकता होगी।[23]

किन्तु **नैयायिक** उपर्युक्त आपत्तियो का खण्डन करते हुए कहते है कि उपरोक्त मत का स्वीकार नही किया जा सकता। सबसे पहले जैन आचार्यो की यह पूर्व मान्यता अस्वीकार्य है कि सज्ञा–सज्ञी सम्बन्ध आप्तवाक्य (विश्वसनीय व्यक्ति के कथन) से ही जाना जा सकता है। यह कहना भी असत्य है कि सज्ञा–सज्ञी सम्बन्ध बाद मे देखा जाता हे। दूसर प्रत्याभिज्ञा म सज्ञा–सज्ञा सम्बन्ध नही हो सकता क्योकि सज्ञा–सज्ञी सम्बन्ध इन्द्रियो से परे है। यह भी तर्क नही किया जा सकता कि नेयायिका का इस प्रकार की स्थिति क लिए कि यह वही दवदत्त हे काई आर प्रमाण स्वीकार करना पडगा क्योकि नैयायिको ने इन प्रकार के उदाहरणा को प्रत्यक्ष मे जाड दिया है।

नैयायिको के अनुसार उपमान को प्रत्यभिज्ञा मे अन्तर्भावित करना गलत होगा क्याकि इसमे ज्ञान के दो साधनो (प्रमाणो) के तत्त्व है फिर भी इसकी स्वतन्त्र सत्ता को अस्वीकार नही किया जा सकता दयोकि इसमे प्रत्यक्ष और शब्द प्रमाण के तत्त्व होते हुए भी इसके फल (उपमिति) की पूरी व्याख्या सिर्फ इन दोनो प्रमाणो से नही हो सकती।[24] इसलिए उपमान को प्रत्याभिज्ञा मे अन्तर्भावित करना सभव नही है।

बौद्ध और **साख्य दर्शन** मे उपमान का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष मे किया गया है। इसलिए इन दर्शनो मे उपमान को पृथक प्रमाण नही माना गया है। इनके अनुसार उपमान का फल सादृश्य–प्रतीति है ओर यह सादृश्य प्रतीति प्रत्यक्ष प्रमाण से भी हो सकती है। बौद्ध दार्शनिको का कहना है कि नागरिक को ज्ञान होता है कि दृश्यमान पशु गोसदृश है। यह ज्ञान सादृश्य–विशिष्ट वस्तु का ज्ञान हे। यह साक्षात ज्ञान है कि नील गाय क साथ चक्षु का सन्निकर्ष हाता हे तभी हमे प्रत्यक्ष होता है कि नील गाय गोसदृश है।

किन्तु **न्याय दर्शन** मे उपमान का प्रत्यक्ष मे अन्तर्भाव मान्य नहीं है। नैयायिको का कहना है कि सादृश्य का ज्ञान दो वस्तुओ मे होता है। यहॉ सादृश्य केवल एक वस्तु मे ही दिखाई पडता है। प्रत्यक्ष तो केवल गवय का हो रहा है गाय का नही। अत सादृश्य प्रतीति प्रत्यक्ष का विषय नही है। पुन न्याय का कहना है कि उपमान मे गवय का प्रत्यक्ष तो हो रहा है परन्तु यह प्रत्यक्ष अतिदेश वाक्य के स्मरण पर आधारित है और अतिदेश वाक्य का ज्ञान प्रत्यक्ष नही है। इसलिए उपमान का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष मे सभव नही है।

मीमासा और **अद्वैत** वेदान्त दर्शन मे भी उपमान का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष मे किये जाने का विरोध किया गया है। **वेदान्तपरिभाषाकार धर्मराजाध्वरीन्द्र** का कहना है कि साख्य के कथनानुसार यद्यपि सादृश्य सर्वत्र एक सा ही हे तथापि उसके धर्मी और प्रतियोगी सर्वत्र भिन्न–भिन्न होत है। इसलिए तत्तद् विशेष–व्यक्ति मे रहने वाला सादृश्य भिन्न होता है, यह मानना ही पड़ेगा। इसीलिए गवय का प्रत्यक्ष होने कारण उसके साथ चक्षु का सन्निकर्ष होता है अत तद्गत–सादृश्य प्रत्यक्ष भासित होता है। परन्तु गोव्यक्ति वहॉ पर उस समय समीप नही होने से उसके साथ

इन्द्रिय सन्निकर्ष नही रहता। इसलिए गोनिष्ठ सादृश्य प्रत्यक्ष का विषय नही हो सकता हे। इसलिए सादृश्य का प्रत्यक्ष मे अन्तर्भाव होता है **यह साख्य मत** युक्ति तथा अनुभव के विरूद्ध होने से सर्वथा उपेक्षणीय हे।[25]

यहाँ **वैशेषिक दार्शनिको** की ओर से यह कहा जा सकता है कि प्रत्यक्ष मे उपमान का अन्तर्भाव न होने पर भी अनुमान मे उसका अन्तर्भाव हो सकता है। वैशषिक उपमान का अनुमान मे अन्तर्भाव करने के लिए निम्नलिखित अनुमान का प्रयोग करके सज्ञा–सज्ञी सम्बन्ध की स्थापना करते है––

गो सदृश प्राणी को गवय कहते है अथवा गवयत्व विशिष्ट धर्मी गवय पद वाच्य है गो सदृश होने से अथवा गवय शब्द गवयत्वविशिष्ट व्यक्ति का वाचक है। लक्षणा आदि अन्य व्यापार के न होते हुए भी नील गाय के लिए इस शब्द का प्रयोग होने से अन्य व्यापारो के अभाव मे जो शब्द विद्वानो द्वारा जिस अर्थ मे प्रयुक्त होता है वह उस अर्थ का वाचक होता है गौ पिण्ड के वाचक गौ के समान। इस प्रकार वैशेषिक मतानुसार अनुमान प्रमाण से ही सज्ञा–सज्ञी सम्बन्ध की प्रतीति हो सकती है। उसके लिए पृथक प्रमाण की आवश्यकता नहीं है।

किन्तु **न्याय मीमासा एव अद्वैत वेदान्त** के अनुसार अनुमान मे भी उपमान का अन्तर्भाव नही किया जा सकता। न्यायाचार्यो का कहना है कि अनुमान के लिए व्याप्ति की आवश्यकता होती है जबकि उपमान मे व्याप्ति सभव ही नही है। साध्य और हेतु अर्थात् ज्ञातव्य और ज्ञात के साहचर्य का दर्शन तो प्रमाता को पहले कभी हुआ ही नहीं जिससे कि व्याप्ति सम्बन्ध की स्थापना की जा सके। उदाहारणार्थ गवय ज्ञातव्य हे या साध्य तथा गौ का साधर्म्य ज्ञात हेतु है इसमे जहाँ–जहाँ गौ सादृश्य है वहाँ–वहाँ नीलगाय है इस प्रकार के नियत साहचर्य का ज्ञान यदि कहीं सपक्ष दृष्टान्त मे प्रमाता को हुआ हो तो प्रत्यक्ष प्रतीयमान पशु मे गो–सादृश्यरूप हेतु को देखकर "यह नीलगाय है" इस प्रकार की अनुमिति प्राप्त हो सकती है। परन्तु उसे उक्त व्याप्ति का निश्चय कहीं और कभी भी हुआ ही नहीं। ऐसी स्थिति मे अनुमति कैसे हो सकती है? अतएव "गवय गवयपदवाच्य गौ–सदृश होने से यह अनुमान असिद्ध है।

इसके उत्तर वैशेषिक यह कह सकते है कि हम अनुमान का प्रयोग उपर्युक्त प्रकार से न करके निम्न लिखित प्रकार से करते है––

1 मेरी गाय इस गवय जैसी है,

2 क्योकि उसमे एतद्गवयनिष्ठ सादृश्य का प्रतियोगित्व है।

3 जो पदार्थ जिस पदार्थगत सादृश्य का प्रतियोगी होता है वह पदार्थ उस पदार्थ के सदृश रहता है। जैसे चैत्र मैत्र मे रहने वाले अपने सादृश्य का प्रतियोगी (आधेय) है, इसलिए वह मैत्र सदृश है। अर्थात् मैत्र व्यक्ति यदि चैत्र व्यक्ति जैसा है तो चैत्र भी मैत्र जैसा अवश्य होगा। ऐसा अनुमान करने पर कोई दोष नहीं आने पाता। इसलिए अनुमान से ही उपमान चरितार्थ हो जाता है।

किन्तु वैशेषिको का यह मत उचित नही है क्योकि इस अनुमान मे किसी प्रकार का दोष न होने पर भी प्रत्येक सादृश्य प्रमा के समय ऐसा अनुमान किया ही जाय यह कोई नियम नही है। बिना अनुमान के भी **अनने सदृशी मदीया गौ** ऐसी अबाधित प्रतीति होती है[26]। इसलिए जहॉ पर साध्य (वहिन आदि) प्रत्यक्ष हे वहॉ पर भी हम पर्वता वह्निमान धूमात अनुमान करते है परन्तु उतन स ही प्रत्यक्ष प्रमाण की व्यर्थता जेस सिद्ध नही होती (अनुमान स प्रत्यक्ष अगतार्थ हे) वैसे ही अनुमान स यद्यपि उक्त सादृश्य ज्ञान सिद्ध होने पर भी उपमिति प्रमा का पृथक अनुभव होने से उपमान–प्रमाण अनुमान से चरितार्थ नही हो सकता।[27] इसके अतिरिक्त इस सादृश्य ज्ञान के अनन्तर **अहम् अनुमिनोमि** अर्थात मै गवय–सादृश्य का अनुमान करता हूॅ–यह अनुव्यवसाय नहीं होता। किन्तु **उपमिनोमि** अर्थात मै उपमान से जानता हूॅ–यह अनुव्यवसाय होता है। इससे भी गोनिष्ठ सादृश्यज्ञान अनुमित्यात्मक न होकर उपमित्यात्मक है यह सिद्ध होता है । अत उपमान एक स्वतन्त्र व पृथक प्रमाण है यह अवश्य स्वीकार करना चाहिए।[28]

कुछ विद्वान उपमान का अन्तर्भाव शब्द प्रमाण मे करते हैं। इनमे नैयायिक **भासर्वज्ञ** का नाम प्रमुख है[29]। किन्तु अन्य नैयायिको ने उपमान प्रमाण का शब्द प्रमाण मे अन्तर्भाव किये जाने का खण्डन किया हे। इनके अनुसार उपमान का अन्तर्भाव शब्द प्रमाण म नही किया जा सकता क्योकि शब्द प्रमाण मे विषय के प्रत्यक्ष की आवश्यकता नही पडती जबकि उपमिति क लिए गवय नाम पिण्ड का प्रत्यक्ष दर्शन आवश्यक है। इसके साथ ही गाय के धर्मो तथा अतिदेश वाक्य का स्मरण और गाय तथा गवय के धर्मो मे समानता का ज्ञान भी अपेक्षित होता है। **जयन्त भट्ट** ने यह स्पष्ट किया है कि सामग्री भेद और फलभेद से प्रमाण भेद होता है और उपमान तथा शब्द प्रमाण की सामग्री ओर फल अलग–अलग है–

सामग्री भेदात् फलभेदाच्च प्रमाण प्रमाणभेद ।
अन्ये एव च सामग्रीफले शब्दोपमानयो ।।"[30]

इससे स्पष्ट होता है कि उपमान का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द या प्रत्यभिज्ञा आदि मे नही किया जा सकता। इसीलिए **नैयायिको मीमासको** एव **अद्वैत वेदान्तियो** ने उपमान को एक स्वतन्त्र प्रमाण के रूप मे मान्यता प्रदान की है।

उपमान की प्रक्रिया

उपमानवादी विभिन्न दर्शनो मे उपमान की प्रक्रिया के बारे मे मतभेद है। **न्याय दर्शन** के अनुसार उपमान की प्रक्रिया इस प्रकार बताई जा सकती है कि किसी मनुष्य ने यह जानना चाहा कि "गवय" शब्द का क्या अर्थ होता है? या नीलगाय क्या होती है? सयोगवशात् उसने किसी आरण्यक से सुना कि गवय गौ के समान होती है (गो सदृशो गवय)। तदनन्तर जब

कभी वह पुरूष वन मे गया और उस वाक्यार्थ को स्मरण करते हुए उसने एक ऐसे पशु को देखा जो कि गौ के सदृश था तब उसे यह निश्चय हो गया कि यही नीलगाय (गवय) है। इस प्रक्रिया मे गो सादृश्यविशिष्टपिण्डदर्शन रूप जो करण है वह **"उपमान"** प्रमाण और 'गाय के समान नीलगाय होती है इस अतिदेश वाक्यार्थ का स्मरण **अवान्तर व्यापार** कहलाता है।

यहाँ गोसादृश्यविशिष्टपिण्ड सञ्ज्ञी और "गवय" यह उसकी सञ्ज्ञा है। इसी सञ्ज्ञा–सञ्ज्ञि के सम्बन्ध ज्ञान (गवये गवय पदवाच्य) को **उपमिति प्रमा** कहा जाता है। यह उपमिति केवल सादृश्य के आधार पर नही बल्कि वैधर्म्य के आधार पर भी होती है। उदाहरणार्थ "जलादि से विरूद्ध धर्मवाली पृथ्वी" यह ज्ञान होने पर गन्धरहित पाषाण को भी देखकर उसे जल तेज आदि के द्रव्यो के धर्मों से रहित देखकर "यह पृथ्वी है यह ज्ञान उस पुरूष को प्राप्त हो जाता है। साधर्म्य और वैधर्म्य के अतिरिक्त असाधारण धर्म के द्वारा भी उपमिति उत्पन्न हो जाती है। जैसे– "पॉच अगुलियो से युक्त चार पैर और लम्बी नासिका से युक्त मुखवाला काले लम्बे बालो से युक्त शरीर वाला मासाहारी वन्य पशु भालू कहा जाता है।" इस ज्ञान के रहने पर कभी वन मे उपर्युक्त सभी गुणो से युक्त पशु को देखकर उसे "यहॉ भालू है" यह ज्ञान हो जाता है। इसी कारण **उत्तरवर्ती नैयायिको** ने नाम और नाम वाले के सम्वन्ध–ज्ञान को उपमिति बताकर उसके करण के **तीन भेद** माने है—

1 सादृश्य विशिष्ट पिण्ड दर्शन

2 वैधर्म्य विशिष्ट पिण्ड दर्शन और

3 असाधारण धर्म विशिष्ट पिण्ड दर्शन ।

सादृश्य विशिष्ट पिण्ड दर्शन को साधर्म्य उपमान वैधर्म्य विशिष्ट पिण्ड दर्शन को वैधर्म्य उपमान तथा असाधारण धर्म विशिष्ट पिण्ड दर्शन को आसाधरण उपमान के नाम से जाना जाता है। इन तीना का विवेचन इस प्रकार है—

जब किसी प्रसिद्ध वस्तु की साधर्म्य या समानता के आधार पर किसी अज्ञात् वस्तु की उपमा देकर उसका ज्ञान प्राप्त किया जाय, तो उसे **साधर्म्य उपमान** या **सादृश्यविशिष्टपिण्ड ज्ञान** कहते है। जैसे, गाय के समान दिखाई देने वाले जानवर गवय होते है।

जब किसी पूर्व ज्ञात वस्तु की असमानता (असादृश्य) या विधर्मता के आधार पर किसी वस्तु की वस्तुवाचकता का ज्ञान प्राप्त हो, तो उसे **वैधर्म्य उपमान** या **वैधर्म्यविशिष्टपिण्डज्ञान** कहते हैं। जैसे, इस उत्सुकता पर कि ऊॅट कैसा होता है? किसी आप्त पुरूष ने बताया कि ऊॅट होता है घोडे के ही समान, परन्तु उसकी पीठ घोडे जैसी समतल न होकर कूबडयुक्त होती है, गर्दन छोटी न होकर लम्बी होती है । यह सुनने के बाद कालान्तर मे ऊॅट देखकर घोडे से

विलक्षण धर्मो से विशिष्ट पिण्ड वाक्यार्थ के स्मरण से उसने समझ लिया कि यही ऊँट है। इस प्रकार के ज्ञान को वैधर्म्य उपमान ज्ञान या वैधर्म्यविशिष्ट पिण्डज्ञान कहते है।

जब किसी वस्तु की वस्तु–वाचकता का ज्ञान उस वस्तु की विचित्रता विलक्षणता विशेषता आदि के आधार पर हा ता उस **असाधारण धर्म उपमान** या **असाधारण धर्मविशिष्टपिण्डज्ञान** कहते है। जैसे किसी ने पूछा कि गैडा कैसा होता है? इस पर किसी ज्ञाता ने बताया कि जिसकी नासिका पर सींग हो तथा हाथी के आकार का हो वही गैंडा है। यहॉ नासिका पर सींग होना असाधारण धर्म उपमान है, क्योकि ऐसा गैड़ा को ही होता है अन्य किसी पशु को नही । अत यह असाधारण धर्मविशिष्टपिण्डज्ञान या आसाधरण उपमान है।

इस प्रकार ऊपर की पक्तियो मे हमने यह देखा कि सज्ञा–सज्ञि सम्बन्ध ज्ञान रूप उपमिति के प्रति सादृश्यादि धर्मविशिष्ट पिण्ड–ज्ञान करण होता है। किन्तु **आचार्य विश्वनाथ** का मत इससे भिन्न है। यहॉ पर उन्होने सादृश्य ज्ञान के स्थान पर **"सादृश्य दर्शन"** को उपमिति का करण माना है। उनके अनुसार **"सादृश्यदर्शन"** उपमिति का करण है **"अतिदेश वाक्यार्थ का स्मरण"** उसका अवान्तर व्यापार है और **"नील गाय पशु को नील गाय कहते हैं"**, यह ज्ञान उसका फल (उपमिति) है।[31] उनका कहना है कि–"पुरोदृश्यमान गौ सदृशविशिष्ट पिण्ड ही नीलगाय है। इस प्रकार के ज्ञान को उपमिति नहीं कहते हैं, अपितु नीलगाय का वाचक नीलगाय पद है इस प्रकार का ज्ञान उपमिति (फल) होता है। ऐसा मानने पर कालान्तर मे अन्य नीलगाय को देखकर यह नीलगाय है , इस प्रतीति को प्रत्यक्ष न मानकर सर्वत्र उपमिति ही माननी पडेगी। अत सर्वत्र नीलगाय के दर्शन होने पर अतिदेश वाक्यार्थ स्मरण और सादृश्य ज्ञान आदि नही हुआ करता है। नीलकाय का वाचक नीलगाय पद है इस ज्ञान को ही उपमिति मानना अधिक उपयुक्त है। यह नील गाय है – इस ज्ञान को उपमिति (उपमान प्रमाण का फल) मानना ठीक नही है। उपमान की प्रक्रिया के सम्बन्ध मे **मीमासको** और **अद्वैत वेदान्तियो** का दृष्टिकोण न्याय से कुछ भिन्न है। उन्होने सादृश्य ज्ञान के करण को उपमान प्रमाण मानते हुए 'गाय गवय के सदृश है"–इस ज्ञान को उपमिति कहा है।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि सादृश्य ज्ञान की करणता को न्याय के समान मीमासा एव वेदान्त मे भी स्वीकार किया गया है, किन्तु फल के बारे मे दोनो मे मतभेद है। जहॉ **नैयायिक सज्ञा–सज्ञि सम्बन्ध ज्ञान को फल मानते हैं, वहाँ मीमासक एव वेदान्ती "गाय गवय के सदृश है" इस ज्ञान को फल मानते है।** यहॉ सादृश्य के बारे मे **प्रभाकर** एव **कुमारिल** के माते के अन्तर का उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है। **दोनो मे प्रमुख अतर यह है कि कुमारिल सादृश्य को गुण मानते है जबकि प्रभाकर उसको एक पृथक पदार्थ मानते हैं।**

मीमासको और अद्वैत वेदान्तियो के अनुसार उपमिति–प्रक्रिया इस प्रकार है कि वन मे गये हुए पुरूष को **अतिदेश वाक्यार्थ** स्मरण के बिना भी गो सदृश पशु–पिण्ड का दर्शन होता है। उसके पश्चात "इस पशु के समान ही मेरी गौ है यह निश्चयात्मक ज्ञान उसे प्राप्त होता है। इन दोनो सादृश्य ज्ञानो मे अन्वय–व्यतिरेक के आधार पर गवय मे प्रतीत होने वाला गो सादृश्य ज्ञान (यह गवय गौ के समान है) गोनिष्ठ गवयसादृश्य ज्ञान (इसके समान मेरी गाय है) के प्रति करण है।

इस प्रकार हम देखते है कि जहॉ न्याय के अनुसार उपमान प्रमाण वस्तुबोधक न होकर शक्तिग्राहक है, गवय पद की एक विशिष्ट पशु मे शक्ति ग्रहण कराना ही उसका प्रयोजन है, वहॉ मीमासक एव अद्वैत वेदान्ती सम्बन्ध–ज्ञान को नही बल्कि सादृश्य ज्ञान को ही उपमान प्रमाण का फल अर्थात् उपमिति मानते हैं। उपमान प्रमाण और उपमितिरूप प्रमा दोनो ही उनके अनुसार सादृश्य ज्ञान हैं। फल और करण के मध्य मे व्यापार कल्पना को भी वे आवश्यक नहीं मानते। इस प्रकार दोनो दर्शनो मे सादृश्य–ज्ञान को उपमान प्रमाण मानने मे मतैक्य होते हुए भी उसके फल और व्यापार कल्पना के सम्बन्ध मे मतभेद दृष्टिगत होता है। **मीमासक और अद्वैत वेदान्ती सादृश्य पदार्थ के ग्रहण के लिए उपमान प्रमाण स्वीकार करते है, जबकि नैयायिक शक्तिग्रहण के लिए।**

उपमिति का करण

उपमिति एव उपमान के स्वरूप तथा उपमान की प्रक्रिया के उपर्युक्त विवेचन से यह भी स्पष्ट होता है कि उपमिति के करण के बारे मे भी उपमान समर्थक दर्शनो मे मतभेद पाया जाता है। इतना ही नही एक ही दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायो मे भी मतभेद देखने को मिलता है जिसका विवेचन अधोवत् रूप मे किया जा रहा है—

न्याय दर्शन मे उपमिति के करण एव उनकी सख्या को लेकर प्राच्य एव नव्य नैयायिको मे मतभेद है। **प्राच्य नैयायिक** गोसादृश्य विशिष्ट ज्ञान को उपमिति का करण मानते हैं एव सज्ञा–सज्ञि–सम्बन्ध–ज्ञान'' को उसका फल तथा अतिदेश वाक्यार्थ का स्मरण उसका व्यापार मानते है, जबकि **नव्य नैयायिको** ने साधर्म्य, वैधर्म्य एव असाधारण धर्म के आधार पर **उपमिति के तीन कारण** माने है। ये हैं– **1 सादृश्यविशिष्ट पिण्ड दर्शन, 2 वैधर्म्य विशिष्ट पिण्डदर्शन एव 3 असाधारण धर्म विशिष्ट पिण्ड दर्शन। आचार्य विश्वनाथ** के अनुसार सादृश्य ज्ञान के स्थान पर 'सादृश्य दर्शन" उपमिति का करण है और नीलगाय का वाचक 'नीलगाय" पद उसका फल है एव "अतिदेश वाक्यार्थ स्मरण" अवान्तर व्यापार है।

मीमासाको मे उपमिति के करणत्व को लेकर मतभेद है। **आचार्य शबर स्वामी** ने उपमान प्रमाण के लक्षण मे उपमान और उपमिति का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है, परन्तु उदाहरण

के माध्यम से उन्होने उपमिति एव उसके करणत्व का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन करने का थोडा प्रयास अवश्य किया है। उनके अनुसार गोसादृश्यविशिष्ट गवय का दर्शन उपमान प्रमाण अर्थात उपमिति का करण है और गो स्मरण उसका फल अर्थात उपमिति है। परन्तु **भाट्ट एव प्राभाकर मीमासक** आचार्य शबर के उपर्युक्त मत से पूर्णतया सहमत नहीं है। इनके अनुसार गोसादृश्य विशिष्ट गवय दर्शन उपमिति का करण है और गवयसादृश्यज्ञान' अर्थात अनेने सदृशी मदीया गौ उसका फल है। अद्वैत वेदान्त का मत इस सन्दर्भ मे कुमारिल भटट जैसा है।

सादृश्यानुमान एवं उपमान

अब तक के विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि उपमान प्रमाण द्वारा सादृश्य का ज्ञान होता है। **न्याय मीमासा** एव **अद्वैत वेदान्त** सभी मे यह माना गया है कि **उपमान सादृश्य ज्ञान का करण** है। लेकिन यहॉ प्रश्न यह उठता है कि सादृश्य क्या है? सादृश्यानुमान तथा उपमान मे कोई अतर है या नही? **न्याय मत** मे सादृश्य द्रव्यादि से भिन्न कुछ नही है। **कुमारिल भट्ट** ने सादृश्य को गुण माना है जबकि **प्रभाकर** इसे स्वतत्र पदार्थ के रूप मे स्वीकार करते है। जो भी हो इतना तो निश्चित है कि उपमान मे सादृश्य पाया जाता है। सादृश्यानुमान मे भी सादृश्य पाया जाता है। इसलिये कुछ लोग दोनो को एक मान लेते हैं। किन्तु ऐसा नहीं है। अगली पक्तियो मे इन दोनो का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है—

	सादृश्यानुमान		उपमान
1	सादृश्यानुमान मे समानता के आधार पर नयी समानता का अनुमान किया जाता है।	1	उपमान मे समानता के आधार पर अज्ञात वस्तु की वस्तु वाचकता का ज्ञान प्राप्त किया जाता है।
2	सादृश्यानुमान उपसहार से सिद्ध नहीं होता।	2	उपसहार से उपमान सिद्ध होता है।
3	इसका आधार सादृश्य या समानता मात्र है।	3	इसमे वस्तु वाचकता के लिये समानताओ के अतिरिक्त विषमता एव विलक्षणता का भी महत्व है।
4	इसमे वस्तु के किसी भाग या गुण का ही विशेष ज्ञान प्राप्त होता है।	4	इसमे वस्तु के सम्पूर्ण रूप का ज्ञान प्राप्त होता है ।
5	इसमे सभाव्यता का बोध होता है।	5	इसमे उपस्थिति होने से पूर्ण ज्ञान होता है।

इस प्रकार उपर्युक्त तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट है कि लक्ष्य अर्थ और क्षेत्र तीनो ही मे सादृशनुमान एव उपमान मे अन्तर होने के कारण दोनो को एक मानना भ्रमपूर्ण है।

न्याय मीमासा एव अद्वैत वेदान्त मे उपमान के विशिष्ट **प्रयोजन** प्रतिपादित किये गये हैं। **नैयायिको** का कथन है कि किसी आरण्यक से यह सुनकर कि 'गवय गोसादृश्य होता है , जब नागरिक आरण्य मे जाता है तो गवय के साथ उसका इन्द्रिय सन्निकर्ष होने पर यह पता चलता है कि यह गोसादृश्य है ऐसा स्मरण होता है और इसके पश्चात जो ज्ञान होता है कि यह गवय पशु गवय शब्द का वाच्यार्थ है यही उपमिति ज्ञान कहा जाता है। अत नैययिको के मत मे उपमान वस्तु बोधक न होकर शक्तिग्राहक है। गवय पद की एक विशिष्ट पशु मे शक्ति है, इस प्रकार का ज्ञान कराना ही उपमान का प्रयोजन है।

परन्तु **मीमासको ख अद्वैत वेदान्तियो** के मत मे उपमान का यह प्रयोजन नही है। इनके मत मे इस गपय जैसी ही मेरी गौ है, यह ज्ञान ही उपमान का फल या उपमिति है। अनुभव से भी ऐसा प्रतीत होता है कि इस पशु जैसी मेरी गाय है। अत 'गोसदृशोगवय इस अतिदेश वाक्य के स्मृतरूप व्यापार की कल्पना अनुभव के विरूद्ध है। लेकिन **नैयायिक** इस प्रकार के उपमिति ज्ञान को नही मानते कि यही व्यक्ति गवय पद का वाच्य है" बल्कि ये बताते है कि गवय गवय पद का वाच्य है" इस प्रकार के ज्ञान को उपमान का फल कहा जाता है। परन्तु यदि गो गवय गव आदि सभी सामने उपस्थित हो, तो प्रश्न उठता है कि वहाँ इनमे से गवय पद का वाच्य कौन सा है? इस विषय मे यदि यह कहा जाय कि गवय गवय पद का वाच्य है तो यह ठीक नही होगा। इसलिए **वेदान्तियो** ने कहा है कि यही कहना पडेगा कि "यह व्यक्ति गवय पद का वाच्य है" और ऐसा मानने पर उपमान को शक्तिग्राहक नहीं कहा जा सकता क्योकि उपमान एक ही गवय की शक्ति को दिखा सकेगा अन्य गवय की शक्ति को नहीं। इसलिए वेदोन्तियो के अनुसार अनुभव के अनुरूप ही उपमिति को स्वीकार करना चाहिए। अद्वैत वेदान्तियो का यह मत अधिक तर्कसगत प्रतीत होता है।

इस प्रकार हम देखते है कि उपमान प्रमाण के बारे मे अनेक विवाद देखने को मिलते हैं जिनका विवेचन करने का एक प्रयास इस अध्याय मे किया गया है। इनमे से सर्वप्रथम विवाद उपमान के **प्रामाण्य** को लेकर है। जहाँ **न्याय मीमासा** एव अद्वैत वेदान्त दर्शन उपमान को एक पृथक् प्रमाण की मान्यता देते हैं, वहाँ **बौद्ध जैन, वैशेषिक एव साख्य–योग** इसे स्वतत्रता प्रमाण के रूप मे नही मानते। **चार्वाक** प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य किसी प्रमाण को नहीं मानते, इसलिए उपमान के बारे मे वे विचार ही नही करते। बौद्ध आचार्य दिङ्नाग उपमान को प्रत्यक्ष से भिन्न नहीं मानते है। **जैन** उपमान का आन्तर्भाव प्रत्याभिज्ञा मे करते हैं। **वैशेषिक** उपमान को अनुमान के अर्न्तगत ही समाविष्ट मानते हैं। **नैयायिक भासर्वज्ञ इसे शब्द से भिन्न नहीं मानते**

है तथा **साख्य** के मतानुसार उपमान शब्द पूर्वक प्रत्यक्ष के अतिरिक्त और कुछ नही है। किन्तु नैयायिक मीमासक और अद्वैत वेदान्ती अपने–अपने ढग और अपने –अपने तर्कों से उपमान के प्रामाण्य का प्रतिपादन करते है और यह सिद्ध करते है कि उपमान का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष अनुमान या शब्द मे नही हो सकता है क्योकि उपमान एक एक स्वतन्त्र प्रमाण है । उपमानवादी इन दर्शनो का समर्थन करते हुए कहा जा सकता है कि निर्विवाद रूप से उपमान को एक प्रमाण माना चाहिए क्योकि इस प्रमाण से जो ज्ञान प्राप्त होता है उसे प्रत्यक्ष अनुमान या शब्द प्रमाण से प्राप्त नही किया जा सकता। इसका सम्यक विवेचन इस अध्याय के प्रारम्भ मे किया गया है। **न्यायसिद्धान्तमुक्तावली** मे बडे ही तर्कपूर्ण ढग से उपमान का प्रामाण्य प्रतिपादित किया गया है। वस्तुत उपमान को एक स्वतन्त्र प्रमाण मानना उचित ही है।

साधारणत उपमिति के करण को उपमान कहते है। उपमान शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ है– सादृश्य का ज्ञान जिस साधन से हो उसे उपमान प्रमाण कहते है। उपमान प्रमाण के स्वरूप के बारे मे इस सामान्य सहमति के बाद इसके समर्थक दर्शनो मे उपमिति प्रमा प्रक्रिया व इसके करण के बारे मे मतभेत है। यह मतभेद विशेषरूप से न्याय व अन्य उपमानवादी दर्शनो के बीच दिखाई देता है।

न्याय दर्शन के अनुसार सादृश्य ज्ञान कराने वाला प्रमाण उपमान है तथा सज्ञा–सज्ञि सम्बन्ध उपमान प्रमाण का क्षेत्र है। न्याय दार्शनिको के अनुसार सज्ञा–सज्ञि या नाम–नामी की प्रतीति उपमिति है। गोसदृश पशु विशेष गवय शब्द का वाच्य है– इस प्रकार की प्रतीति उपमिति है। **मीमासाक** व **वेदान्ती** सादृश्य ज्ञान के कारण को तो उपमान मानते हैं, लेकिन उपमिति को वे अन्य रूप मे परिभाषित करते है। उनके अनुसार 'गवय गाय के सदृश है" यह ज्ञान उपमिति नही है बल्कि गाय गवय के सदृश है" यह ज्ञान उपमिति है।

इससे स्पष्ट होता है कि सादृश्य ज्ञान की करणता को न्याय के समान मीमासा व अद्वैत वेदान्त मे भी माना गया है लेकिन जहॉ नैयायिक सज्ञा–सज्ञि सम्बन्ध ज्ञान को उपमिति या फल मानते है वहॉ मीमासा व अद्वैत वेदान्त के मतानुसार "गाय गवय के सदृश है" यह ज्ञान फल है या उपमिति है। मीमासको के अनुसार जैसा गौ तथा गवय (यथा गौस्तथागवय) इस अतिदेश वाक्य को सुनने के बाद कोई व्यक्ति वन मे जाकर जब गो के समान पिण्ड को देखता है तो उसे ज्ञान होता है कि मेरी गाय इस पशु (गवय) के सदृश है– यही उपमिति (उपमान का फल) है।

प्राच्य तथा नव्य नैयायिको के मतो मे उपमान प्रमाण को लेकर भिन्नता पायी जाती है। **प्राच्य नैयायिक** आप्त पुरूष के वचन (अतिदेश वाक्य) को ही उपमिति का करण मानते हैं जबकि **नव्य नैयायिक** अतिदेशवाक्य स्मृतिसापेक्ष सादृश्य के इन्द्रिय जन्य ज्ञान को ही उपमिति के करण के रूप मे स्वीकार करते है। किन्तु मीमासको ने न्याय दर्शन के दोनो सम्प्रदायो के

उपर्युक्त मतो का खण्डन किया है। **मीमासक कुमारिल** का कहना है कि प्राच्य नैयायिको का उपमान प्रमाण शब्द प्रमाण मे अन्तर्भूत किया जा सकता है क्योकि नैयायिक आप्त पुरूष के उपदेश को शब्द प्रमाण मानते है–"**आप्तोपदेश शब्द**"[32] तथा उनमान भी आरण्यक के यथागौर्गवयस्तथा" इस अतिदेश वाक्य के द्वारा होता है। अत प्राचीन न्याय सम्मत उपमान को आगम से भिन्न नहीं माना जा सकता है।

कुमारिल ने उपमान विषयक नव्य नैयायिको के मतो का खण्डन करते हुए कहा है कि नव्य न्याय का उपमान स्मृति सहित सादृश्य का प्रत्यक्ष ज्ञान है जिसमे गाय का तो प्रत्यक्ष होता है तथा गवय मे गोसादृश्य अतिदेशवाक्य द्वारा पूर्व कथित होने के कारण पूर्वानुभूत है अत वह स्मृति है।

लेकिन **नव्य नैयायिक** कुमारिल के इस आक्षेप को अस्वीकार करते है और प्रत्युत्तर मे कहते है कि गवय तथा सादृश्य का ज्ञान यद्यपि प्रत्यक्ष तथा स्मृति से होता है तथापि गो सादृश्यविशिष्ट गवय का ज्ञान न तो स्मृति से होता है और न प्रत्यक्ष से बल्कि उपमान नामक पृथक् प्रमाण से ही होता है।

लेकिन नव्य नैयायिको के इस मत के विरूद्ध **कुमारिल** का कहना है कि यदि ऐसा है तो इसे स्वीकार करने से पूर्व यह परीक्षा करनी चाहिए कि गोसादृश्ययुक्त अर्थ का ज्ञान अतिदेश वाक्य से अधिक होता है या उतना ही होता है जितना अतिदेश वाक्य मे कहा गया है। अर्थात् अतिदेशवाक्य अपेक्षा अगृहीतग्राहिता है अथवा नही। यदि नहीं है, तो यह सादृश्य ज्ञान स्मृति ही है। अत यह उपमान प्रमाण नहीं हो सकता।

प्रामाकर मीमासको ने भी नैयायिको के उपमान प्रमाण के लक्षण का खण्डन करते हुए कहा है कि नैयायिको का उपमान लक्षण[33] निर्दुष्ट लक्षण नहीं है[34] क्योकि "गोसदृशो गवय" इस प्रकार का जो प्रथम ज्ञान उत्पन्न होता है, वह तो केवल पुरूष वाक्य से जनित होने के कारण शाब्द बोधत्मक है और वन मे जाने पर गवय या गवयगत–गोसादृश्य का जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह प्रत्यभिज्ञा नामक प्रत्यक्ष है। गवय शब्द गवयगत वाच्यता का ज्ञान अनुमान प्रमाण है। वन मे गवय को देखकर जो ज्ञान होता है– "एवत्सैव मया सा सज्ञा अवगता" यह ज्ञान भी स्मरणात्मक है। अत नैयायिको के उपमान लक्षण को निर्दुष्ट नहीं कहा जा सकता है।

भाट्टमीमासको मे आचार्य शबर स्वमी ने उदाहरण के माध्यम से उपमिति एव उसने कारणत्व को परिभाषित करने का प्रयास किया है। उनके अनुसार गोसादृश्यविशिष्ट गवय का दर्शन उपमान प्रमाण अर्थात् उपमिति है।

परन्तु शबर स्वामी का उपर्युक्त मत तर्कसगत नही है। भाट्ट मीमासको के अनुसार उपमान प्रमाण फल का गो स्मरण नहीं है बल्कि गवय के सादृश्य का ज्ञान ही फल है। **कुमरिल** का कहना है कि स्मरण किया जाने वाला अर्थ गो इन्द्रियासन्निकृष्ट है, ऐसा मानने पर तो उपमान

और स्मरण मे कोई भेद ही नही रह जायेगा। शबर स्वामी के विरूद्ध **कुमरिल** के इस आक्षेप का समर्थन प्राभाकर मीमासक भी करते है। भाट्ट एव प्राभाकर मीमासको के अनुसार गोसादृश्यविशिष्ट गवय दर्शन उपमिति का करण है और गवयसादृश्यज्ञान अर्थात् अनेक सदृशी मदीया गौ (इसी के समान मेरी गाय है) उसका फल है। अन्तर केवल इतना है कि कुमरिल गो स्मरण के ज्ञान को उपमिति मानते है जबकि प्राभाकर ने पूर्व ज्ञात गाय के सादृश्य के ज्ञान को उपमिति कहा है।

अद्वैत वेदान्त के अनुसार सादृश्य प्रमा को उपमिति तथा उसके करण, असाधारण कारण को उपमान प्रमाण कहते है। नगर मे गाय को देखा व्यक्ति अरण्य मे जाकर गवय पशु को देखता है। तदनन्तर उसे यह प्राणी गाय जैसा है इस प्रकार गवय मे गाय का सादृश्य ज्ञान होता है। यही उपमान है। इसके अनन्तर ही मेरी गाय इस पशु जैसी ही है इस प्रकार होने वाली सादृश्य प्रमा को ही उपमिति कहते है अर्थात् उपमानरूप सादृश्यज्ञान और उपमितिरूप सादृश्य प्रमा के मध्य मे अन्य कोई व्यापार विद्यमान नहीं रहता। उसे व्यापार घटित मानने की यहॉ आवश्यकता भी नही है।

उल्लेखनीय है कि सादृश्य ज्ञान को **अद्वैत वेदान्त** मे प्रमाण और प्रमा भी कहा गया है। लेकिन दोनो के सादृश्यज्ञान–रूप होने पर भी उनमे भेद है। प्रमाणरूप सादृश्यज्ञान मे गवय को 'गो की उपमा दी गयी है। अर्थात् इस ज्ञान मे गो" उपमान और गवय" उपमेय है और प्रमारूप सादृश्यज्ञान मे गो को गवय" की उपमा दी गयी है। अर्थात् इस ज्ञान मे गवय" उपमान और 'गो" उपमेय है। यही दोनो मे भेद है। इनमे प्रथम सादृश्यज्ञान द्वितीय सादृश्यज्ञान का जनक (कारण) है और द्वितीय सादृश्य ज्ञान उसका फल (कार्य) है। इस प्रकार उनमे जन्य जनक भाव है। इस सादृश्य ज्ञान की उत्पत्ति इन्द्रियादिको से नहीं होती। अत उपमान एक पृथक् प्रमाण सिद्ध होता है।

अद्वैत वेदान्तियो के अनुसार न्याय का उपमान सम्बन्धी विचार अमान्य ठहराया जा सकता है। अद्वैत वेदान्तियो का कहना है कि यदि न्याय के उपमान विचार को स्वीकार कर लिया जाय तो हमारे लिए यह दिखाना आवश्यक हो जायेगा कि उपमान से हमे जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह ज्ञान प्राप्ति के अन्य मान्य साधनो जैसे– शब्द, अनुमान आदि से प्राप्त नही किया जा सकता है। लेकिन प्रश्न यह है कि नैयायिको के अनुसार सोचने से भी हमे किस प्रकार की सूचना प्राप्त होती है। क्या यह वह ज्ञान है जिसमे गवय शब्द उन विषयो के समूह को इगित करता है जो गाय के सदृश हैं? या क्या यह वह ज्ञान है जिससे पता चलता है कि गवय शब्द सामान्य गवयत्व को प्रदर्शित करता है? यदि प्रथम को मान लिया जाय तो हम यह पाते है कि यह सूचना हमे पहले से ही एक व्यक्ति के शब्द से प्राप्त है जो बताता है कि गवय किसके सदृश है? इस प्रकार न्याय के उपमान का अन्तर्भाव शब्द प्रमाण मे हो जाता है। यदि दूसरे को माना जाय, तो हम पाते हैं

कि यह ज्ञान इस प्रकार के अनुमान से निगमित किया जा सकता है कि गवय शब्द गवयत्व गुणार्थ को प्राप्त है क्योकि यह जार कपडा आदि की भॉति एक ऐसा शब्द है जो गुणार्थ रखते है। इस प्रकार न्याय के उपमान का अन्तर्भाव अनुमान प्रमाण मे भी किया जा सकता है। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि वह वस्तु जिसे नैयायिक उपमान प्रमाण के द्वारा प्राप्त करना चाहते है उसे हम सरलता से या तो अनुमान के द्वारा या शब्द प्रमाण से प्राप्त कर सकते है।[35]

इस प्रकर **वेदान्ती** अपने सिद्धान्तो के विरूद्ध उठायी गई अनेक आपत्तियो का निराकरण करते है और उसके समानान्तर ही **नैयायिको** द्वारा विकसित सिद्धान्तो का भी खण्डन कर देते है। उपमिति और उसके करण (उपमान) के बारे मे अद्वैत वेदान्त का मत अधिक तर्कसगत प्रतीत होता है।

इसी प्रकार उपमान की प्रक्रिया मे अवान्तर व्यापार के बारे मे भी मतभेद है। **मीमासा दर्शन** मे उपमान की प्रक्रिया मे अवान्तर व्यापार का कोई उल्लेख नही मिलता है। **अद्वैत वेदान्त** मे भी उपमानरूप सादृश्यज्ञान और उपमितिरूप सादृश्यप्रमा के बीच अन्य कोई व्यापार नहीं माना गया है। **नैयायिक** इसके विपरीत, अवान्तर व्यापार को मानते है। नैयायिको के अनुसार किसी आरण्यक व्यक्ति से गवय गो सदृश होता है" सुनकर अरण्य मे गये हुए शहरी व्यक्ति का "गवय" के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष होने पर 'यह गोसदृश है" ऐसा गोसादृश्य ज्ञान होता है । तदनन्तर आरण्यक व्यक्ति के बताये हुए गवय, गोसदृश होता है'' वाक्यार्थ का स्मरण होता है। इसके पश्चात् 'अय गवयपदवाच्य"=यह गवय पशु "गवय" शब्द का वाच्य अर्थ है– यह ज्ञान होना ही उपमिति है। इनके मत मे उपमान प्रमाण वस्तुबोधक न होकर शक्ति ग्राहक है। 'गवय" पद की एक विशिष्ट पशु मे शक्ति है, इस प्रकार का ज्ञान कराना ही उपमान का प्रयोजन है।

परन्तु **अद्वैत वेदान्तियो** के मत मे उपमान का यह प्रयोजन नहीं है। उनके मत मे अनने सदृशी मदीया गौ (इस गवय जैसी ही मेरी गौ है)– यह ज्ञान होना ही उपमान का फल (उपमिति) है। अनुभव भी इस पशु जैसी मेरी गाय है ऐसा ही होता है । अत 'गोसदृशो गवय" इस अतिदेशवाक्य के स्मृतिरूप व्यापार की कल्पना करने के पश्चात उससे "गवय, गवय शब्द का वाच्य है" ज्ञान की कल्पना करना यह सब अनुभव के विरूद्ध है।

नैयायिक यह व्यक्ति गवयपद का वाच्य है' इस प्रकार के उपमिति को ज्ञान नही मानते, किन्तु 'गवय, गवयपद का वाच्य है' इस प्रकार के ज्ञान को उपमान का फल (उपमिति) बताते हैं।

परन्तु जहॉं पर गो, गवय, गज, अज आदि सामने स्थित हो, तो वहॉं पर 'इनमे से गवय पद का वाच्य कौन सा है? इस प्रकार किसी के प्रश्न कर देने पर उसे "गवय, गवयपद का वाच्य है" यह उत्तर देना हास्यास्पद होगा। वहॉ तो "यह व्यक्ति गवय पद का वाच्य है" यही उत्तर देना चाहिए और ऐसा मानने पर उपमान को शक्तिग्राहक नही कहा जा सकता है क्योकि एक गवय की शक्ति को तो वह दिखा सकेगा, किन्तु अन्य गवय मे उस शक्ति का ज्ञान कराने मे

उसका उपयोग नही होगा । इसलिए अनुभव के अनुरूप ही उपमिति को स्वीकार करना चाहिए । इस प्रकार उपमान की प्रक्रिया व प्रयोजन के बीरे मे भी वेदान्त मत अधिक तर्क सगत है।

मानव जीवन मे उपमान प्रमाण की प्रासगिकता असदिग्ध है। व्यावहारिक जीवन मे या विलक्षणता के आधार पर किसी सज्ञा विशेष से किन–किन वस्तुओ का बोध हो सकता है इसका ज्ञान व्यावहारिक जीवन म उपयोगी है और यह ज्ञान उपमान प्रमाण से होता है। पारिभाषिक नामो की वस्तु–वाचकता का ज्ञान दिलाना तो इसका स्वाभाविक धर्म है। साहित्य मे सौन्दर्यबोध के लिए उपमान का ही आश्रय लिया जाता है। आयुर्वेद मे भी उपमान का महत्वपूर्ण स्थान है। **वात्स्यायन** ने स्वय इस बात का उल्लेख किया है कि पूर्वपरिचित वस्तुओ के सादृश्य के आधर पर अनेक अपरिचित औषधियो का ज्ञान होता है। जैसे मूँग के आकार मे दीखने वाला पौधा विष दूर करने की औषधि है ऐसा सुनने के बाद जब मनुष्य जगल मे जाकर मूँग के आकार वाला कोई पौधा देखता है तब उसे अतिदेश वाक्य का स्मरण होने पर यह निश्चय होता है कि मूँग के आकार वाला यह पौधा विष को दूर करने वाला है।

मीमासको द्वारा प्रतिपादित उपमान प्रमाण का भी अपना विशेष महत्व है। उनके अनुसार अरण्यगत नागरिक को ग्रामस्थ गाय मे गवय के सादृश्य का ज्ञान उपमान प्रमाण से ही हो सकता है अन्य किसी प्रमाण से नहीं ।

अद्वैत वेदान्त मे उपमान की उपयोगिता को प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि अद्वैत स्वरूप ब्रह्म के साक्षात्कार होने तक मुमुक्षु को चित्त शुद्धि के लिए वेदोक्त कर्म के अनुष्ठान की आवश्यकता होती है। कर्मानुष्ठान को याग सम्बन्धी प्रकृतिवद् विकृति कर्त्तव्या" प्रकृतिभूत दर्श–पौर्णमासादि के समान विकृतिभूत सौर्ययागादिको का अनुष्ठान करना चाहिए। इस प्रकृति–विकृतिभाव के ज्ञान की अपेक्षा होती है और वह ज्ञान सादृश्यमूलक होने से उपमान प्रमाण के अधीन है। अत इस ज्ञान को करा देना ही उपमान का उपयोग है। इस प्रकार मीमासको, वेदान्तियो और नैयायिको का यह कथन सत्य है कि उपमान की अपनी निजी उपयोगिता है क्योकि अन्य प्रमाण से उसका कार्य नही चलाया जा सकता है।

सदर्भ-ग्रथ-सूचिका

1 न्यायसूत्र 1 1 6 गौतम कलकत्ता सस्कृत ग्रन्थमाला ग्रन्थाक 18 कलकत्ता 1936।

2 वही 2 1 44

3 तर्कभाषा मिश्र केशव चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी 1953 पृ० 119।

4 तर्कभाषा मिश्र केशव चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी 1953 पृ० 106।

5 न्यायसूत्र, 1 1 7, गौतम कलकत्ता सस्कृत ग्रन्थमाला ग्रन्थाक 18, कलकत्ता 1936।

6 श्लोकवार्तिक उपमान 1–3 भट्ट कुमारिल मद्रास विश्वविद्यालय प्रकाशन मद्रास 1940।

7 न्यायसूत्र 1 1 6 गौतम कलकत्ता सस्कृत ग्रन्थमाला ग्रन्थाक 18 कलकत्ता 1936।

8 प्रकरणपचिका मिश्र प्रभाकर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय मुद्रणालय काशी 1961 पृ० 271।

9 शाबरभाष्य शबर स्वामी आनन्दाश्रम मुद्रणालय पूना 1929 पृ० 30।

10 वही पृ० 30।

11 श्लाकवार्तिक भट्ट कुमारिल उपमान–37 मद्रास विश्वविद्यालय प्रकाशन मद्रास 1940 पृ० 500।

12 शास्त्रदीपिका मिश्र पार्थसारथी चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी 1933 पृ० 140।

13 मानमेयोदय भट्ट नारायण थियोसाफिकल पब्लिशि हाउस अडयार मद्रास 1933 पृ० 110।

14 प्रकरणपचिका मिश्र शालिकनाथ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय मुद्रणालय काशी 1961 पृ० 267।

15 वृहती एव ऋजुविमला मिश्र प्रभाकर चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी 1929 पृ० 109।

16 न्याय चन्द्रिका, आननदपूर्ण, गवर्नमेण्ट ओरिएण्टल मैनुस्क्रिप्ट्स लाइब्रेरी मद्रास 1959 पृ० 279।

17 वही पृ० 279।

18 वेदान्तपरिभाषा धर्मराजाध्वरीन्द्र व्याख्या–मुसलगॉवकर श्रीगजानन शास्त्री चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी 1983 पृ० 179।

19 श्लोकवार्तिक भट्ट, कुमारिल मद्रास विश्वविद्यालय प्रकाशन, मद्रास, 1940 पृ० 540।

20 *Upmana in Indian Philosophy, Belvalkar, S K , Eastern Book Linkers, Jawahar Nagar, Delhi, 1980, P-99*

21 प्रमेयकमलमार्तण्ड प्रभाचन्द्र निर्णय सागर प्रेस बम्बई द्वितीय सस्करण 1941 पृ० 345।

22 वही पृष्ट० 345।

23 नयद्युमणि सम्पा० कृष्णयामुनाचार्य, गवर्नमेन्ट ओरिएटल मैनुस्क्रिप्टस लाइब्रेरी मद्रास, 1956 पृ० 215।

24 *The Nyay Theory of knowledge Chatterjee S C, Calcutta University Calcutta 1978 P-305*

25 वेदान्तपरिभाषा धर्मराजाध्वरीन्द्र व्याख्या मुसलगॉवकर श्री गजानन शास्त्री चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी 1983 पृ० 184।

26 वही पृ० 185।

27 वही।

28 वही पृ० 186।

29 न्यायसार पर न्याय भूषण सम्पा० शास्त्री पण्डितराज एस० सुब्रहमण्यम् गवर्नमेण्ट ओरिएटल मैनुस्क्रिप्टस लाइब्रेरी मद्रास 1961 पृ० 417।

30 न्यायमजरी 130 भट्ट जयन्त चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी 1936।

31 न्यायसिद्धान्तमुक्तावली विश्वनाथ, व्याख्या–शास्त्री गजानन चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी द्वितीय सस्करण 1984 पृ० 352।

32 न्यायसूत्र 117 गौतम कलकत्ता सस्कृत ग्रन्थमाला ग्रन्थाक 18 कलकत्ता 1936।

33 न्यायसूत्र 116 गौतम कलकत्ता सस्कृत ग्रन्थमाला ग्रन्थाक 18 कलकत्ता 1936।

34 प्रकरणपचिका मिश्र शालिकनाथ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय मुद्रणालय काशी 1961 पृ० 271।

35 *The six ways of knowing, Datta, D M Calcutta University Press Calcutta, Second Edition, PP- 149-150*

• •
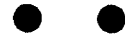
अध्याय पचम
शब्द प्रमाण

शब्द प्रमाण

सम्पूर्ण भारतीय दार्शनिक वाङमय मे चार्वाक, बौद्ध और वैशेषिक दर्शन के अतिरिक्त अन्य सभी दर्शनो मे शब्द का पृथक प्रामाण्य स्वीकार किया गया है। व्युत्पत्तिपरक दृष्टि से **शब्द** का अर्थ ध्वनि (शब्दयति) होता है। सामान्यत शब्द और पद को पर्यायवाची माना जाता है। अनेक दार्शनिको ने शब्द को अर्थ का अवबोधक माना **है–" शपत्यर्थम् आह्वयति प्रत्याययति शप्यते येन शपनमात्र वा शब्द ।** वैयाकरण आचार्यो ने सुप् तिङन्त विभक्ति युक्त शब्द को पद कहा है। **शब्द** भी ज्ञान के अन्य साधनो की भॉति ज्ञान प्राप्ति का एक यथार्थ और प्रामाणिक साधन है। प्रस्तुत अध्याय मे शब्द का यही पक्ष विवेचन का केन्द्र बिन्दु है। सामान्यत ऐसे पदो के समूह को वाक्य कहते है जो उच्चरित परस्पर साकाक्ष परस्पर–अन्वययोग्य अर्थों के प्रतिपादक तथा सन्निहित होते है। यथार्थ उपदेश करने वाले व्यक्ति के द्वारा प्रयुक्त होने पर ऐसे ही वाक्य शब्द प्रमाण कहे जाते है– **'आप्त वाक्य शब्द आप्तस्तु यथाभूतस्यार्थस्योपदेष्टा पुरुष । वाक्य त्वाकाक्षायोग्यतासन्निधिमता पदाना समूह ।'** [1] अन्य प्रमाणो के समान शब्द प्रमाण के लक्षण के बारे मे भी विभिन्न मत पाये जाते हैं।

शब्द का लक्षण

जैन दर्शन मे श्रुत ज्ञान या शाब्दज्ञान को आगम कहा गया है। **उमास्वामी** के अनुसार यथार्थ का अभिधान ही शब्द है – **यथार्थाभिधान शब्द ।** [2] **सिद्धसेन दिवाकर माणिक्यनन्दी, देवसूरि, चन्द्रप्रभा यशोविजय** आदि ने शब्द प्रमाण के लक्षण मे **आत्म'** शब्द का भी समावेश किया है।[3] जैनो के अनुसार आगम के दो रुप है– 1 आलौकिक अर्थात् तीर्थंकरो के कथन और 2 लौकिक अर्थात रागद्वेषरहित व्यक्तियो के वचन। जैनो के अनुसार अर्हत् (तीर्थंकरो) के कथन ही प्रमाण है।

न्याय दर्शन मे शब्द का विवेचन चतुर्थ प्रमाण के रुप मे किया गया है। **न्यायसूत्रकार** के अनुसार आप्तोपदेश ही ।शब्द है।इसका अर्थ यह है कि सभी व्यक्तियो के उपदेश शब्द प्रमाण नहीं माने जा सकते। केवल आप्त या यथार्थवादी व्यक्तियो के वचन ही शब्द प्रमाण माने जाते है। आप्त पुरुष वह है जो कर्त्तव्यनिष्ठ राग–द्वेष से परे तथा सज्जनो के द्वारा सम्मानित है। **वात्स्यायन** के अनुसार स्वय वस्तुओ का साक्षात्कार करने वाला पुरुष ही आप्त है–**"आप्त खलु साक्षात् कृतधर्मा।" अन्न भट्ट** ने "तर्क सग्रह" मे लिखा है– **"आप्तस्तु यथार्थ वक्ता।"** अर्थात् यथार्थ वक्ता ही आप्त पुरुष है। इस प्रकार प्राचीन नैयायिको ने आप्त के उपदेश को ही शब्द प्रमाण माना है।

शब्द प्रमाण के बारे मे **नव्य नैयायिको** का मत अपने पूर्ववर्ती आचार्यों से किंचित् भिन्न है। **गगेश उपाध्याय** तथा उनके अनुयायियो ने आप्तता के विचार को अस्वाभाविक मानकर छोड दिया है। इनके अनुसार वाक्यार्थ ज्ञान ही शब्द प्रमाण है। वाक्यार्थ ज्ञान का अर्थ है – वाक्य के अन्तर्गत पद समूह का स्मरणात्मक ज्ञान। **केशव मिश्र** तथा **अन्न भट्ट** जैसे परवर्ती न्यायाचार्यों ने भी शब्द प्रमाण की परम्परागत परिभाषा मे कुछ परिवर्तन करते हुए **उपदेश** के स्थान पर वाक्य का प्रयोग करके आप्तवाक्य को शब्द प्रमाण माना है।[4] नैयायिको के अनुसार शब्द प्रमाण होने के लिए वाक्य का अर्थपूर्ण एव विशेष ढग से क्रमबद्ध होना आवश्यक है। **प्राचीन नैयायिको** के अनुसार अर्थपूर्ण वाक्य के लिए आकाक्षा योग्यता एव सन्निधि की आवश्यकता होती है जबकि **नव्य नैयायिक** उसके लिए तात्पर्य ज्ञान को भी आवश्यक मानते है।

शब्द प्रमाण की परिभाषा के सन्दर्भ मे **साख्यो** व **नैयायिको** मे कोई महत्वपूर्ण अतर नही है। लेकिन दोनो दर्शनो मे **आप्त'** शब्द की व्याख्या को लेकर कुछ मतभेद है। **महर्षि कपिल** के अनुसार आप्तोपदेश शब्द है लेकिन आप्त का अर्थ है आप्ति से युक्त और आप्ति का अर्थ है– योग्यता। उपदेश का अर्थ है– यथाभूत पदार्थ का निर्दोष कथन। इस प्रकार सुदृढ प्रमाणो के द्वारा पदार्थ का अवधारण (निश्चयात्मक ज्ञान) करने वाला आप्त कहा जाता है और जब वह अपने अनुभव के अनुसार किसी पदार्थ के वास्तविक स्वरुप का वर्णन करता है, तो उस समय के उसके कथन को शब्द प्रमाण कहते हैं।

ईश्वरकृष्ण के अनुसार विश्वसनीय वचन ही आप्त वाक्य है – **'आप्तश्रुतिराप्तवचन तु।"**[5] इसकी व्याख्या करते हुए **वाचस्पति मिश्र** ने कहा कि **'आप्त'** शब्द का अर्थ है– प्राप्त या युक्त (यथार्थ)। इस प्रकार जो श्रुति आप्ता है ,वह आप्तश्रुति है। श्रुति का अर्थ है– वाक्य से उत्पन्न वाक्यार्थ ज्ञान। **जयमगलाकार** ने आप्त का लक्षण निर्धारित करते हुए लिखा है–

'स्वकर्मण्यभियुक्तो यो रागद्वेष विवर्जित।
निर्वैर पूजित सद्भिराप्तो ज्ञेय एतादृश।'

वाचस्पति मिश्र के अनुसार जिन वचनो की युक्तता प्रमाण सगत और वेद, स्मृति आदि के अनुरुप नहीं है, उनको कहने वाले (बौद्धभिक्षु आदि) आप्त नहीं माने जा सकते। सक्षेप मे, साख्याचार्यों के अनुसार आप्त व्यक्ति का उपदेश ही सन्दर्भगत विषय मे शब्द प्रमाण है।

योग दर्शन मे शब्द के लिए आगम शब्द का प्रयोग किया गया है। **"व्यासभाष्य"** (1 1 7) मे लिखित है कि अपने बोध का सम्प्रेषण करने के लिए तत्वज्ञानी अर्थात् यथार्थदृष्टा आप्त पुरुषो द्वारा शब्द के माध्यम से जो उपदेश किया जाता है, वह आगम प्रमाण है– **स्वबोधसक्रान्तये शब्देनोपदिश्यते शब्दात्तदर्थविषयावृत्ति श्रोतुरागम।"**

मीमासासूत्र के प्रणेता **महर्षि जैमिनि** ने प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य किसी प्रमाण का लक्षण निर्दृष्ट नहीं किया है। लेकिन परवर्ती आचार्यों ने अपने–अपने ढग से शब्द–प्रमाण का लक्षण दिया है।

भाष्यकार शबर स्वामी के अनुसार वर्ण ही शब्द है। उनके शब्द है–**'अथ गौरित्यत्र क शब्द? गकारौकार विसर्जनीया इति भगवानुपवर्ष।'**[6] अर्थात् अकारादि वर्ण ही शब्द हैं। भाष्यकार के अनुसार लोक मे वक्ता के कण्ठ–तालु आदि स्थानो से समुद्भूत नाद के द्वारा अभिव्यज्य तथा श्रोता के श्रोतेन्द्रिय से सुने जाने वाले तत्त्व को ही शब्द कहा जाता है। वर्णों के अतिरिक्त अन्य किसी तत्त्व को शब्द स्वीकार नहीं किया जा सकता। अर्थबोधकता से जनित सस्कारो से सवलित अन्तिम वर्ण ही प्रत्यायक (अर्थबोधक) होता है।[7] भाष्यकार ने वर्णसमूहात्मक आगम अथवा शास्त्र के प्रामाण्य का निरुपण किया है। उनके अनुसार शास्त्र वह प्रमाण है जिससे शब्द ज्ञान के बाद इन्द्रिय से असम्बद्ध पदार्थ (जैसे–धर्माधर्म) का विशेष ज्ञान होता है।[8] यहाँ पर भाष्यकार ने शास्त्र रुप शब्द प्रमाण विशेष का ही वर्णन किया है।

भाष्यकार शबर के ऊपर प्राय यह आक्षेप लगाया जाता है कि उन्होने शब्द–प्रमाण सामान्य का लक्षण न करके अपने मत को दोषयुक्त बना दिया है, क्योकि सामान्य को समझे बिना विशेष को नही समझा जा सकता।

'शाबरभाष्य मे शब्द प्रमाण की जिस चर्चा का आरम्भ हुआ, उसका विधिवत् विश्लेषण भाट्ट मीमासको के ग्रन्थो मे उपलब्ध होता है। **कुमारिल भट्ट** के अनुसार प्रकृत मे उपयोगी होने के कारण जिसे शास्त्र कहा जाता है वही शब्द प्रमाण है। भाष्यकार सम्मत **विज्ञात** शब्द की व्याख्या करते हुए कुमारिल भट्ट कहते है कि **'विज्ञात** शब्द के द्वारा पदार्थ का अभिधान करते हुए जो असन्निकृष्ट (इन्द्रिय से असम्बद्ध) वाक्यार्थविषयक ज्ञान होता है उसे शब्द प्रमाण कहते है– **'विज्ञाताच्छब्दात् पदार्थाभिधानद्वारेण यत् वाक्यार्थ विज्ञानम् तच्छब्द नाम प्रमाणम्।'**[9] लोक सिद्ध होने के कारण प्रत्यक्ष की तरह उसकी भी परीक्षा करने की आवश्यकता नही है। **नैयायिक** शब्दबोध के प्रति ज्ञायमान पद अथवा पद–ज्ञान को करण मानते हैं परन्तु **भाट्ट मीमासक** पदो के द्वारा पदार्थों का स्मरण होने पर जो वाक्यार्थ ज्ञान होता है, उसे ही शब्द प्रमाण कहते हैं। **नारायण भट्ट** ने भी इसी मत का समर्थन किया है।[10] **पार्थसारथि मिश्र** ने उपर्युक्त कथन मे यह भी जोडा कि इस प्रमाण के द्वारा जो ज्ञान हो, वह **'नवीन** होना चाहिए।

प्रभाकर मिश्र शब्द के स्वरुप के सदर्भ मे भाष्यकार शबर के मत का ही समर्थन करते है। उनके अनुसार शब्द उन अक्षरो से भिन्न नहीं है जिनसे यह बना है। अक्षरो का प्रत्यक्ष श्रवणेन्द्रिय द्वारा होता है और वह क्रम जिनसे यह प्रत्यक्ष होता है यह निर्णय करता है कि किन शब्दो का बोध हुआ? प्रत्येक अक्षर का प्रत्यक्ष ज्ञान प्रकट होते ही विलुप्त हो जाता है और पीछे एक सस्कार छोड जाता है। भिन्न–भिन्न अक्षरो द्वारा छोडे हुए सस्कार अतिम अक्षर के सस्कार

के साथ सयुक्त होकर पूर्ण शब्द के विचार को उत्पन्न करते है क्योकि शब्द की क्षमता अक्षरो की भिन्न–भिन्न क्षमताओ से उत्पन्न होती है। इसलिए अक्षरो की क्षमताओ को शाब्दिक बोध का सीधा कारण बताया गया है। शब्दार्थ का बोध इन्द्रिय के द्वारा प्राप्त नही होता। इन्द्रियॉ अक्षरो को प्रस्तुत करती है जिनमे अक्षरो से बने हुए शब्द द्वारा प्रकट की गई वस्तु का बोध कराने वाली शक्ति रहती है। इस प्रकार प्रभाकर के मत मे अक्षर शाब्दिक बोध के साधन हैं। शब्दो मे अर्थद्योतन की नैसर्गिक शक्ति रहती है जिसके द्वारा वे (शब्द) पदार्थों को प्रकट करते है।

प्राभाकर लौकिक या पौरुषेय शाब्दबोध को प्रमाणत्व प्रदान नहीं करते।[11] वे केवल वैदिक शबद को ही प्रमाण मानते है। उनका अभिमत है कि लौकिक या पौरुषेय शाब्दबोध का अन्तर्भाव अनुमान मे हो जाता है क्योकि पुरुष वचन केवल वक्ता पुरुष के अभिप्राय का अनुमान कराते है स्वय वाक्यार्थ का बोध नही कराते। पुरुष वचनो की बोधिकता शक्ति व्यभिचार शका से कुठित हो जाती है क्योकि अधिकतर पुरुष वचन असत्य होते है। अत अवैदिक वाक्यो मे प्रामाण्य को स्वीकार नही किया जा सकता।

किन्तु **भाट्ट मीमासक** लौकिक शब्द के प्रामाण्य के विषय मे प्राभाकर मत की आलोचना करते हैं। उनके अनुसार वक्ता के बुद्धि की सिद्धि अनुमान से किसी भी प्रकार से नही हो सकती। इसलिए असिद्ध वक्तृबुद्धि रुप हेतु से श्रोता मे शब्दार्थ विषयक अनुमिति नहीं की जा सकती। वक्तृबुद्धि और अर्थतत्त्व ये दोनो विशेष हैं। अत इनका ग्रहण अनुमान द्वारा सभव नहीं है। इसलिए पौरुषेय वाक्य (लौकिक शब्द) को अनुमान मे अन्तर्भूत नहीं किया जा सकता। वैदिक शब्द के समान ही लौकिक शब्द भी प्रमाण हैं।

अद्वैत वेदान्त मे शब्द प्रमाण का विवेचन उपमान प्रमाण के पश्चात् किया गया है। अद्वैत वेदान्तियो ने **'यस्य'** इत्यादि वाक्य से शब्द प्रमाण का लक्षण बताया है। उनके अनुसार जिसका पदार्थ ससर्ग, किसी भी अन्य प्रमाण से बाधित नहीं होता ऐसे और वक्ता के तात्पर्यविषयीभूत, ससर्ग के बोधक वाक्य को ही शब्द प्रमाण कहते हैं। वाक्यजन्य ज्ञान मे आकाक्षा, योग्यता आसत्ति और तात्पर्य ज्ञान– ये चार कारण होते है– **"यस्य वाक्यस्य तात्पर्यविषयीभूत ससर्गो मानान्तरेण न बाध्यते, तत् वाक्य प्रमाणम्। वाक्यजन्यज्ञाने च आकाड्क्षायोग्यताऽऽसत्तयस्तात्पर्यज्ञान चेति चत्वारि कारणानि।"**[12] शब्द के लक्षण मे अद्वैत वेदान्तानुसार **"वाक्यस्य"** की आवश्यकता इसलिए होती है कि शब्द–प्रमाण से जिस अर्थ का हमे ज्ञान होता है वही अर्थ अन्य प्रामाणो से भी सिद्ध होता है। इसलिए अन्य प्रमाणो को भी शब्द या आगम कहना पड़ेगा। इसके निवारणार्थ शब्द–लक्षण मे 'वाक्यस्य' का समावेश किया गया है। **अद्वैत वेदान्त** द्वारा निर्धारित शब्द प्रमाण का यह लक्षण अधिक तार्किक है।

शब्द का प्रामाण्य

नास्तिक दर्शनो मे **चार्वाक** और **बौद्ध** तथा आस्तिक दर्शनो मे **वैशेषिक** शब्द के स्वतन्त्र प्रामाण्य का निषेध करते हैं। **चार्वाक** शब्द को पृथक् प्रमाण नहीं मानते हैं। उनके अनुसार शब्द

किसी ऐसे अर्थ मे प्रमाण नही होता हे जो प्रत्यक्षसिद्ध न हो। इस कारण मूलभूत प्रमाण केवल प्रत्यक्ष है। चार्वाक शब्द को प्रत्यक्षगृहीत अर्थ का अनुवादक मात्र मानते है। इसलिए उनका पृथक प्रामाण्य असिद्ध है।

शब्द–प्रामाण्य के बारे मे चार्वाक मत निर्दोष नही है। **न्याय दार्शनिको** के अनुसार शब्द–बोध प्रत्यक्ष मूलक होने के कारण यथार्थ है। अपने प्रतिपक्षियो के मतो का खण्डन करने के लिए चार्वाक भी उनके शब्दो से ही उनके विचारो का ज्ञान प्राप्त करते हैं। इसलिए चार्वाक मत मे भी शब्द प्रमाण मान्य हो जाता है।

बौद्ध दार्शनिक शब्द प्रमाण का अन्तर्भाव अनुमान मे करते है। उनके अनुसार केवल दो ही प्रकार की वस्तुएँ है– विशेष और सामान्य। स्वलक्षण विशेष है। इसका ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से होता है। सामान्य बुद्धि द्वारा कल्पित है। अत उसका ज्ञान अनुमान से होता है। इन दोनो के अतिरिक्त कोई तीसरा प्रमेय नहीं है। इसलिए किसी तीसरे प्रमाण को मानने की आवश्यकता नहीं है। **दिङ्नाग** आदि बौद्ध दार्शनिको का कहना है कि सम्पूर्ण वचनो द्वारा वक्ता की विवक्षा का अनुमान होता है। इसलिए शब्द अनुमान से पृथक सिद्ध नहीं होता है।

बौद्धो की भॉति **वैशेषिक आचार्य** भी शब्द के पृथक प्रामाण्य का निषेध करते है। लेकिन दोनो मे प्रमुख अतर यह है कि बौद्ध शब्द का सम्बन्ध वक्तुरिच्छा रूप विविक्षा से मानकर उसे अनुमान से पृथक् मानते है जबकि वैशेषिक शब्द का साहचर्य सम्बन्ध स्वीकार करते हुए उसे अनुमान मे अर्न्तभूत कर देते हैं। वैशेषिको के अनुसार जिस प्रकार अनुमान मे ज्ञात लिग के आधार पर अज्ञात लिगी का ज्ञान प्राप्त होता है उसी प्रकार शब्द प्रमाण मे भी प्रत्यक्ष शब्द के माध्यम से अप्रत्यक्ष वस्तु का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। यहॉ शब्द लिग और वस्तु लिगी है। जिस प्रकार अनुमान मे लिग और लिगी के बीच व्याप्ति सम्बन्ध आवश्यक है उसी प्रकार शब्द प्रमाण के लिए वाचक और वस्तु के बीच व्याप्ति सम्बन्ध का होना आवश्यक है। इस प्रकार शब्द– ज्ञान और अनुमान– ज्ञान प्राप्त करने की विधि समान होने के कारण शब्द अनुमान मे अन्तर्भूत हो जाता है।

शब्द प्रामाण्यवादी सभी दार्शनिक शब्द प्रमाण का अनुमान मे अन्तर्भाव किये जाने का विरोध करते है। बौद्धो के विरुद्ध **कुमारिल भट्ट** का कहना है कि शब्द का अन्तर्भाव अनुमान मे करने पर लिग–दर्शन के अभाव मे स्वर्गादि अनेक अर्थों की सिद्धि नहीं हो सकेगी क्योकि इनकी सिद्धि मे कोई लिग द्रष्टव्य नहीं है। अत इनकी सिद्धि केवल शब्द प्रमाण से ही हो सकती है। **अद्वैत वेदान्तियो** का भी यही मत है।

कुमरिल बौद्ध का मत विरोध करते हुए यह भी कहते हैं कि शब्द का अनुमान मे अन्तर्भाव इसलिए भी नही किया जा सकता कि विषयभेद के आधार पर दोनो पृथक्–पृथक हैं। धर्म विशिष्ट धर्मी स्वरुप 'विशेष' ही अनुमान का विषय कहा गया है[13] जबकि शब्द प्रमाण का विषय सामान्य

होता है। पुनश्च अनुमान प्रमाण से विशेष्य का ज्ञान पहले होता है और विशेषण का बाद मे जबकि शब्द प्रमाण स्थल मे इसके विपरीत होता है। इस कारण भी दोनो की स्वतन्त्रता सिद्ध होती है।[14] तीसरी बात यह है कि पक्षता का अभाव होने से भी शब्द का अनुमान से अभेद नही हो सकता।

वैशेषिको के उपर्युक्त मत का खण्डन करते हुए **न्याय दार्शनिक** कहते है कि वैशेषिक मत व्याप्ति के गलत अर्थ पर आधारित है। अनुमान मे लिग और लिगी के बीच स्थित व्याप्ति सम्बन्ध वास्तविक या स्वाभाविक सहचार का सम्बन्ध है। जैसे, धूम एव वह्नि का सम्बन्ध। किन्तु शब्द ज्ञान मे शब्द (वाचक) अर्थ (वाच्य)के मध्य स्वाभाविक सहयोग का सम्बन्ध नहीं पाया जाता। जहॉ–जहॉ शब्द रहते है, वहॉ इनसे सूचित पदार्थों का रहना आवश्यक नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि शब्द और इससे सूचित अर्थ के बीच स्वाभाविक सहचार का सम्बन्ध नहीं रहता। इसलिए शब्द ज्ञान मे व्याप्ति का अभाव रहता है जबकि अनुमिति के लिए व्याप्ति का होना आवश्यक है। **जैनाचार्य यशोविजय** का भी कहना है कि आगम व्याप्ति–निरपेक्ष होने के कारण अनुमान मे अन्तर्भूत नही होता– **"न च व्याप्ति ग्रहणवलेनार्थप्रतिपादकत्वात् धूमवदस्य अनुमानेऽन्तर्भाव।"**[15] साख्य दर्शन के प्रख्यात ग्रन्थ **"साख्यतत्वकौमुदी", एव "माठरवृत्ति"** मे भी इसी मत का समर्थन किया गया है। माठर का कथन है – **"आगमो हि आप्तवचनम् आप्त दोषक्षयाद् विदु। क्षीणदोषोऽनृत वाक्य न ब्रूयात हेत्वसभवात्।"**

धर्मराजाध्वरीन्द्र का कहना है कि शब्द प्रमाण का पूर्ण ज्ञान आकाक्षा, योग्यता, आसत्ति और तात्पर्यज्ञान की सहायता से होता है[16] और वहॉ अनुमान का अनुभव हमे नहीं होता। इससे भी अनुमान प्रामाण से पृथक शब्द प्रमाण का अस्तित्त्व सिद्ध होता है।

शब्दार्थ विचार

शब्द प्रमाण के विवेचन के सन्दर्भ मे एक प्रमुख प्रश्न यह उठता है कि शब्द का अर्थ क्या है? शब्दार्थ विचारणा मे शब्द प्रमाणवादी दार्शनिको ने विभिन्न सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया है। ये है– 1 व्यक्तिवाद, 2 आकृतिवाद, 3 अपोहवाद, 4 स्फोटवाद 5 जात्याकृतिव्यक्तिवाद (जातविशिष्ट व्यक्तिवाद) 6 जातिवाद।

साख्य दार्शनिको के अनुसार **विशिष्ट व्यक्ति** ही शब्द है। जब कोई व्यक्ति कहता है कि गाय लाओ तो इससे 'गाय' व्यक्ति का ही बोध होता है। 'गाय' शब्द से जाति को अभिप्रेत मानने पर भी जाति के अन्तर्गत व्यक्ति की ही सत्ता को मानना पड़ेगा, अन्यथा व्यक्ति का बोध असभव हो जायेगा। लिग, वचन और कारकादि व्यक्ति की ही विशेषता बताते हैं। पुनश्च, सूर्य, चन्द्रादि बहुत से ऐसे पदार्थ भी हैं जिनकी जाति नहीं होती है। इससे सिद्ध होता है कि व्यक्ति ही शब्द का सकेतित अर्थ है।

साख्यो का उपर्युक्त मत अस्वीकार्य है क्योकि व्यक्ति अनन्त है। अत व्यक्ति का शब्द का अर्थ मानने पर अनन्त व्यक्तियो के ज्ञान के लिए अनन्त शब्दो की कल्पना करनी पडेगी जो महान गौरव होगा। आनन्त्य दोष का वारण करने केलिए यदि किसी एक व्यक्ति मे शब्द की शक्ति को माना जाय तो अन्य व्यक्ति का ज्ञान असभव हो जायेगा। ऐसी स्थिति मे व्यभिचार दोष होगा। अत व्यक्ति को शब्द का अर्थ नहीं माना जा सकता है।[17]

जैन दार्शनिको के अनुसार शब्द का सकेतित अर्थ व्यक्ति या अन्य कुछ न होकर केवल **आकृति** है। जब हम गौ शब्द को सुनते है तो हमे किसी विशेष गाय का ज्ञान न होकर गाय की आकृति का ही ज्ञान होता है। इससे स्पष्ट होता है कि शब्द का सकेतित अर्थ आकृति है।

व्यक्तिवाद की भॉति आकृतिवाद भी दोषपूर्ण है। इसके विरुद्ध मुख्य आपत्ति यह है कि वस्तुओ की आकृति देश कालानुसार बदलती रहती है। आकार एक सा होने पर भी कई बार पदार्थ एक जैसा नहीं हाता। कई बार इसकी विरोधी स्थिति भी दिखाई देती है। पुनश्च आकृति को स्थानान्तरित नही किया जा सकता। अत आकृति को शब्द का अर्थ नहीं माना जा सकता है।

बौद्ध दार्शनिको के अनुसार शब्द का अर्थ **अपोहात्मक** है। अपोह का तात्पर्य है–'अतद्व्यावृत्ति" अर्थात् तद्भिन्नभेद। अपोह से अन्य की व्यावृत्ति करके ही अर्थज्ञान होता है। जैसे 'गाय शब्द से गाय पशु का ज्ञान अगो (जो गाय नहीं है जैसे अश्वादि) के निषेध से होता है। अत बौद्धो के मत मे शब्द का अर्थ निषेधात्मक है। शब्द वस्तु की सत्ता का नहीं प्रत्युत् तद्भिन्न से उसकी व्यावृत्ति का ज्ञान कराते हैं। बौद्धो का यही सिद्धान्त अपोहवाद कहा जाता है।

बौद्धेतर सभी दार्शनिको ने बौद्ध अपोहवाद का खण्डन किया है। **कुमारिल भट्ट** का प्रश्न है कि अपोह एक है या अनेक? यदि अनन्त गौओ के ज्ञान के लिए एक ही अपोह माना जाय तो यह मान्यता जाति से भिन्न न होकर जाति सदृश ही हो जायेगी और यदि अनेक अपोह माने जॉय, तो अनन्त पिण्डो मे अनन्त अपोह मानना पडेगा और ऐसा मानने पर आनन्त्य दोष की उत्पत्ति होगी। **नैयायिको** का कहना है कि मुख्य (तद्) को समझे बिना तदितर (अतद्) का प्रतिषेध भी नही किया जा सकता। गौ को समझे बिना अगौ' का ज्ञान नहीं हो सकता।

अपोहवाद को मानने पर एक कठिनाई सामने यह आती है कि अपोह का विषय गौ' है या ' 'अगौ'? यदि गौ' है तो 'गौ' का अर्थ गो भिन्न' नहीं समझा जा सकता और यदि अगौ' है, तो उसका अर्थ गाय' कैसे माना जा सकता है? एक बार जब 'गौ' शब्द अन्य की व्यावृत्ति मे चरितार्थ हो गया तो फिर उससे गाय का ग्रहण नहीं हो सकता है।

पुनश्च बहुत सारे शब्द ऐसे है जिनका अर्थ अपोह के द्वारा व्यक्त नहीं हो सकता। जैसे सर्व। इन्ही कठिनाइयो के कारण बौद्धेतर दार्शनिको ने अपोहवाद को अस्वीकार कर दिया।

सामान्यत वर्णों के समुदाय को शब्द कहते है किन्तु **वैयाकरणो** के अनुसार जिन वर्णों को हम अपने कानो से सुनते हैं वे वर्ण न होकर ध्वनि मात्र हैं। वर्ण तो क्रमोत्पन्न और क्षणिक होते हैं। अत उनका समुदाय एक स्थान और एक काल मे समान नहीं हो सकता। इसलिए वर्णों

के समुदाय को शब्द नही माना जा सकता। वस्तुत शब्द वह है जो वर्णो के माध्यम से अभिव्यक्त होता है। यह **स्फोट रूप** है। स्फोट ही अर्थ निरूपित शक्ति का आश्रय है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से स्फोट का अर्थ है–**"स्फुट्यते अभिव्यज्यते वर्णैरिति स्फोट ।"** अर्थात् जो वर्णों से अभिव्यज्य होकर अर्थ प्रतीति का जनक होता है वह स्फोट कहलाता है। उक्त च–**"वर्णाभिव्यज्यत्वे सति अर्थ प्रतीतिजनकत्व स्फोटत्वम्।"** शब्द के अवयवीभूत वर्ण स्फोट शब्द को अभिव्यक्त करते है और उसी से अर्थ की प्रतीति होती है। इसी प्रकार वाक्यार्थ बोध के लिए वाक्यस्फोट को माना गया है। भत्तृहरि के अनुसार शब्द मे दो तत्त्व है– **ध्वनि** और **स्फोट**। ध्वनि शब्द का निमित्त कारण है और स्फोट अर्थ का–

द्वावुपादानशब्देषु शब्दौ शब्दविदो विदु ।
एको निमित्त शब्दानामपरोऽर्थे प्रयुज्यते।[18]

योग दर्शन के अतिरिक्त अन्य किसी भी दर्शन मे स्फोट का समर्थन नहीं किया गया है। इस सिद्धान्त के सर्वाधिक आलोचक न्याय-वैशेषिक दार्शनिक रहे हैं। **नैयायिको** के अनुसार सभी वर्णो का एक ज्ञान उत्पन्न होता है और वही स्फोट का पूर्ण अभिव्यजक है। अत जब अनेक वर्णो का एक ज्ञान हो सकता है, तो उसी से अर्थ का ज्ञान भी हो सकता है। इसलिए स्फोट की कल्पना निरर्थक है।[19] **जयन्त भट्ट** का कहना है कि स्फोट न तो प्रत्यक्षगम्य है और न अनुमानगम्य ही। अत यह अमान्य है।[20]

साख्य दार्शनिको का कहना है कि यदि आनुपूर्वीविशिष्ट वर्णसमुदाय से ही अखण्ड स्फोट की अभिव्यक्ति होती है तो फिर वर्णसमुदाय से ही अर्थबोध हो जाना चाहिए व्यर्थ मे ही स्फोट की कल्पना क्यो की जाय? **जैन दार्शनिको** का भी कहना है कि पूर्व वर्णो के नाश से विशिष्ट अतिम वर्ण से ही अर्थ का बोध हो जाता है। अत स्फोट की कल्पना अनावश्यक है। "स्यादवाद रत्नाकर" मे **वादिदेवसूरि** ने स्फोटवाद की विस्तृत आलोचना की है।

भाट्ट मीमासको ने भी वर्णों मे ही वाचकता को स्वीकार करके स्फोटवाद का खण्डन किया है। इनका मत है कि जैसे एकत्रित पदो मे वाक्यार्थ रहता है, ठीक उसी प्रकार एकत्रित वर्णों मे पदार्थ रहता है। अतएव शब्दो मे वर्णो को और वाक्य मे पदो को सार्थक मानना चाहिए। **शकराचार्य** भी स्फोट को आवश्यक नही मानते हैं। उनका कहना हैं कि **"शब्द के अवयवभूत वर्ण ही निश्चित अर्थ के साथ सम्बद्ध होते है और वर्णों की सहति का उस निश्चित अर्थ के साथ सम्बन्ध नित्य होता है।"** इससे स्पष्ट होता है कि स्फोटवाद भी तर्कसगत सिद्धान्त नही है।

न्याय दार्शनिको के अनुसार व्यक्ति आकृति और जाति तीनो शब्दार्थ है। इसे **जात्याकृतिव्यक्तिवाद** कहते हैं। शब्द का उच्चारण करने पर श्रोता को तीनो अर्थों मे शब्द की

शक्ति का पता चलता है। जैसे गो शब्द का उच्चारण होने पर श्रोता को एक गाय (व्यक्ति) एक विशेष आकार (गवाकृति) और एक जाति (गोत्व) का बोध होता है। लेकिन आकृति के अर्थ को लेकर प्राचीन न्याय और नव्य न्याय मे कुछ मतभेद है। **प्राचीन न्याय** के अनुसार **आकृति** शब्द का अर्थ आकार-अवयव सस्थान है परन्तु **नव्य न्याय** के अनुसार आकृति शब्द से जाति और व्यक्ति के सम्बन्ध का ग्रहण होता है। इस प्रकार जहॉ प्राचीन नैयायिक यह मानते है कि जाति आकार और व्यक्ति शब्दार्थ है वहॉ नव्य नैयायिको का मत है कि जाति व्यक्ति और उन दोनो का समवाय सम्बन्ध शब्दार्थ है।

न्याय दार्शनिको के अनुसार उपर्युक्त तीनो मे से प्रसगानुसार एक प्रधान हो जाता है और शेष दो गौण हो जाते है।[21] जहॉ क्रिया अथवा भेद की विवक्षा होती है वहॉ शब्द का प्रधान अर्थ व्यक्ति होता है और आकृति एव जाति गौण हो जाते हैं।[22] किन्तु जहॉ पर भिन्न रूप मे विवक्षा न होकर सामान्य की विवक्षा हो वहॉ शब्द का अर्थ जाति होगा। इसी प्रकार, जहॉ आकृति की प्रधानता जान पडती हो वहॉ शब्द का अर्थ आकृति होगा। जाति और व्यक्ति मे प्रधानता और अप्रधानता का निर्णय वक्ता की इच्छा पर निर्भर होता है।

नव्य नैयायिको मे मुख्य रूप से **जगदीश** का मत है कि शब्द का अर्थ **जातिविशिष्ट व्यक्ति** है। इनके अनुसार शब्द का सकेत न केवल व्यक्तिविशेष मे है और न केवल सामान्य (जाति) मे है, बल्कि शब्द का अर्थ जाति से विशिष्ट व्यक्ति है। अर्थात् जाति से ही व्यक्ति विशेष का अर्थ ज्ञात हो जाता है। इस सिद्धान्त के आधार पर नव्य नैयायिको ने व्यक्ति को ही शब्दार्थ मानने वालो का खण्डन आनन्त्य दोष के आधार पर कर दिया।

मीमासको और **अद्वैत वेदान्तियो** के अनुसार **नैयायिको** का यह मत गौरवग्रस्त होने से उपेक्षणीय है कि शब्द का अर्थ जातिविशिष्ट व्यक्ति है क्योकि सिद्धान्त है कि **"विशिष्ट बुद्धौ विशेषण ज्ञान कारण"** ऐसी परिस्थिति मे नैयायिको की दृष्टि से व्यक्ति का विशेषण जाति है। अत सर्वप्रथम जाति का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक होगा। प्रश्न उठता है कि यह किस शब्द से होगा? वह जिस शब्द से होगा वह विशेषण कहने मे उपेक्षणीय हो जायेगा, क्योकि सिद्धान्त है कि **"विशेष्य नामिधा गच्छेत् क्षीणशक्ति विशेषणे।"** अभिधा शक्ति की शक्ति विशेषण को कहने मे क्षीण हो जाती है, वह विशेष्य तक पहुँच नहीं सकती। इसलिए 'गो' शब्द गोत्व के प्रतिपादन मे उपक्षीण होकर 'गो व्यक्ति के कहने मे सर्वथा असमर्थ होगी। यदि यह आग्रह हो कि उसी से विशेष्य का काम चल जायेगा, तो यह भी सिद्धान्त के विरूद्ध होगा, क्योकि यह सिद्धान्त है कि "शब्दबुद्धिकर्मणा विरम्य व्यापाराभावात्।" अत उस विशेष्य ज्ञान के लिए अन्य शक्ति की कल्पना करनी पडेगी जो गौरव पराहत होगा। इसलिए जाति विशिष्ट व्यक्ति शब्द का अर्थ नही है।

शब्दार्थ के बारे मे उपर्युक्त सभी मतो का प्रत्याख्यान करके **मीमासा** एव **अद्वैत वेदान्त** के आचार्यो ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि जाति ही शब्द का अर्थ है। यही **जातिवाद** है। इसके अनुसार शब्द की शक्ति केवल जाति मे है। **कुमारिल भट्ट** का स्पष्ट कथन है कि शब्द का सकेतित अर्थ जाति है। जैसे जब कोई व्यक्ति एक बार **'गो'** शब्द का अर्थ जान लेता है तो पुन वैसे ही पशु को देखकर समझ जाता है कि वह गाय है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि **'गो** शब्द की शक्ति गोत्व जाति मे है।

उपर्युक्त मत के विरूद्ध सर्वप्रथम आक्षेप यह लगाया जाता है कि लिग, वचन आदि की सगति व्यक्ति के साथ बैठती है। क्रिया का स्वाभाविक सम्बन्ध भी द्रव्य (व्यक्ति) के साथ रहता है। इसलिए शब्द का अर्थ जाति नही हो सकता।

व्यक्ति से भिन्न जाति की प्रमाण सत्ता के विरूद्ध बौद्धो का आक्षेप है कि गो शब्द का अर्थ गोत्व नहीं हो सकता क्योकि वह गो' व्यक्ति से भिन्न है इसमे कोई प्रमाण नहीं है। अत जातिवाद का सिद्धान्त अमान्य है।

नैयायिको का कहना है कि प्रत्यक्ष परिच्छेद मे **"जातित्वोपाधित्वपरिभाषाया· सकलप्रमाणागोचरतया "** आदि कहकर वेदान्त मत मे जाति और उपाधि का खण्डन किया गया है और यहॉ पदो की शक्ति **'सकलप्रामाणागोचर'** ऐसी जाति मे है– ऐसा कहा जा रहा है। यह कैसे सभव है? वेदान्तियो के मत मे यदि जाति पदार्थ ही नहीं है, तो वे उसमे शक्ति कैसे मान सकेगे?

मीमासको और **अद्वैत वेदान्तियो** के अनुसार जातिवाद के विरूद्ध उपर्युक्त आक्षेप ठीक नही है। व्यक्ति अनन्त है। अत व्यक्ति को शब्द का अर्थ मान लेने पर अनन्त शब्दो की कल्पना करनी पडेगी। इसमे गौरव है। अत लाघव के लिए जाति मे ही शक्ति स्वीकार करना उचित है। जाति व्यक्ति के बिना नही रह सकती इसलिए वाक्यार्थ बोध के लिए व्यक्ति का आक्षेप कर लिया जाता है –

"जातिमेवाकृति प्राहुर्व्यक्तिसक्रियते यथा।
सामान्य तच्च पिण्डानामेकबुद्धिनिबन्धनामिति।।"[23]

जाति एक और नित्य है। अत इसके मानने पर अनेक जातियो की कल्पना भी नहीं करनी पड़ेगी। अद्वैत वेदान्तियो का भी यही मत है –

"तच्च जातेरेव न व्यक्ते, व्यक्तीनामानन्त्येन गुरूत्वात्।
कथ तर्हि गवादि–पदाद् व्यक्तिमानमिति चेत्,
जातेर्व्यक्तिसमान – सवित्सवेद्य त्वादिति ब्रूम ।।[24]

जाति मे जाति की कल्पना करके जातिवाद की आलोचना करना भी उचित नहीं है, क्योकि सामान्य अथवा जाति की जाति मानना अनौचित्यपूर्ण है।

जाति के विरूद्ध बोद्धो का आक्षप भी ठीक नही है। **शबर स्वामी** ने बौद्ध मत का दृढता से खण्डन करते हुए कहा है कि जाति मे प्रत्यक्ष ही प्रमाण है। इसलिए प्रत्यक्ष सिद्ध जाति ही शब्द का अर्थ है और इसीलिए **श्येनचिति चिन्वीत** इस वैदिक वाक्य की सगति हो सकती है अन्यथा व्यक्ति को शब्दार्थ मानने पर व्यक्ति के नष्ट हो जाने पर चयन क्रिया सर्वथा असभव हो जायेगी। इसलिए जाति या आकृति ही शब्द का अर्थ है जैसा कि **मीमासासूत्रकार** ने कहा है– **"आकृतिस्तु कियार्थत्वात्।"**[25] **अद्वैत वेदान्त** मे भी इसी मत का समर्थन किया गया है।

जाति के सन्दर्भ मे नैयायिको का आक्षेप भी ठीक नहीं है क्योकि वेदान्तियो ने जाति का खण्डन न करके नैयायिको की इस परिभाषा का ही खण्डन किया है कि **"जाति अतिरिक्त पदार्थ है"** और इस मत को सुस्थापित किया है कि **"जाति स्वतन्त्र पदार्थ नही है।"** अत यहॉ शब्द को घटात्वादि आकृतियो का ही वाचक समझना चाहिए। **शकराचार्य** ने भी शारीरकभाष्य" (अ0 1 3 27) मे **"आकृतिभिश्च शब्दाना सम्बन्धो न व्यक्तिभि"** इत्यादि कहकर जाति शब्द के स्थान पर **आकृति** शब्द की ही योजना की है। अत नैयायिक जिस अनुगत धर्म को जाति कहते है वह जाति शब्द अनुगत धर्मरूप अर्थ मे ही यहॉ प्रयुक्त है। अत जाति को शब्द का अर्थ मानने मे कोई विरोध नही है।

यहॉ एक प्रश्न यह उठता है कि यदि हम यह मान ले कि शब्द का अर्थ जाति है और शक्ति जाति मे है तो फिर व्यक्ति का बोध कैसे होता है? इसके उत्तर मे **आचार्य कुमारिल भट्ट** का कहना है कि शब्द से केवल जाति का बोध होता है और जाति के द्वारा व्यक्ति का बोध अनुमान (आक्षेप) की पद्धति से अविनाभाव सम्बन्ध के कारण हो जाता है। **प्रभाकर मिश्र** का कहना है कि शब्द की शक्ति तो जाति मे है, परन्तु शब्द सुनने के बाद **'तुल्यवितिवेद्यता'** के आधार पर जातिबोधक सामग्री से ही व्यक्तिबोध भी हो जाता है। **मण्डन मिश्र** के अनुसार शब्द शक्ति से जाति का बोध होता है और व्यक्ति का बोध लक्षणा से होता है। **आचार्य श्रीकर** के अनुसार शब्द शक्ति से जाति का बोध होता है, परन्तु व्यक्ति का बोध अर्थापत्ति से होता है। **वेदान्तपरिभाषाकार** प्राभाकर मत एव आचार्य श्रीकर के मतो मे विद्यमान दोषो को वेदान्तपरिभाषा[26] मे उल्लिखित करके यह सिद्ध करते हैं कि लक्षण से ही व्यक्ति का बोध होता है।[27] उनके मत को मान लेने से पाभाकर मिश्र व आचार्य श्रीकर के सिद्धान्तो मे विद्यमान दोषो का सहजरूपेण वारण हो जाता है। अत अद्वैत वेदान्त का मत निर्दोष होने से स्वीकार्य है।

शब्दार्थ का यह विवेचन अभिधा (शक्ति) की दृष्टि से ही किया गया है। अभिधा शब्द की मुख्य वृत्ति है। सामान्य परिस्थिति मे शक्ति या अभिधा से ही अर्थबोध होता है, परन्तु विशेष परिस्थिति मे **लक्षणा** एव **व्यजना** से भी अर्थबोध होता है। अभिधा के अतिरिक्त शेष दोनो का विवेचन यहॉं प्रासगिक नहीं है। इसलिए उनका विवेचन नहीं किया जा रहा है।

न्याय दार्शनिको के अनुसार शब्द और अर्थ के बीच सामयिक (साकेतिक) सम्बन्ध है[32] और यह सम्बन्ध अनित्य हे। इस शब्द से इस अर्थ को समझना अथवा अमुक शब्द अमुक अर्थ का बोधन करे – इस प्रकार की इच्छा इस नियम पर आधारित सम्बन्ध को सामयिक सम्बन्ध कहा जाता है। सामयिक सम्बन्ध के ज्ञान से शब्द श्रवण करने के उपरान्त अर्थ बोध होता है और जिस व्यक्ति को सकेत का ज्ञान नही है उसे शब्द श्रवण होने पर भी अर्थ का बोध नहीं होता। यह सकेत ज्ञान अलौकिक पुरूषो (देवताओ व महर्षियो) को अपरोक्षानुभति से तथा लौकिक पुरूषो को व्याकरणशास्त्र या वृद्धव्यवहार द्वारा होता है। अत स्पष्ट है कि शब्द और अर्थ मे स्वाभाविक सम्बन्ध नही है अपितु इच्छा–प्रसूत होने के कारण देशकालानुसार सामयिक और अनित्य सम्बन्ध है। इस मत का समर्थन **वाचस्पति मिश्र**[33] **जयन्त भट्ट विश्वनाथ पचानन**[34] **गगेश उपाध्याय**[35] आदि न्यायाचार्यो ने भी किया है।

वैशेषिक दर्शन मे शब्द के पृथक प्रमाणत्व का निषेध करके शब्द का अन्तर्भाव अनुमान प्रमाण मे किया गय। है। वैशेषिको के अनुसार शब्द से अर्थ का अनुमान होता है। इसलिए शब्द और अर्थ मे अनुमान की भॉति व्याप्ति सम्बन्ध नही है।[36] इसलिए यह सम्बन्ध सामयिक तथा अनित्य है। वैशेषिको का यह मत आशिक भिन्नता रखते हुए भी न्याय मत के सदृश है।

महाभाष्यकार पतजलि, कैयट तथा **भर्त्तृहरि** आदि **वैयाकरणो** के अनुसार शब्द और अर्थ के बीच स्वाभाविक सम्बन्ध है और यह सम्बन्ध नित्य है। **कैयट** के अनुसार अर्थ का बोध कराने की योग्यता शब्द मे स्वाभाविक रूप से रहती है। ज्यो ही शब्द का उच्चारण किया जाता है त्यो ही अर्थ की उपस्थिति हो जाती है। इसके अतिरिक्त अभिधेय वस्तु के अनित्य होने पर भी उससे शब्द का सम्बन्ध नित्य ही होता है क्योकि अर्थ को व्यक्त करने की योग्यता शब्द मे होती है और वह नित्य है।

भर्त्तृहरि के अनुसार शब्द से तीन तत्त्वो की प्रतीति होती है। जैसे गो शब्द के उच्चारण से 1 गो शब्द के स्वरूप का ज्ञान 2 बाह्यार्थ (गाय नामक पशु) का बोध और 3 वक्ता के अभिप्राय का ज्ञान–

'ज्ञान प्रयोक्तुर्वाह्योऽर्थ स्वरूप च प्रतीयते।
शब्दैरूच्चरितैस्तेषा सम्बन्ध समवस्थित ।।'

भर्त्तृहरि का कथन है कि यदि उपर्युक्त तीनो मे वास्तविक सम्बन्ध न माना जाय, तो तीनो का साथ-साथ बोध भी नही हो सकता। अत तीनो मे स्वाभाविक और नित्य सम्बन्ध मानना आवश्यक है। **हेलाराज** के भी अनुसार शब्द मे अर्थबोधक शक्ति अनादि काल से है।

मीमासासूत्रकार **महर्षि जैमिनि** के अनुसार शब्द और अर्थ का सम्बन्ध किसी कर्त्ता या वक्ता के द्वारा न होकर स्वत नैसर्गिक एव नित्य है–**"औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्ध ।"**[37] इसीलिए शब्द का अर्थ के साथ लौकिक शब्दार्थों की तरह सकेतग्रह की सभावना नहीं है। भाष्यकार **शबर स्वामी** का भी कहना है कि शब्द, अर्थ एव उनका सम्बन्ध नित्य है तथा वाच्यवाचकभाव पर आधारित है –

"वाच्यवाचक सम्बन्धनित्यता या प्रसाधिता।
शब्दनित्यता सा स्यात् तेन सन्नित्यतोच्यते।।"[38]

कुमारिल भट्ट के अनुसार शब्द और अर्थ के बीच औत्सर्गिक (नैसर्गिक) सम्बन्ध है और यह सम्बन्ध नित्य है। **प्राभाकर** ने इसट परम्परा का भी समावेश किया है।

अद्वैत वेदान्त दर्शन मे भी पूर्व मीमासा के मत का समर्थन करते हुए कहा गया है कि शब्द अर्थ तथा उनके बीच का सम्बन्ध नित्य है।

उर्ध्व विवेचन से यह स्पस्ट होता है कि शब्दार्थ सम्बन्ध के बारे मे मुख्यत दो मत हैं। एक मतानुसार शब्दार्थ सम्बन्ध नित्य है जबकि दूसरे के अनुसार यह सम्बन्ध अनित्य है। किन्तु गम्भीरतापूर्वक विचार करने से यह सम्बन्ध नित्य ही सिद्ध होता है। इसकी नित्यता को प्रमाणो युक्तियो एव लोकानुभव से सिद्ध किया जा सकता है। **कुमारिल** के अनुसार यह प्रमाणो से सिद्ध हो जाता है– **"सम्बन्धावगमश्च प्रमाणत्रयसम्पाद्या "**[39] अन्य **मीमासकों** ने इस सम्बन्ध की नित्यता को युक्तियो से सिद्ध किया है। **पतजलि** के अनुसार इस सम्बन्ध की नित्यता लोक व्यवहार से भी प्रमाणित होती है –**"सिद्धेशब्दार्थसम्बन्धे। नित्योह्यर्थवतामर्थैरभिसम्बन्ध अभिधान पुन स्वाभाविकम्।"**[40]

नैयायिको का कहना है कि यदि शब्दार्थ सम्बन्ध को नित्य माना जाय, तो किसी व्यक्ति को प्रथम बार ही उसका ज्ञान हो जाना चाहिए। लेकिन ऐसा हमेशा नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि यह सम्बन्ध नित्य नहीं है। इसके विरूद्ध कहा जा सकता है कि शब्द और अर्थ के बीच के सम्बन्ध को यदि कोई व्यक्ति पहली बार मे नहीं जान जाता, तो मात्र इस कारण सम्बन्ध का अभाव नहीं माना जा सकता। प्रकाशाभाव मे यदि ऑख किसी वस्तु को न देख पाये, तो इससे यह सिद्ध नही होता कि ऑख देख ही नही सकती। इसी प्रकार शब्द से शक्ति–ग्रह के अभाव मे प्रथम बार अर्थ ज्ञात नही होता तो इसका अर्थ यह नही है कि शब्द और अर्थ मे कोई सम्बन्ध ही नही है। शब्दार्थ के बीच यदि सम्बन्ध को न माना जाय तो **'गाय लाओ'** कहने पर गाय का लाना सभव नहीं होगा।[41] वस्तुत शब्द की उत्पत्ति नहीं होती, बल्कि अभिव्यक्ति होती है। शब्द के अन्दर अभिव्यक्ति का गुण उसके अपने स्वभाव से है। शब्द तथा उनसे निर्दिष्ट शब्दार्थ (पदार्थ) दोनो नित्य है और अज्ञातकाल से मनुष्य उन्ही शब्दार्थों के लिए उन्हीं शब्दो का प्रयोग करते आये हैं। इससे भी सिद्ध होता है कि शब्दार्थ सम्बन्ध नित्य है।

वाक्य का स्वरूप

शब्द के स्वरूप, शब्दार्थ तथा शब्दार्थ सम्बन्ध का विवेचन करने के पश्चात् शब्द प्रमाण के सन्दर्भ मे वाक्य के स्वरूप तथा वाक्यार्थबोध की पद्धति के बारे मे विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। सामान्यत शब्दो के समूह को वाक्य कहा जाता है। वक्ता अपने अभिप्राय को

श्रोता तक पहुँचान हेतु इस समूहभूत वाक्य का प्रयोग करता है। शब्दो के समूह (वाक्य) मिलकर एक पूर्ण अर्थ का अभिधान करते है। किन्तु पदो का प्रत्येक समूह वाक्य नही कहा जा सकता है। एक विशेष स्थिति मे उच्चरित होने पर ही सार्थक पदो का समूह वाक्य कहा जाता है। वाक्य–ज्ञान के लिए वाक्यगत पदो मे परस्पर आकाक्षा योग्यतादि का होना आवश्यक है। वाक्यजन्य ज्ञान मे ये ही कारण है। **न्याय दर्शन** मे वाक्य मे अर्थबोधकता को सिद्ध करते हुए आकाक्षा योग्यता एव सन्निधि से समन्वित पदो के समूह को वाक्य कहा गया है– **"वाक्यत्वाकाक्षायोग्यतासन्निधिमता पदाना समूह।"**[42] **मीमासको** के अनुसार वाक्य वह है जिसमे विभिन्न शब्द निश्चित सान्निध्य मे रहते है तथा अर्थ की अभिव्यक्ति करने मे समर्थ होते है। मीमासक योग्य वाक्य रचना मे आकाक्षा योग्यता सन्निधि (आसत्ति) को कारण मानते हुए कहते है कि आकाक्षा योग्यता व आसत्ति के कारण परस्पर समन्वित पदो का समूह वाक्य है– **"वाक्य आकाक्षा योग्यता सन्निधिवशात् स्वार्थं प्रतिपादयति।"** कुछ मीमासक ऐसे पदो के समूह को वाक्य की सज्ञा प्रदान करते है जो कर्त्ता, कर्म व क्रिया से सम्बद्ध होते है– **"वाक्य कर्त्तृकर्मक्रिया पद समूह।"** **न्याय दार्शनिक** वाक्य को क्रिया प्रधान तो मानते है परन्तु साथ ही वे क्रियावाचक शब्द के न होने पर भी शक्त पदो के साथ रहने मात्र से भी अर्थबोध मानते हैं। जैसे **"त्रिभुवन तिलको भूपति"**, इस वाक्य मे वे दोनो प्रकार के वाक्यो की स्वतत्र सत्ता मानते है। **जैनाचार्य यशोविजय** के अनुसार परस्पर साकाक्ष पदो का समुदाय ही वाक्य है– **"अन्योऽन्यापेक्षणा पदाना समुदायो वाक्यम्।"**[43]

वैयाकरण आचार्य पताजलि ने प्राचीन आचार्यों के विभिन्न लक्षणो का सग्रह करते हुए वाक्य के चार लक्षण दिये है–[44]

1 **"आख्यात साव्ययकारकविशेषण वाक्य।"** आर्थात् वाक्य मे क्रिया हो और उसके साथ अव्यय कारक विशेषण मे से एक या सभी हो।
2 **"सक्रियाविशेषण च।"**
3 **"आख्यात सविशेषण।"** अर्थात् उस क्रिया को वाक्य कहते है जिसके साथ विशेषण हो।
4 **"एक तिङ्।"** अर्थात् एक तिङन्त को वाक्य कहते है। जैसे, ब्रूहि।

वाक्य के स्वरूप के बारे मे उर्ध्व विवेचन से स्पष्ट होता है कि अधिकाश भारतीय दर्शनो मे आकाक्षा योग्यता व आसत्ति से युक्त पदो के समूह को वाक्य कहा गया है और इन्हे ही वाक्य गठन का आधारभूत तत्त्व माना गया है। किन्तु नव्य न्याय और अद्वैत वेदान्त मे उपर्युक्त के अतिरिक्त तात्पर्य ज्ञान को भी वाक्यार्थ–बोध मे प्रमुख कारण माना गया है– **"वाक्यजन्यज्ञाने च आकाक्षायोग्यताऽऽसत्तयस्तात्पर्यज्ञान चेति चत्वारि कारणानि।"**[45]

यहॉ विचारणीय प्रश्न यह है कि तात्पर्य ज्ञान को वाक्य ज्ञान का कारण माना जाय या

न माना जाय? लेकिन इससे पूर्व तात्पर्य का अर्थ निश्चित करना आवश्यक है। **नैयायिको** के अनुसार **"वक्तुरिच्छा तु तात्पर्यम्।"** अर्थात् वक्ता की इच्छा ही तात्पर्य है। लेकिन नैयायिको द्वारा तात्पर्य का निर्धारित उपर्युक्त लक्षण निर्दुष्ट नहीं है क्योकि इस लक्षण को मान लेने पर सस्कृत भाषानभिज्ञ व्यक्ति द्वारा कहे गये वेदवाक्य के अर्थ का ज्ञान ही नहीं हो सकेगा क्योकि वक्ता अव्युत्पन्न है। इस कारण **मेरे द्वारा कहे गये इस वेदवाक्य से श्रोता को अमुक अर्थ की प्रतीति हो** ऐसी इच्छा से वह वेदवाक्य उसके द्वारा कहा जाना सभव ही नहीं है। इसके अतिरिक्त वक्ता को अर्थ ज्ञान हो चाहे न हो किन्तु उसके द्वारा **'अग्निमीले'** अक्षरो का उच्चारण होते ही सुनने वाले व्युत्पन्न व्यक्ति को तत्काल मै अग्नि की स्तुति करता हूँ इस अर्थ की प्रतीति होती दिखाई देती है। अत न्याय द्वारा निर्धारित तात्पर्य का लक्षण अमान्य है। तो प्रश्न है कि तात्पर्य का लक्षण क्या है?

अद्वैत वेदान्त के अनुसार पदार्थो के ससर्ग का अनुभव उत्पन्न करने की वाक्य मे योग्यता का होना ही तात्पर्य है– **"तत्प्रतीति–जनन–योग्यत्व तात्पर्यम्।"**[46] जैसे घर मे घट है इस वाक्य के कहे जाने पर वक्ता को उस वाक्य के अर्थ का ज्ञान हो या न हो किन्तु उस वाक्य मे गृह और घट के आधाराधेयभावरुप सम्बन्ध का ज्ञान करा देने की योग्यता रहती है। इस कारण श्रोता को विवक्षित अर्थ का बोध होता है। अर्थात् वाक्य मे गृह और घट के आधाराधेयभावरूप सम्बन्ध का ज्ञान करा देने की जो योग्यता रहती है उसका ज्ञान ही तात्पर्य ज्ञान है। इस तात्पर्य ज्ञान से ही सर्वत्र शाब्दबोध होता है। यह तात्पर्य निश्चय (यह वाक्य इसी अर्थ का बोधक है– यह निश्चय) वाक्यार्थ प्रतीति के अन्वय–व्यतिरेक से ही होता है। इससे सिद्ध होता है कि बिना तात्पर्य ज्ञान के वाक्यर्थबोध नही हो सकता है। वाक्य ज्ञान के लिए वाक्य मे पदार्थों के ससर्ग का अनुभव उत्पन्न करने की योग्यता का होना आवश्यक है और यह बिना तात्पर्यज्ञान के सभव नही है। अत तात्पर्य ज्ञान को वाक्यार्थबोध का कारण मानना आवश्यक है। वाक्यार्थज्ञान मे जहॉ वाक्य के अर्थ को लेकर सशय की उत्पत्ति होती है, उसकी निवृत्ति भी तात्पर्यज्ञान से ही होती है।[47]

नव्य नैयायिक भी वाक्यार्थ बोध के लिए तात्पर्यज्ञान को आवश्यक मानते हैं। उनका कहना है कि विभिन्न स्थानो मे एक ही पद के कई अर्थ हो सकते है। किसी विशेष स्थान पर वक्ता के कथन का क्या अर्थ होगा यह जानने के लिए तात्पर्यज्ञान आवश्यक है। जैसे यदि किसी व्यक्ति से कहा जाय कि **सैधव** लाओ, तो वह मुश्किल मे पड जायेगा कि वह नमक लाये या घोडा लाये, क्योकि सैंधव के दोनो ही अर्थ होते हैं। किन्तु यदि हम वक्ता के तात्पर्य (अभिप्राय) की सहायता ले तो फिर हम समझ सकते हैं कि वह क्या चाहता है। इससे सिद्ध होता है कि वाक्यार्थ बोध के लिए तात्पर्यज्ञान आवश्यक है।

वाक्यार्थबोध की विधियाँ

वाक्यार्थबोध के प्रसग मे मुख्यत चार मत दृष्टिगोचर होते हैं। पहला मत **वैयाकरणो** का है। इसके अनुसार वाक्य ही वाक्यार्थ का बोधक होता है। इस वाक्यार्थ मे धात्वर्थ को ही मुख्य विशेष्य माना जाता है और पदार्थ उसी मे विशेषण के रुप मे प्रतीत होते हैं।

किन्तु वैयाकरणो का मत उचित प्रतीत नही होता क्योकि वाक्य निरवयव होते है और वाक्यार्थ भी निरवयव होता है। किसी समय वाक्य का एक देश विस्मृत हो जाने पर भी वाक्यार्थ निकल आता है यह सभी का अनुभव है। किन्तु वैयाकरणो के मत को मान लेने पर उस अनुभव का अपलाप करना पडेगा। किञ्च वैयाकरणो के मतानुसार कर्मानुष्ठान मे किये जाने वाले ऊह बाध आदि पदार्थो का बाध करना पडेगा। इसलिए वैयाकरण मत उपेक्षणीय है।

दूसरा मत **तार्किको** का है। इस मत के अनुसार प्रथमान्त पद से उपस्थापित अर्थ को विशेष्य माना जाता है और पदार्थ उसी मे विशेषणरुप से प्रतीत होते है। किन्तु तार्किको का मत भी विचार की कसौटी पर खरा नही उतरता। तार्किको का नियम सर्वत्र एक सा नही है। **गदाधर भट्टाचार्य** ने 'व्युत्पत्तिवाद" मे कहा है कि 'भूतल घटो नास्ति इत्यादि स्थलो मे तार्किको का नियम लागू नही होता। अत यह नियम सीमित है। अन्य दार्शनिको ने तो इनके नियम को विचार की कोटि मे स्थान ही नही दिया है। यही बात **मधुसूदन सरस्वती** ने **अद्वैतसिद्धि** के 'अखण्डार्थवाद" मे कही है। इसलिए तार्किको का मत भी ठीक नहीं है।

तीसरा मत **प्राभाकर मीमासको** का है जो **अन्विताभिधानवाद** के नाम से प्रसिद्ध है। इस मत के अनुसार वाक्य तो पद समुदाय रुप है अर्थात् पद ही वाक्य है और पदार्थ ही वाक्यार्थ है। अभिप्राय यह है कि पद अन्वित अर्थ को बताता है। अर्थात् वह पद अन्वय को भी कहता है और पदार्थ को भी बताता है–

"सकलपदान्तरपूर्तावितरपदार्थे समन्वित स्वार्थम्।
सर्वपदानि वदन्तीत्यन्येषामन्विताभिधानतम् ।।"[48]

अर्थात् अन्वित अर्थ को बताने वाले पद ही अन्वय को भी बताते हैं, क्योकि पद की अन्वय तथा अर्थ मे शक्ति है। इस मत मे ऐसा कार्य-कारण भाव सिद्ध होता है कि तदर्थ विषयक शब्दबोध के प्रति उस पद मे रहने वाली जो शक्ति है, उसके ज्ञान के अधीन तदर्थ विषयक उपस्थिति कारण होती है– **"तद्विषयक शाब्दबोधत्वेन तत् पदनिष्ठशक्तिग्रहाधीन तद्विषयक उपस्थितिकारणम्।"** अर्थात् **"तद्विषयक शाब्दबोधत्वेन तद् पदनिष्ठशक्तिग्रहाधीन तद्विषयकोपस्थितित्वेन कार्यकारणभाव।"** यह प्राभाकर मीमासको का मत है। उनका कथन है कि –

"पदार्थानेव वाक्यार्थमिथ सगतिशालिन।
आचक्षते विधीयन्ते पदैस्ते च तथाविधा ।।"[49]

प्राभाकर मीमासको का अन्विताभिधानवाद भी सन्तोषजनक नही है। इस मत मे पदो की अन्वय तथा अर्थ मे दो शक्तियॉ माननी पडती है। इसलिए गौरव प्रतीत होता है और लाक्षणिक स्थल मे अन्विताभिधान का होना सभव नही है। सूत्र भाष्य आदि से भी इसका विरोध है। इस कारण भी यह मत ग्राह्य नहीं है। **पार्थसारथि मिश्र** ने इस मत का विशद रुप से खण्डन किया है।

इसके अतिरिक्त अन्विताभिधानवाद मे निम्नलिखित दोष सहजतया देखे जा सकते है–

1 पदो का स्वतन्त्र अर्थ स्वीकार न करने से किसी पद से जाति, द्रव्य गुण, क्रिया आदि अर्थो का ज्ञान सभव नही है जबकि यह बात अव्यावहारिक है।[50]

2 पद से अन्वित पदार्थो का अभिधान स्वीकार करने पर वाक्य के प्रथम पद से शेष पदार्थो द्वारा अन्वित पदार्थो का अभिधान स्वीकार करना होगा। ऐसी स्थिति मे वाक्य के प्रथम पद से ही वाक्यार्थ ज्ञान होना चाहिए और शेष पद निरर्थक होने चाहिए।

3 यदि प्राभाकर यह स्वीकार करे कि एक पद अन्य पदो से मिलकर पूर्वपद का ज्ञान कराता है तो भी उचित नही है क्योकि यह पदान्तर पदार्थ का अभिधान करता हुआ ही पूर्व पद के अर्थ को निश्चित करेगा। ऐसी स्थिति मे अभिहितान्वयवाद को स्वीकार करना ही पडता है– **''अर्थ प्रतिपादनेन तु पदान्तर यदि नियमहेतु? सोऽयमभिहितानामर्थानामन्वय उक्तो भवति।''**[51]

अभिहितान्वयवाद चतुर्थ मत है जिसका प्रतिपादन **भाट्ट मीमासको** ने किया है तथा जो जयन्त भट्ट के अतिरिक्त अन्य नैयायिको तथा अद्वैत वेदान्तियो द्वारा समर्थित है। इस मत मे पदो से सर्वप्रथम अन्वित पदार्थों का अभिधान स्वीकार किया गया है, पुन अभिहित पदार्थों मे परस्परान्वय के द्वारा वाक्यार्थ ज्ञान होता है। अभिहित पदार्थ वाक्य के शेष पदार्थो से सतुष्ट होते है और तब वाक्यार्थबोध होता है।इसलिए अभिहितान्वयवादी आचार्य वाक्यार्थ ज्ञान पदार्थों से स्वीकार करते है। **कुमारिल**[52] और **पार्थसारथि**[53] दोनो यह स्वीकार करते हैं कि पद अपनी अभिधात्री शक्ति से केवल पदार्थ का ज्ञान कराते है और अभिहित पदार्थों की आकाक्षा योग्यता और सन्निधि के फलस्वरुप वाक्यार्थ का ज्ञान होता है। पदो से वाक्यार्थ का कोई सीधा सम्बन्ध नहीं होता। **शबर** की मान्यता है कि पद अपने–अपने अर्थ का अभिधान करके व्यापार–शून्य हो जाते हैं। इसके बाद अवगत पदार्थ वाक्यार्थ का ज्ञान कराते है– **''पदानि हि स्व स्व पदार्थमभिधाय निवृत्तव्यापाराणि। अथेदानी पदार्था अवगता सन्तो वाक्यार्थं गमयन्ति।''**[54] कुमारिल ने यह स्पष्ट नहीं किया है कि अभिहित पदार्थों के ससर्ग का ज्ञान किस प्रकार होता है और क्यो होता है? **पार्थसारथि मिश्र** ने इस दोष का निवारण करते हुए दो प्रकार की मान्यताएँ प्रस्तुत की हैं। **"न्यायरत्नमाला"** मे पार्थसारथि ने संसर्ग ज्ञान का हेतु लक्षण को माना है, जबकि दूसरी ओर

"श्लोकवार्तिक" की टीक **"न्यायरत्नाकर"** मे ससर्ग ज्ञान के लिए तात्पर्य को पृथक शक्ति माना है।[55] अन्यत्र भी पदार्थो का ससर्ग पदो की **लक्षणा** शक्ति से स्वीकृत है।[56] इस प्रकार भाट्टमत मे पद पदार्थ के स्वरुप के ही वाचक होते है। वे आकाक्षा योग्यता आसत्तिरुप सहकारी कारणो से युक्त होकर लक्षणा से वाक्यार्थ का बोध कराते है।

अभिहितान्वय मत मे अभिहित पदार्थो का अन्वय चूँकि आकाक्षा योग्यता और सन्निधि के कारण स्वीकृत है अत केवल उन्ही पदार्थो का परस्पर अन्वय होता है जो परस्पर आकाक्षा योग्यता या सन्निधि से युक्त होते है। इस प्रकार **"अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते"** आदि प्रलापो से वाक्यार्थ का ज्ञान नही होगा क्योकि यहॉ पदार्थो मे योग्यता का अभाव है। अन्विताभिधान मत से ऐसे वाक्यो का अर्थ भी स्वीकार करना होगा जो दोषपूर्ण हैं। इस प्रकार अन्विताभिधानवाद की अपेक्षा भाट्टो का अभिहितान्वयवाद निरवद्य प्रतीत होता है। वस्तुत अन्विताभिधानवाद मे प्रधानत कुल तीन पक्ष है–

1– कार्यान्वित अर्थ मे शक्ति है

2– इतरान्वित अर्थ मे शक्ति है और

3– अन्वित अर्थ मे शक्ति है।

इनमे से पहले दोनो पक्षो का गौरव आदि दोष के कारण खण्डन कर दिया गया है और अन्वित पक्ष का विवरणप्रस्थानानुयायियो ने समर्थन किया है। **मण्डन मिश्र** तथा **वाचस्पति मिश्र** प्रभृत्तियो ने अन्विताभिधानवाद का खण्डन करके अभिहितान्वयवाद का ही समर्थन किया है। **चित्सुखचार्य** ने भी इसी पक्ष को अपनाया है। अत अभिहितान्वयवाद को सिद्धान्त रुप मे स्वीकार किया जा रहा है।

शब्द के भेद

शब्द को पृथक प्रमाण मानने वाले दर्शनो मे शब्द प्रमाण के भेदो का भी विवेचन किया गया है जो अधोवत् रुप मे प्रस्तुत है–

साख्य–योग दर्शन मे शब्द प्रमाण के दो भेद माने गये है –**लौकिक** और **वैदिक।** साधारण विश्वास प्राप्त व्यक्तियो के आप्तवचन को लौकिक शब्द कहते हैं। साख्य इसे स्वतन्त्र प्रमाण की कोटि मे नही रखता, क्योकि यह प्रत्यक्ष और अनुमान पर आश्रित है। श्रुति या वेद–वाक्य ही शब्द प्रमाण की कोटि मे आता है। वैदिक वाक्य हमे उन अगोचर विषयो का ज्ञान कराते है जो प्रत्यक्ष या अनुमान के द्वारा नहीं जाने जा सकते। अपौरुषेय होने के कारण वेद उन सभी दोषो और त्रुटियो से रहित हैं जो लौकिक वाक्यो मे सभव है। वैदिक वाक्य अभ्रान्त और स्वत प्रमाण है, क्योकि वे द्रष्टा ऋषियो के ज्ञान या इच्छा पर आश्रित नहीं है, प्रत्युत् सर्वदेशीय और सर्वकालिक सत्य है। इस तरह वेद अपौरुषेय हैं। फिर भी वे नित्य नहीं माने जा सकते,

क्योकि वे द्रष्टा ऋषियो के दिव्य अनुभवो से उत्पन्न होते हैं और सनातन पठन–पाठन की परम्परा से सुरक्षित रहते है।

न्याय दर्शन मे शब्द प्रमाण के दो भेद माने गये है– **दृष्टार्थ** और **अदृष्टार्थ**। दृष्टार्थ शब्द प्रमाण वह है जिससे ऐसी वस्तुओ का ज्ञान प्राप्त होता है जिनका प्रत्यक्ष हो सके। जैसे– साधारण मनुष्य तथा महात्माओ के विश्वासयोग्य वचनादि। अदृष्टार्थक शब्द प्रमाण वह है जिससे अदृष्ट वस्तुओ का ज्ञान प्राप्त होता। जैसे–परमाणु पाप–पुण्य ईश्वर जीव की नित्यता आदि।

एक अन्य वर्गीकरण के अनुसार न्याय दर्शन मे शब्द प्रमाण के दो अन्य भेद माने गये है– **वैदिक** और **लौकिक**।[57] वैदिक शब्द स्वय ईश्वर के वचन होते है। अत वे निर्दोष एव निर्भ्रान्त होते है। किन्तु लौकिक शब्द सभी सत्य नही होते। ये मनुष्यो के वचन है अत सत्य या मिथ्या भी हो सकते हैं। लौकिक शब्द केवल वे ही सत्य होते हैं, जो विश्वासयोग्य व्यक्तियो के वचन होते है।

उल्लेखनीय है कि न्याय दर्शन मे शब्द का प्रथम प्रकार–भेद ज्ञातव्य विषयो के स्वरूप के अनुसार हुआ है जबकि दूसरा प्रकार–भेद शब्द की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे हुआ है। किन्तु दोनो से ही यह पूर्णतया स्पष्ट है कि नैयायिको के अनुसार शब्द की उत्पत्ति किसी व्यक्ति से ही होती है–चाहे वह व्यक्ति कोई मनुष्य हो या ईश्वर। इसलिए न्याय दर्शन मे शब्द को पौरुषेय माना गया है।

पूर्वमीमासा दर्शन मे शब्द प्रमाण के दो भेद माने गये हैं– **पौरुषेय** (लौकिक) और **अपौरूषेय** (वैदिक)। आप्त (विश्वस्त) व्यक्ति का कथित या लिखित वचन पौरुषेय कहलाता है। वेद वाक्य अपौरुषेय माना जाता है। वेद वाक्य दो प्रकार का होता है– **सिद्धार्थ वाक्य** और **विधायक वाक्य**। सिद्धार्थ वाक्य वह है जिससे किसी सिद्ध विषय के बारे मे ज्ञान होता है और विधायक वाक्य वह है जिससे क्रिया के लिए विधि या आज्ञा सूचित होती है। वेद के वाक्य–विशेषत कर्त्तव्य क्रिया के विधायक वाक्य जो यज्ञादि के सम्पादनार्थ कर्त्तव्य का निर्देश करते हैं– मीमासा की दृष्टि मे अपौरुषेय और स्वत प्रमाण हैं। मीमासा वेद को मनुष्य–कर्त्तक या ईश्वर कर्त्तक नही मानती है। इसलिए वह वेद को अपौरुषेय मानती है। लौकिक या पौरुषेय वाक्यो को वे प्रामाणिक नही मानते, क्योकि उनके अनुसार इन वाक्यो के दोषपूर्ण होने की सदैव सभावना बनी रहती है। लेकिन **भाट्ट मीमासक** वैदिक या अपौरुषेय वाक्यो की प्रामाणिकता को तो मानते ही हैं, साथ ही उनका यह भी कहना है कि लौकिक वाक्यो की भी प्रामाणिकता मानी जा सकती है, बशर्ते ये वाक्य आप्त पुरुषो द्वारा उच्चरित हो।

अद्वैत वेदान्त मे भी शब्द के दो भेद माने गये हैं– **वैदिक** और **लौकिक**। लौकिक वाक्य जिस अर्थ को बताते हैं वह प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणो से अवगत रहता है अपूर्व नहीं होता। इस कारण लौकिक वाक्यो मे सिद्ध वस्तुओ का अनुवादकत्व ही रहता है। उनका प्रामाण्य

वेदाधारित होता है। किन्तु वैदिक वाक्य जिस अर्थ को बताते है वह पहले किसी भी अन्य प्रमाण से ज्ञात नही रहता। इसलिए वैदिक वाक्य अनुवाद न होकर अपूर्व (पुरुष बुद्धि से अगम्य) अर्थ का प्रतिपादन करते है। इसी कारण उनमे अज्ञातार्थज्ञापकत्वरुप प्रामाण्य होता है– **तत्र लौकिक–वाक्याना मानान्तरागतार्थानुवादकत्वम्। वेदे तु वाक्यार्थस्यापूर्वतया नानुवादकत्वम्।**"[58]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि साख्ययोग न्याय मीमासा एव अद्वैत वेदान्त दर्शनो मे वैदिक वाक्य को प्रामाणिकता प्रदान की गयी है। किन्तु वेद के बारे मे इनमे व्यापक मतभेद है। **न्याय दर्शन** मे वेद को पौरुषेय और नित्य माना गया है जबकि **मीमासा** वेद को अपौरुषेय और नित्य मानती है। नैयायिको के अनुसार वेद चूँकि नित्य एव सर्वज्ञ परमेश्वर की कृति है इसलिए वे नित्य एव प्रामाणिक है। ईश्वर प्रणीत होने के कारण उनमे कर्त्तृदोष नही है। मीमासा चूँकि ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करती इसलिए वह वेद को अपौरुषेय मानती है। उसके अनुसार अपौरुषेय होने से वेद नित्य है। अपौरुषेय होने से ही वेद मे पुरुषगत समस्त दोषो का अभाव है इस कारण वे प्रामाणिक हैं। वेदकर्त्ता पुरुष मे ईश्वरत्व होने पर भी उसमे भक्तपक्षपात आदि दोषो का होना सभव है। इस कारण बौद्ध प्रणीत आगम के समान वेदो मे भी दोष हो सकते है। किन्तु अपौरुषेय एव नित्य होने से उनमे समस्त पुरुषगत दोषो का निरास हो जाता है।

किन्तु वेद के बारे मे अद्वैत वेदान्त का मत उपर्युक्त मतो से भिन्न एव अधिक ग्राह्य है। **अद्वैत वेदान्त** के अनुसार वेदार्थ तो अवश्य नित्य हैं किन्तु स्वय मन्त्र नित्य नहीं हैं क्योकि ईश्वर प्रत्येक सृष्टि के आरम्भ मे फिर से उनका उच्चारण करता है। अद्वैत वेदान्ती यह मानते है कि वेद अक्षरो शब्दो एव वाक्यो के सग्रह है और उनके अस्तित्व का प्रारम्भ सृष्टि से प्रारम्भ होता है तथा उनका विलोप प्रलय के साथ ही हो जाता है, उसी प्रकार जैसे आकाश तथा अन्य तत्त्व उत्पन्न एव विनष्ट होते हैं।[59] इस प्रकार अद्वैत वेदान्त मे वेद को अपौरुषेय किन्तु अनित्य माना गया है। चूँकि परमार्थत ईश्वर की सत्ता नहीं है, इसलिए वेद अनित्य हैं। वेदान्त का यह मत शास्त्रसम्मत एव तर्कसम्मत है। साख्य दर्शन मे भी वेद को अनित्य माना गया है।

शब्द प्रमाण के समग्र समस्त पक्षो पर उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि विभिन्न भारतीय दर्शनो मे शब्द प्रमाण को भिन्न भिन्न रूपो मे परिभाषित किया गया हैं लेकिन अद्वैत वेदान्त की यह परिभाषा अधिक मान्य प्रतीत होती है कि कोई भी कथन उसके द्वारा उपलक्षित अर्थो मे निर्दोष प्रमाण है, यदि किसी अन्य प्रमाण के द्वारा वह असत्य सिद्ध न कर दिया जाय– **"यस्य वाक्यस्य तात्पर्यविषयीभूत ससर्गोमानान्तरेण न बाध्यते तद् वाक्य प्रमाणम्"**।[60] शब्द प्रमाण की इस परिभाषा मे **'वाक्यस्य'** पद से अन्य प्रमाणो से शब्द या आगम का भेद तो स्पष्ट होता ही है, साथ ही शब्द प्रमाण काअनुमान प्रमाण मे अन्तर्भाव किये जाने का खण्डन भी

हो जाता है। जहाँ तक शब्द के प्रामाण्य का प्रश्न है चार्वाक बौद्ध और वैशेषिक दार्शनिक शब्द प्रमाण का अन्तर्भाव अनुमान मे करते है। किन्तु यह उचित नही है क्योकि अनुमान का आधार व्याप्ति ज्ञान है जबकि आगम (शब्द) व्याप्ति निरपेक्ष है। अत उसका अन्तर्भाव अनुमान मे नही किया जा सकता– **"न च व्याप्ति ग्रहणवलेनार्थप्रतिपादकत्वात् धूमवदस्य अनुमानेऽन्तर्भाव।"**[61] पुनश्च, शब्द प्रमाण का ज्ञान आकाक्षा, योग्यता आसक्ति और तात्पर्य ज्ञान की सहायता से होता है अनुमान मे इनका अनुभव नहीं होता। इसलिए शब्द का अन्तर्भाव अनुमान मे नहीं हो सकता। उसका पृथक प्रमाणत्व सिद्ध है।

इसी तरह शब्दार्थ विचार के सन्दर्भ मे **व्यक्तिवाद, आकृतिवाद अपोहवाद स्फोटवाद, जात्याकृतिव्यक्तिवाद जातिविशिष्ट व्यक्तिवाद तथा जातिवाद** नामक सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया गया है। इन विभिन्न सिद्धान्तो का मूल्याकन करने पर यह स्पष्ट होता है कि **जाति ही शब्द का अर्थ है।** इसे **जातिवाद** कहा जाता है। यह सिद्धान्त अन्य सिद्धान्तो की तुलना मे अधिक तर्कसगत है। अत इसे ही सिद्धान्त रूप मे स्वीकार किया जाता है। शब्दार्थ विवेचन प्रकरण मे इस सन्दर्भ मे विस्तृत विचार किया गया है। **शब्दार्थ सम्बन्ध** के बारे मे भी विभिन्न दर्शनो मे भिन्न–भिन्न मतो का प्रतिपादन किया गया है जिनसे मुख्यत दो विचार सामने आते है। **जैन, न्याय** और **वैशेषिक** के अनुसार शब्द और अर्थ के बीच **अनित्य सम्बन्ध** है जबकि **साख्य, व्याकरण, मीमासा** व **अद्वैत वेदान्त** के अनुसार उनमे **नित्य सम्बन्ध है। क्षणिकवादी बौद्ध** शब्द और अर्थ के बीच कोई सम्बन्ध नहीं मानते। अनित्यवादी नैयायिको को अनुसार यदि शब्दार्थ सम्बन्ध को नित्य मान लिया जाय, तो किसी व्यक्ति को प्रथम बार ही उसका ज्ञान हो जाना चाहिए जबकि ऐसा नहीं होता। लेकिन इसके विरूद्ध यह कहा जा सकता है कि शब्दार्थ सम्बन्ध को यदि कोई व्यक्ति पहली बार मे नही जान पाता तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि दोनो मे सम्बन्ध का अभाव है या यह सम्बन्ध अनित्य है। वस्तुत शब्द की उत्पत्ति नहीं होती, बल्कि अभिव्यक्ति होती है। शब्द के अन्दर अभिव्यक्ति का गुण उसके अपने स्वभाव से है। शब्द तथा उससे निर्दिष्ट शब्दार्थ दोनो नित्य है और आज्ञातकाल से मनुष्य उन्हीं शब्दार्थों के लिए उन्ही शब्दो का प्रयोग करते आये हैं। इससे स्पष्ट होता है कि शब्दार्थ सम्बन्ध नित्य है। जहाँ तक शब्द प्रमाण मे **वाक्य विवेचन** का सवाल है, **समान्यत एक विशेष स्थिति मे उच्चरित होने वाले सार्थक पदो के समूह को वाक्य कहते है।** वाक्य ज्ञान के लिए वाक्यगत पदो मे परस्पर **आकाक्षा योग्यता** एव **आसत्ति** का होना आवश्यक हैं,[62] किन्तु **अद्वैत वेदान्ती**[63] एव **नव्य नैयायिक तात्पर्य ज्ञान** को भी वाक्यबोध के लिए आवश्यक मानते हैं। वस्तुत वाक्यज्ञान के लिए वाक्य मे पदार्थों के ससर्ग का अनुभव उत्पन्न करने की योग्यता भी होना चाहिए और यही तात्पर्यज्ञान है। इस तात्पर्य ज्ञान से ही सर्वत्र शब्दबोध होता है। अत **तात्पर्य ज्ञान को भी वाक्यजन्यज्ञान मे कारण मानना चाहिए। वाक्यार्थ बोध** के सन्दर्भ मे मुख्यत चार मत हैं।

प्रथम मत **वैयाकरणो** का है, द्वितीय **तार्किको** का हे तृतीय **प्राभाकर मीमासको** का है और चतुर्थ मत **भाट्ट मीमासको** का है जिसका समर्थन **अद्वैत वेदान्तियो** ने भी किया है। मेरी दृष्टि मे अन्य मतो की तुलना मे भाट्टो का **अभिहितान्वयवाद** अधिक तर्कसगत है। इसका विस्तृत विवेचन वाक्यार्थबोध प्रकरण मे किया गया है।

शब्द के मुख्यत **दो भेद** किये गये है–**वैदिक** और **लौकिक** वैदिक शब्द प्रमाण को सभी दार्शनिक प्रामाणिक मानते है लेकिन वेद के बारे मे उनमे मतभेद है। **न्याय** वेद को **पौरुषेय** व नित्य मानता है जबकि **पूर्वमीमासा** के अनुसार वेद **अपौरुषेय** व नित्य है। **अद्वैत वेदान्त** के अनुसार वेदार्थ तो नित्य है किन्तु वेद अपौरुषेय होते हुए भी नित्य नही है क्योकि ईश्वर प्रत्येक सृष्टि के आरम्भ मे फिर से उनका उच्चारण करता है। वेदान्त का यह मत अधिक तर्कसगत है।

शब्द प्रमाण के स्वरूप प्रामाण्य व इससे सम्बन्धित अन्य पक्षो पर भले ही शब्द प्रमाणवादी दार्शनिको मे मतभेद हो, किन्तु इसके **महत्त्व** को सभी शब्द प्रमाण को मानने वाले दार्शनिक स्वीकार करते है। इसका सबसे बडा प्रमाण इसको पृथक् प्रमाण के रूप मे मान्यता प्रदान करना है। **न्याय दर्शन** मे अन्य प्रमाणो के समान ही शब्द प्रमाण को महत्त्व दिया गया है। इसका कारण यह है कि अन्य प्रमाणो की तरह ही शब्द प्रमाण से भी प्रमेय की सिद्धि होती है।

पूर्वमीमासा दर्शन मे शब्द प्रमाण को विशेष महत्त्व दिया गया है। इसका कारण यह है कि मीमासा के प्रमुख प्रतिपाद्य विषय धर्मार्थ के ज्ञान मे केवल वेद (वैदिक वाक्य) ही प्रमुखरूपेण प्रमाण हो सकते है। अन्य प्रमाण या तो इसके सहकारी कारण है या गौण है। प्रत्यक्ष (चक्षुरिन्द्रयादि) प्रमाण का केवल सत् (विद्यमान) विषयो के साथ ही सन्निकर्ष हो सकता है अविद्यमान विषयो के साथ नहीं। अत भविष्य विषयक होने के कारण धर्म के ज्ञान मे प्रत्यक्ष प्रमाण अप्रमाण है। चूँकि अनुमानादि प्रमाण प्रत्यक्षाधारित हैं, अत ये भी धर्म ज्ञान मे अप्रामाणिक हैं। धर्म चूँकि भविष्य विषयक है इस लिए धर्म के ज्ञान मे केवल वेद (वैदिकवाक्य) ही प्रमाण हैं। **अद्वैत वेदान्त दर्शन** मे भी शब्द प्रमाण के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि श्रुति वाक्य ही हमे ऐसा ज्ञान प्रदान करते है जो इन्द्रियो अथवा विचारशील व्याक्तियो द्वारा प्राप्त नही हो सकता। **आचार्य शकर** ने कहा है **"धर्म और अधर्म सम्बन्धी विषयो पर श्रुति ही एक मात्र प्रमाण है।"** शब्द प्रमाण की यह उपयोगिता स्वत ही उसके स्वतन्त्र प्रामाण्य को सिद्ध कर देती है।

सदर्भ-ग्रथ-सूचिका

1 तर्कभाषा मिश्र केशव हिन्दी व्याख्या–शुक्ल बदरीनाथ मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी 1968 पृ 149

2 तत्वार्थाधिगमसूत्र 135 उमास्वामी ज्ञानपीठ वाराणसी 1949

3 जैन तर्कभाषा जैन महेन्द्र कुमार सिन्धी जैन ग्रन्थमाला अहमदाबाद 1938 पृ 19

4 तर्कभाषा मिश्र केशव चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी 1953 पृ 122

5 साख्यकारिका 5 ईश्वरकृष्ण चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी 1963

6 शाबरभाष्य 115 शबरस्वामी आनन्दाश्रम मुद्रणालय पूना 1929 पृ 45

7 वही पृ 37

8 वही पृ 37

9 उद्धृत शास्त्रदीपिका शब्द परिच्छेद मिश्र पार्थसारथि चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी 1913 पृ 134

10 मानमेयोदय भट्ट नारायण थियोसाफिकल पब्लिशिग हाउस अडयार मद्रास 1933 पृ 95

11 प्रकरणपचिका मिश्र, शालिकनाथ काशी हिन्दूविश्वविद्यालय मुद्रणालय काशी, 1962, पृ 88

12 वेदान्तपरिभाषा धर्मराजाध्वरीन्द्र व्याख्या–मुसलगॉवकर श्रीगजानन शास्त्री चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी 1983, पृ 187–88

13 श्लोक वार्तिक अनु–27 भट्ट कुमारिल मद्रास विश्वविद्यालय प्रकाशन मद्रास 1940।

14 वही शब्द–61

15 जैन तर्कभाषा, जैन महेन्द्र कुमार सिन्धी जैन ग्रन्थमाला अहमदाबाद 1938 पृ 19

16 वेदान्तपरिभाषा धर्मराजाध्वरीन्द्र व्याख्या–मुसलगॉवकर श्रीगजानन शास्त्री चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी 1983 पृ 189

17 वही पृ 212–13

18 वाक्यपदीय, 144, भर्तृहरि, मेसर्स बी बी दास एण्ड कम्पनी, बनारस, 1887

19 तर्कभाषा मिश्र केशव हिन्दी व्याख्या–शुक्ल बदरीनाथ मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी 1976 पृ 170–71

20 न्यायमजरी भट्ट जयन्त चौखम्बा प्रकाशन वाराणशी 1936 पृ 340

21 न्यायभाष्य 2268 वात्स्यायन मिथिला विद्यापीठ दरभगा 1967

22 न्यायवार्तिक 2267 उद्योतकर कलकत्ता सस्कृत ग्रन्थमाला ग्रन्थाक 18 कलकत्ता 1936 पृ 39

23 'श्लोकवार्तिक (आकृति) 3 भट्ट कुमारिल मद्रास विश्वविद्यालय प्रकाशन मद्रास 1940

24 वेदान्तपरिभाषा धर्मराजाध्वरीन्द्र व्याख्या–मुसलगॉवकर श्रीगजानन शास्त्री चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी 1983 पृ 210–11

25 जैमिनिसूत्र 1 3 33 जैमिनि आनन्दाश्रम मुद्रणालय पूना 1929

26 वेदान्तपरिभाषा धर्मराजाध्वरीन्द्र व्याख्या–मुसलगॉवकर श्रीगजानन शास्त्री चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी 213–219

27 वही पृ 219

28 प्रमेयकमलमार्तण्ड प्रभाचन्द्र निर्णय सागर प्रेस बम्बई द्वितीय सस्करण 1941 पृ 123

29 वही पृ 124

30 साख्यसूत्र 37 कपिल प आशुतोष विद्याभूषण तथा प नित्यबोध विद्यारत्न कलकत्ता 1935

31, तत्त्ववैशारदी मिश्र, वाचस्पति भारतीय विद्या प्रकाशन पचगगाघाट वाराणसी 1963 पृ 82

32 न्यायसूत्र, 1 1 56 गौतम कलकत्ता सस्कृत ग्रन्थमाला, ग्रन्थाक 18, कलकत्ता 1936

33 न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका 2 1 55 मिश्र वाचस्पति कलकत्ता सस्कृत ग्रन्थमाला ग्रन्थाक 18 कलकत्ता 1936

34 न्यायसिद्वान्तमुक्तावली पचानन विश्वनाथ चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी द्वितीय सस्करण 1984 पृ 584

35 तत्त्वचिन्तामणि भाग 4 उपाध्याय गगेश चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी 1917 पृ 627

36 न्यायभाष्य 2 1 53 वात्स्यायन कलकत्ता सस्कृत ग्रन्थमाला गन्थाक 18 कलकत्ता 1936

37 मीमासासूत्र 5 जैमिनि आनन्दाश्रम मुद्रणालय पूना 1929

38 शाबरभाष्य 1 1 6 23 शबर स्वामी आनन्दाश्रम मुद्रणालय पूना 1929

39 प्रमेयकमलमार्तण्ड प्रभाचन्द्र निर्णय सागर प्रेस बम्बई द्वितीय सस्करण 1941 पृ 16

40 महाभाष्य 2 1 1 पतजलि चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी 1978

41 श्लोकवार्तिक सम्बन्धाक्षेपपरिहार श्लोक 140–141 भट्ट कुमारिल मद्रास विश्वविद्यालय प्रकाशन मद्रास 1940

42 तर्कभाषा मिश्र केशव चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी 1953 पृ 122

43 जैन तर्कभाषा जैन महेन्द्र कुमार सिन्धी जैन ग्रन्थमाला अहमदाबाद 1938 पृष्ठ 1938 पृ 19

44 महाभाष्य 2 1 1 पतजलि चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी 1978

45 वेदान्तपरिभाषा धर्मराजाध्वरीन्द्र व्याख्या–मुसलगॉवकर श्रीगजानन शास्त्री चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी 1983 पृ 189

46 वही पृ 247

47 वही पृ 255

48 मानमेयोदय भट्ट नारायण थियोसाफिकल पब्लिशिंग हाउस अडयार मद्रास 1933 पृ 97

49 न्यायरत्नमाला मिश्र पार्थसारथि चौखम्बा सस्कृत बृक डिपो वाराणसी 1900 पृ 83

50 न्यायमजरी भाग–1 भट्ट जयन्त प्राच्यविद्या सशोधनालय मैसूर 1970 पृ 364

51 वही पृ 365

52 श्लोकवार्तिक 7229 भट्ट कुमारिल मद्रास विश्वविद्यालय प्रकाशन मद्रास 1940

53 न्यायरत्नमाला मिश्र पार्थसारथि चौखम्बा सस्कृत बुक डिपो वाराणसी 1900 पृ 105

54 शाबरभाष्य तर्कपाद शबरस्वामी आनन्दाश्रम मद्रणालय पूना 1929 पृ 116

55 न्यायरत्नमाला वाक्यार्थनिर्णयकाण्ड 43 मिश्र पार्थसारथि चौखम्बा सस्कृत बुक डिपो वाराणसी 1900

56 मानमेयोदय भट्ट नारायण थियोसाफिकल पब्लिशिंग हाउस अडयार मद्रास 1933 पृ 94–97

57 तर्कभाषा मिश्र केशव व्याख्या–शुक्ल बदरीनाथ मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी 1968 पृष्ठ 14

58 वेदान्तपरिभाषा धर्मराजाध्वरीन्द्र व्याख्या–मुसलगॉवकर श्रीगजानन शास्त्री चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी 1983 पृ 256

59 भारतीय दर्शन भाग– 2 डॉ0 राधाकृष्णन अनुवादक–नन्द किशोर गोभिल राजपाल एण्ड सन्स दिल्ली 1989 पृ 428

60 वेदान्तपरिभाषा धर्मराजाध्वरीन्द्र व्याख्या–मुसलगॉवकर श्रीगजानन शास्त्री चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी 1983 पृ 187–88

61 जैन तर्कभाषा जैन महेन्द्र कुमार सिन्धी जैन ग्रन्थमाला अहमदाबाद 1938 पृष्ठ 1938 पृ 19

62 तर्कभाषा मिश्र केशव चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी 1953 पृ 122

63 वेदान्त परिभाषा धर्मराजाध्वरीन्द्र व्याख्या–मुसलगॉवकर श्रीगजानन शास्त्री चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी 1983 पृ 189

● ●

अध्याय - षष्ठ

अर्थापत्ति प्रमाण

अर्थापत्ति प्रमाण

भारतीय प्रमाणमीमासा का विवेचन करने वाले दर्शनो मे केवल **पूर्वमीमासा** व **अद्वैत वेदान्त** मे ही अर्थापत्ति को पृथक प्रमाण माना गया है। अन्य दर्शनो मे उसका अन्तर्भाव अनुमान प्रमाण मे किया गया है। शास्त्रीय ग्रन्थो मे अर्थापत्ति **अन्यथानुपपत्ति'** नाम से प्रसिद्व है। अर्थापत्ति **अर्थ'** और **आपत्ति'** इन दो शब्दो से मिलकर बना है। यहाँ अर्थ से तात्पर्य है–**'यथार्थ अर्थ** और आपत्ति का तात्पर्य है **कल्पना** इस प्रकार अर्थापत्ति का शाब्दिक अर्थ है– किसी सत्य अर्थ की कल्पना। सामान्यत सत्य अर्थ की कल्पना को अर्थापत्ति कहते हैं।

अर्थापत्ति शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से की जा सकती है– 1 **"अर्थस्य आपत्ति यस्मात् त्"** तथा 2 **"अर्थस्य आपत्ति ।"** पहली व्युत्पत्ति के अनुसार यह शब्द प्रमाण का वाचक है और दूसरी व्युत्पत्ति के अनुसार एक विशिष्ट प्रमा का।[1] पूर्व मीमासा एव अद्वैत वेदान्त मे अर्थापत्ति को अधोवत् रूप मे परिभाषित किया गया है।

अर्थापत्ति का लक्षण

मीमासासूत्रकार **आचार्य जैमिनि** ने अर्थापत्ति प्रमाण का कोई लक्षण नहीं दिया है परन्तु भाष्यकार **शबर स्वामी** ने अर्थापत्ति का लक्षण दिया है। आचार्य शबर स्वामी के अनुसार 'जहाँ दृष्ट अथवा श्रुत पदार्थ किसी दूसरे प्रकार से अन्यथासिद्ध न हो, इसलिए एक अर्थ की कल्पना की जाती है। इसी अर्थ की कल्पना को अर्थापत्ति कहते है। उदाहरणार्थ देवदत्त जीवित है, किन्तु वह घर मे नहीं है। अत उसे घर मे न पाकर यह कल्पना की जाती है कि देवदत्त बाहर होगा– **"अर्थापत्ति दृष्ट श्रुतो वाऽर्थोऽन्यथा नोपपद्यते इत्यर्थकल्पना यथा जीवित देवदत्ते गृहाभावदर्शनेन वहिर्भावस्यादृष्टस्य कल्पना।"**[2]

कुमारिल भट्ट भाष्यकार के अर्थापत्ति लक्षण की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि उपर्युक्त उदाहरण मे अभाव तथा अनुमान इन दो प्रमाणो मे विरोध (अनुपपत्ति) उत्पन्न होता है, क्योकि देवदत्त का गृह मे न होना अनुपलब्धि प्रमाण से ज्ञात होता है तथा उसके जीवित होने पर उसकी सत्ता कहीं पर है इसका ज्ञान अनुमान प्रमाण से होता है– **"दृष्टो हि गृहे चेत्रभावो भावेन। आनुमानिकी च चस्य जीवित क्वचित्सत्ता। सा अनिर्धारितदेशविशेषतया गृहमपि व्याप्नोति। सोऽयमभावानुमानयोर्विरोधोऽनुपपत्तिराख्यायते।"**[3] इस प्रकार देवदत्त है, किन्तु घर मे नहीं है– इस वाक्य मे एक ही समय मे दो भिन्न प्रमाणे से ज्ञात किसी व्यक्ति का अस्तित्त्व तथा अभाव उसकी बहिर्भाव कल्पना को उत्पन्न करता है। इसी को वार्तिककार कुमारिल भटट ने इस प्रकार

विवेचित किया है–प्रमाणषटक मे से किसी एक से विज्ञात विषय म हुए विरोध को हटाने के लिए जिस अदृष्ट अर्थ की कल्पना की जाती है उसे अर्थापत्ति कहते हैं–

"प्रमाणषटकविज्ञातो यथार्थो नान्यथा भवेत्।

अदृष्ट कल्पयदेन्य साऽर्थापत्तिरूदाहृता ।।"

यहाँ ज्ञातव्य है कि प्रमाणो का यह विरोध आभासमात्र होता है। वास्तविक विरोध होने पर तो समन्वय असम्भव होगा। जैसे **इद रजत** तथा **नेद रजतम्** मे वास्तविक विरोध है जिसका परिहार तभी सभव है जब इन दोनो मे से एक असत्य हो। किन्तु अर्थापत्ति मे तो दोनो की सत्यता होती है भले ही प्रारम्भ मे दोनो का विरोध प्रतीत हो। यह विरोधाभास अतिरिक्त कल्पना से समाप्त हो जाता है। कल्पना का कारण विरोध (अनुपपत्ति) सदैव दो प्रमाणो के मध्य होता है।

प्राभाकर मीमासको के अनुसार **"उपपादक से अनुपपन्न (अर्थ) के ज्ञान को अर्थापत्ति कहते हैं।"** **शालिकनाथ मिश्र** के अनुसार **"जिस अर्थ की कल्पना के बिना किसी प्रकार की अनुपपत्ति रहती है उस अर्थ की कल्पना करना ही अर्थापत्ति कहलाता है।"**

अर्थापत्ति प्रमाण के विषय मे प्राभाकरो की यह एक विशेषता है कि वे अर्थकल्पनावादी है। अर्थापत्ति को प्रमाण मानने वाले दार्शनिक दो कोटि के देखे जाते है– शब्द कल्पनावादी और अर्थ कल्पनावादी। प्राभाकर मीमासको ने शब्द कल्पनावाद का निरास और अर्थ कल्पनावाद की स्थापना की है। शब्द कल्पनावाद का स्वरूप स्पष्ट करते हुए **शालिकनाथ मिश्र** ने कहा है– पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते। इस वाक्य मे देवदत्त के दिन मे भोजन न करने और पीनत्त्व की अनुपपत्ति के द्वारा रात्रौभुडक्ते' इस प्रकार के वाक्य की कल्पना की जाती है। शालिकनाथ इसका खण्डन करते हुए कहते हैं कि यह युक्तियुक्त नहीं है क्योकि यहाँ रात्रि भोजनरूप अर्थ की ही कल्पना है– **"अत्र केचित् पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते इति वाक्येन देवदत्तसम्बन्धितयाऽवगतस्य भोजनस्थ दिवा निषिद्धस्य पीनत्वानुमितास्यानुपपत्त्या रात्रौ भुडक्ते इति वाक्यमेव कल्प्यत इति वदन्ति। तदयुक्तम्। अत्राप्यर्थस्यैव कल्पयितुमुचित्वात्"**।[4] रात्रि भोजन की कल्पना के बिना देवदत्त का पीनत्व उत्पन्न नही होता। कित्तु रात्रि सम्बन्धी भोजन की कल्पना करने मे वह अनुपपत्ति समाप्त हो जाती है। वह केवल शब्द मात्र से अवगत नहीं हो सकती, अपितु, अर्थ की कल्पना ही उस अनुपपत्ति का प्रतिकार है– **"अतोऽर्थस्यैव साक्षादुपपादकत्वम्, न शब्दस्य,"**।[5]

मीमासा दर्शन की भाति **अद्वैत वेदान्त** मे भी अर्थापत्ति को पृथक् प्रमाण माना गया है। धर्मराजाध्वरीन्द्र के अनुसार उपपाद्य के ज्ञान से उपपादक का ज्ञान अर्थापत्ति कहलाता है–**"तत्रोपपद्यज्ञानेनोपपादक–कल्पनमर्थापत्ति"**।[6] उपपाद्य का ज्ञान प्रमाण (करण) है और उपपादक का ज्ञान प्रमा (फल)। जिसके बिना जो अनुपपन्न होता है, वह उपपाद्य कहलाता है और जिसके अभाव मे जिसकी अनुपपत्ति होती है, वह उपपादक कहलाता है– **"तत्रोपपाद्यज्ञान**

करण। उपपादक ज्ञान फलम्। येन विना यदनुपपन्न तत्तत्रोपपाद्यम् यस्याभावे यस्यानुपपत्तिस्तत्तत्रोपपादकम्। यथा रात्रि भोजनेन विना दिवाऽभुञ्जानस्य पीनत्वमनुपपन्नमिति तादृशदीनन्वस्यानुम पत्तिरिति रात्रिभोजनमुपपादकम्।"[7] जैसे पीनो देवदत्तो दिवा न भुङक्ते"। यहॉ पर पीनत्व उपपाद्य है और रात्रि भोजन उपपादक। इस प्रकार अद्वैत वेदान्त मे अर्थापत्ति शब्द का प्रयोग प्रमा और प्रमाण दोनो के लिए हुआ है फिर भी अर्थापत्ति' शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त दोनो मे भिन्न–भिन्न है। अतएव अर्थो मे भी भिन्नता है। कल्पना (ज्ञान) रूप प्रमा मे अर्थापत्ति की प्रवृत्ति षष्ठी त्तपुरूष समास करके होती है। अर्थात् **अर्थस्य आपत्ति कल्पना इति अर्थापत्ति** एव कल्पना के करण के अर्थ मे अर्थापत्ति शब्द ब्रहुब्रीहि समास करके प्रयोग किया जाता है। अर्थात् **"अर्थस्य आपत्ति यस्मात् तत्।"** इस प्रकार प्रवृत्ति–निमित्त के भेद से एक ही अर्थापत्ति शब्द प्रमा' एव 'प्रमाण' दोनो ही अर्थो का वाचक हो सकता है।[8]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि मीमासा और अद्वैत वेदान्त दर्शन मे अर्थापत्ति प्रमाण का स्वरूप लगभग समान है। उभय मतो को सार रूप मे रखते हुए अर्थापत्ति प्रमाण को परिभाषित करते हुए हम यह कह सकते है –**"जहाँ दृष्ट अथवा श्रुत पदार्थ एक दूसरे से असगत जान पडते हो, तो उस असगति को दूर करने हेतु एक सत्य अर्थ की कल्पना करनी पडती है। इस अर्थ की कल्पना को ही अर्थापत्ति प्रमाण कहते है।"**

अर्थापत्ति के भेद

पूर्व मीमासा और अद्वैत वेदान्त दर्शनों मे अर्थापत्ति प्रमाण के भेदो का निरूपण किया गया है। **मीमासा दर्शन** मे अर्थापत्ति के दो भेद माने गये हैं– **दृष्टार्थापत्ति** और **श्रुतार्थापत्ति।** यद्यपि **"शाबरभाष्य"** मे अर्थापत्ति के कथित दो प्रकारो का निरूपण अप्राप्त है, किन्तु कुमारिल भट्ट ने शबर के **दृष्ट श्रुतो वा** के आधार पर अर्थापत्ति के उपर्युक्त दो प्रकारो को मान्यता दी है। उनके अनुसार दृष्ट वस्तु के आधार पर की गई कल्पना को दृष्टार्थापत्ति तथा श्रुत वस्तु के आधार पर की गई कल्पना को श्रुतार्थापत्ति कहते है।

कुमारिल ने दृष्टार्थापत्ति के पॉच उपभेद भी माने है। ये है– 1 प्रत्यक्षपूर्विका, 2 अनुमानपूर्विका 3 उपमानपूर्विका, 4 अर्थापत्तिपूर्विका एव 5 अनुपलब्धिपूर्विका।

प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञात दाह के द्वारा अग्नि मे दहनशक्ति की जो कल्पना की जाती है, वही **प्रत्यक्षपूर्विका अर्थापत्ति** है– **"तत्र प्रत्यक्षतो ज्ञानाद् दाहाद् दहनशक्त्या।"**[9] अग्नि वस्तु को जलाती है, यह प्रत्यक्षगम्य है। किन्तु यह तभी सभव है, जब यह कल्पना की जाय कि अग्नि मे 'दहन शक्ति' है। स्पष्टतया इस अर्थापत्ति का आधार 'प्रत्यक्ष' है।

अनुमानपूर्विका अर्थापत्ति अनुमान प्रमाण पर आधारित है। सूर्य मे अनुमित गति के द्वारा सूर्य मे गमनशक्ति की कल्पना **अनुमानपूर्विका अर्थापत्ति** है। **"वह्नेर्नुमितात् सूर्यै यानात् तच्छक्तियोग्यता।"**[10] सूर्य मे गति का ज्ञान अनुमान द्वारा ही होता है। प्राणियो मे गमन पदार्थ के कारण सभव है किन्तु सूर्य के पास गमन का इस प्रकार का कोई साधन नहीं है। अतएव सूर्य गमन करता है तथा उसकी गति का कोई साधन नही है इन दोनो मे अनुपपत्ति (विरोध) तभी दूर हो सकता है जब सूर्य मे गमन शक्ति की कल्पना की जाय– **"गमन हि प्राणिना विशिष्टपदादि साधनकमवगतम्। अय चानुमिततद्विधर्मगमनसाधनोऽपि तथैव न गन्तुमर्हतीति वितर्क। सोऽय शक्तिकल्पनायौ निवार्यते।"**[11]

उपमान पर आधारित अर्थातपत्ति **उपमानपूर्विका अर्थापत्ति** कहलाती है। अनेने सदृशी मदीया गो इस उपमिति मे गो मे **सादृश्यज्ञानग्राह्यशक्ति'** की कल्पना **उपमानपूर्विका अर्थापत्ति** का उदाहरण है– **"गवयोपमिता या गोस्तज्ज्ञानग्राह्यता मता।"**[12]

अर्थापत्ति पर आधारित **अर्थापत्तिपूर्विका अर्थापत्ति** शब्द की नित्यता की कल्पना पर आधारित है। शब्द की नित्यता की कल्पना शब्द की बोधक शक्ति (वाचक शक्ति) पर आधारित है जिसका अर्थापत्ति द्वारा शब्द से अर्थ के अभिधान मे प्रयोग होता है। अर्थात् शब्द के द्वारा अर्थ के अभिधान से शब्द मे वाचकत्व शक्ति की कल्पना स्वरूप अर्थापत्ति' निष्पन्न होती है। शब्द मे इस वाचकत्व शक्ति की उपपत्ति तब तक नही हो सकती जब तक उसे नित्य न माना जाय।[13] अतएव शब्द मे नित्यत्व कल्पनास्वरूप अर्थापत्ति शब्द मे उक्त वाचकत्व शक्ति की कल्पना स्वरूप अर्थापत्तिमूलक है। इसी कारण इसे अर्थापत्तिपूर्विका कहा गया है।

भाष्यकार ने जो जीवित देवदत्त के गृहाभाव दर्शन से उसके वहिर्भाव की अदृष्ट परिकल्पना को अर्थापत्ति का उदाहरण बताया है वह वस्तुत **अनुपलब्धिपूर्विका अर्थापत्ति** का उदाहरण है। प्रत्यक्षादि पॉचो प्रमाणो से अनिर्णीत तथा अभाव से निर्णीत गृहवृत्ति जीवित चैत्र के अभाव से जो चैत्र के वहिरस्त्वि की कल्पना की जाती है वही अनुपलब्धिपूर्विका अर्थापत्ति प्रमाण का उदाहरण है।[14]

अर्थापत्ति के द्वितीय प्रकार **श्रुतार्थापत्ति** को शब्दपूर्विका अर्थापत्ति भी कहा जाता है क्योकि श्रुतार्थापत्ति का यह प्रकार शब्द प्रमाण पर आधारित है। **पीनो दिवा न भुङ्क्ते** (यह पीन व्यक्ति दिन मे नही खाता है) इस वाक्य से जो **"रात्रि भोजन का विज्ञान होता है उसे श्रुतार्थपत्ति** कहते हैं।[15] प्रकृत मे **'पीनो दिवा न भुङ्क्ते'** यह श्रुतार्थापत्ति का उदाहरण दिया गया है तथा 'रात्रिभोजन स्वरूप प्रमेय को श्रुतार्थापत्ति का उदाहरण कहा जाता है। यहॉ यह उल्लेखनीय है कि श्रुतार्थापत्ति प्रमाणग्राहिणी होने से दृष्टार्थापत्ति से विलक्षण है– **"प्रमाणग्राहिणीत्वेन यस्मात् पूर्वविलक्षणा"**[16] और श्रुतार्थापत्ति के द्वारा दिन मे भोजन न करने वाले पीन देवदत्त के रात्रि भोजन स्वरूप प्रमेय' के ग्राहक रात्रौ भुङक्ते' इस वाक्य स्वरूप प्रमाण

का ग्रहण होता है। तपश्चात् रात्रिवाक्य स्वरूप प्रमाण के द्वारा रात्रिभोजनस्वरूप अर्थ का अवबोधन होता है। अत श्रुतार्थापत्ति से रात्रौ भुडक्ते इस वाक्य का ग्रहण होता है अथवा रात्रिभोजन रूप अर्थ का इसके समाधानार्थ **कुमारिल** का कथन है कि श्रुतार्थापत्ति को कुछ लोग अर्थगोचर (प्रमेयग्राहिणी) मानते है और कुछ लोग इसे शब्द स्वरूप प्रमाण की ग्राहिका (प्रमाणग्राहिणी) मानते है। अतएव कोई विरोध नही है। किन्तु सभी लोग श्रुतार्थापत्ति को आगम प्रमाण से अभिन्न मानते है[17] क्योकि प्राय सभी वैदिक व्यवहार शब्दपूर्विका श्रुतार्थापत्ति के द्वारा व्यवस्थित होते है। इसी कारण इसको आगम प्रमाण पर आधारित माना जाता है।[18]

प्राभाकर, भाट्टमत मे स्वीकृत उपर्युक्त दो प्रकार की अर्थापत्तियो को न मानकर एक ही अर्थापत्ति मानते है। उनके मत मे दृष्ट और श्रुत दोनो एक ही उपलब्ध अर्थ के बोधक है। अर्थात् दृष्ट शब्द के द्वारा जिस अर्थ का विधान किया जाता है उसी का श्रुत पद के द्वारा भी ग्रहण होता है। अत श्रुतार्थापत्ति एक पृथक भेद नहीं है।[19] **शालिकनाथ मिश्र** ने भी इस अनुपपद्यमान अर्थ की उपलब्धि कराने के लिए केवल एक ही शब्द का प्रयोग किया है।[20]

लेकिन प्राभाकर मीमासको का यह मत उचित नहीं प्रतीत होता है कि श्रुतार्थापत्ति का अन्तार्भाव दृष्टार्थापत्ति मे हो जाता है अत उसका अलग उपभेदत्व अमान्य है। वस्तुत शब्द प्रकरणमूलक अर्थापत्ति–श्रुतार्थपत्ति–का दृष्टार्थापत्ति से पृथक निरूपण करने का विशेष कारण है। भाष्यस्य **'दृष्ट'** पद का अर्थ है–शब्द से भिन्न प्रत्यक्षादि पॉच प्रमाणो द्वारा ज्ञात **'विषय**। **दृष्टार्थापत्ति** शब्द से सग्रहीत सभी अर्थापत्तियॉ प्रमेयग्राहिणी हैं। अर्थात् जीवित देवदत्त के गृहाभावदर्शन से उसके वहिरस्तित्त्व स्वरूप प्रमेय का ही ग्रहण होता है जबकि श्रुतार्थापत्ति के द्वारा दिवाभुञ्जान पीन देवदत्त के रात्रि भोजन स्वरूप प्रमेय' के ग्राहक रात्रौ भुड्क्ते इस वाक्यस्वरूप प्रमाण का ही ग्रहण होता है। तत्पश्चात् 'रात्रि वाक्यस्वरूप प्रमाण के द्वारा 'रात्रिभोजन' रूप अर्थ का बोध होता है। इस प्रकार श्रुतार्थापत्ति प्रमाणग्राहिणी है। दृष्टार्थापत्ति से विलक्षण होने के कारण उसका पृथक् अभिधान किया गया है[21] जो उचित ही है।

अद्वैत वेदान्त मे भी अर्थापत्ति के दृष्टार्थापत्ति और श्रुतार्थापत्ति नामक दो भेद माने गये है।[22] इनमे से **"जिस अर्थापत्ति का विषय दृष्ट होता है, उसे दृष्टार्थापत्ति कहते है।"** जैसे दूर से किसी वस्तु को रजत समझकर यदि हम कहे कि यह रजत है, किन्तु समीप जाकर उसे हाथ मे लेकर देखने के पश्चात् या किसी आप्त पुरूष के कहने पर यह कहे कि यह रजत् नही है, तो दोनो कथनो मे से एक असत्य होगा। दोनो एक ही समय पर सत्य नहीं हो सकते। अत दोनो प्रकार के कथनो मे अनुपपत्ति का समाधान इस कल्पना के द्वारा होगा कि दूर से जो देखा गया था, वह वास्तविक रजत नहीं था, क्योकि यदि वह वास्तविक होता तो समक्ष होने पर भी वास्तविक दिखाई देता। इस प्रकार दृष्टार्थापत्ति के कारण रजत् के मिथ्यात्व का निश्चय होता है।[23] किन्तु **भाट्ट मीमासको** का मत है कि जब दो परस्पर ज्ञानो मे से एक सामान्य हो और

दूसरा विशिष्ट तथा उनमे विरोध हो तो विरोध के समाधान के लिए दृष्टार्थापत्ति का सहारा लिया जाता है।

अद्वैत वेदान्तानुसार "सुने हुए वाक्य के मुख्य अर्थ के असम्भव होने पर उस अर्थ की उपपत्ति लगाने के लिए जो अन्य अर्थ की कल्पना की जाती है उसे श्रुतार्थापत्ति कहते है।"[24] जैसे आत्मवेत्ता शोक (ससार) से तर जाता है इस श्रुति मे शोक शब्द का अर्थ कर्तृत्वादि समस्त बन्ध है और ज्ञान से उसकी निवृत्ति होती है ऐसा श्रुति का आशय है। परन्तु श्रुति का यह अर्थ उत्पन्न नहीं होता क्योकि किसी वस्तु की निवृत्ति उसके ज्ञान से नही होती। पुस्तक का ज्ञान होने पर वह पुस्तक नष्ट हो जाये–ऐसा अनुभव किसी को नहीं होता। ज्ञान वस्तुत अज्ञान का ही निवर्तक होता है। इसलिए इस श्रुतार्थ की अनुपपत्ति होती है। अत उसकी उपपत्ति लगाने के लिए समस्त बन्ध ज्ञान निवर्त्य है यह सिद्ध करने के लिए बन्ध' अज्ञानमूलक है, ऐसी कल्पना कग्नी पडती है। यही श्रुतार्थापत्ति है।

धर्मराजाध्वरीन्द्र ने कुमारिल की तरह दृष्टार्थापत्ति के अतिरिक्त श्रुतार्थापत्ति को अर्थापत्ति का एक पृथक भेद तो माना ही है इसके साथ ही अभिधानानुपपत्ति तथा अभिहितानुपपत्ति के रूप मे उसके दो उपभेदो का भी उल्लेख किया है– **"श्रुतार्थापत्तिश्च द्विविधा–अभिधानानुपपत्तिरभिहितानुपपत्तिश्च।"**[25]

जब हम वाक्य का एक देश (एक भाग) सुन लेते है किन्तु उस एक पद के या कुछ भाग के अन्वय की अनुपपत्ति होने पर उस पद के साथ अन्वित होने योग्य किसी दूसरे पद की कल्पना (अध्याहार) करते है तो उसे **'अभिधानानुपपत्ति** कहते है–**"यत्र वाक्यैकदेश–श्रवणेऽन्वयाभिधानानुपपत्याऽन्वयाभिधानोपयोगि पदान्तर कल्प्यते तत्राभिधानानुपपत्ति।"**[26] जैसे, हम **'द्वारम्'** शब्द को सुनकर **'पिधेहि'** (लगा दो) पद का अध्याहार करते हैं, या **'विश्वजित् याग करे,** इस विधि के श्रवण करने पर **'स्वर्गकाम'** पद का अध्याहार करते है। यह अभिधानानुपपत्ति (शब्दानुपपत्ति) रूपा श्रुतार्थापत्ति का उदाहरण होगा।

जहॉ पर वाक्य से ज्ञात हुआ अर्थ अनुपपन्न (प्रमाणान्तर विरूद्व) है यह ज्ञात होने पर वाक्य अन्य अर्थ की कल्पना कराता है, वहॉ पर **अभिहितानुपपत्ति** सज्ञक अर्थापत्ति होती है– **"अभिहितानुपपत्तिस्तु यत्र वाक्यावगतोऽर्थोऽनुपपन्नत्वेन ज्ञात सन्नर्थान्तर कल्पति, तत्र द्रष्टव्या।"**[27] जैसे, 'स्वर्गेच्छु पुरूष को ज्योतिष्टोम यज्ञ करना चाहिए', इस वाक्य को कोई वक्ता कहे और ज्योतिष्टोम यज्ञ के स्वर्ग साधनत्व मे अनुपपन्न होने के कारण श्रोता को मध्यवर्ती **अपूर्व'** की कल्पना करनी पडे, तो यह अभिहितानुपपत्ति का उदाहरण होगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पूर्वमीमासा और अद्वैतवेदान्त दोनो ही दर्शनो मे अर्थापत्ति को पृथक् प्रमाण माना गया है। अर्थापत्ति के विवेचन मे कुमारिल भट्ट तथा अद्वैतवेदान्त के दृष्टिकोणो मे पर्याप्त साम्यता है फिर भी दोनो के मतो मे कुछ अतर दृष्टिगोचर होता है। वेदान्तपरिभाषाकार

दृष्टार्थापत्ति मे अनुपपन्नता के कारण का उल्लेख नही करते जबकि कुमारिल का कहना है कि दो तथ्यो मे पारस्परिक विराध ही अनुपत्ति का कारण है। श्रुतार्थापत्ति के सन्दर्भ मे कुमारिल का विचार है कि इसमे शब्द या वाक्य की कल्पना करनी पडती है, जबकि अद्वैत वेदान्तियो के अनुसार इसमे कभी शब्द की और कभी तथ्य की कल्पना करनी होती है। जैसे द्वार' इतना सुनकर श्रोता को पिधेहि (बन्द करो) इस शब्द की कल्पना करनी पडती है और पीन देवदत्त दिन मे नही खाता इस वाक्य को सुनकर श्रोता को देवदत्त के रात्रि भोजनपरक तथ्य की कल्पना करनी पडती है। अद्वैत वेदान्त का यह मत अधिक औचित्यपूर्ण प्रतीत होता है।

अर्थापत्ति का प्रामाण्य

पूर्व मीमासा और अद्वैत वेदान्त के अतिरिक्त बौद्ध न्याय वैशेषिक साख्य और योग दार्शनिको ने अर्थापत्ति के पृथक प्रमाणत्व का निषेध करते हुए उसका अन्तर्भाव अनुमान मे किया है। **बौद्ध दार्शनिको** के अनुसार अर्थापत्ति जन्य ज्ञान के दो स्पष्ट पक्ष हैं– ज्ञात पक्ष और अज्ञात पक्ष। प्रत्यक्षादि प्रमाणो से प्रमिति इसका ज्ञात पक्ष है। इस ज्ञात पक्ष की सिद्धि जिसके बिना नहीं हो सकती वह अर्थापत्ति का अज्ञात पक्ष है। यहाँ प्रश्न यह है कि अर्थापत्तिजन्य ज्ञान के इन दो पक्षो मे कैसा सम्बन्ध होता है? यदि दोनो के बीच तादात्म्य या तदुपपत्ति सम्बन्ध माना जाय, तो अर्थापत्तिपूर्वक होने वाली प्रतीति स्वभाव या कार्य हेतु से जन्य होने के कारण अनुमान हो जायेगी। यदि ज्ञात और अज्ञात पक्ष मे किसी प्रकार का प्रतिबन्ध न हो तो अर्थापत्तिपूर्वक अज्ञात अर्थ की प्रमिति ही नही हो सकती है। इसलिए अर्थापत्ति को अनुमान से पृथक् एक स्वतन्त्र प्रमाण स्वीकार करना युक्तियुक्त नही है– **"तस्मान्नर्थापत्ति प्रमाणान्तरमिति।"**[28]

बौद्धो की भॉति **नैयायिक** भी अर्थापत्ति को स्ववन्त्र प्रमाण न मानकर उसे अनुमान का एक रूप मानते है। **न्यायसूत्रकार** ने अनुमान मे अर्थापत्ति का अन्तर्भाव किया है।[29] इसकी व्याख्या करते हुए **भाष्यकार** ने लिखा है कि अर्थापत्ति अनुमान से भिन्न नहीं है। जिस प्रकार किसी वस्तु के प्रत्यक्ष होने के पश्चात् उसके द्वारा अप्रत्यक्ष वस्तु का ज्ञान होना अनुमान कहलाता है, उसी प्रकार एक वाक्य के अर्थों का बोध होने पर उससे सम्बद्ध दूसरी वस्तु का भी बोध हो जाता है। इसलिए अर्थापत्ति अनुमान से भिन्न प्रमाण नही है।[30] **उद्योतकर** तथा **वाचस्पति मिश्र** ने श्रुतार्थापत्ति के प्रचलित उदाहरण का प्रयोग करते हुए भाष्यकार के समर्थन मे लिखा है कि प्रत्यक्षगम्य देवदत्त की पुष्टता (मोटेपन) से अप्रत्यक्ष रात्रि भोजन का ज्ञान अनुमान है, अर्थापत्ति नही।[31] भाष्यकार के अर्थापत्ति लक्षण एव उदाहरण (जहाँ किसी एक अर्थ के कथन से अन्य अर्थ का लाभ हो जाता है, उसी का नाम अर्थापत्ति है। जैसे मेघो के नही रहने से वर्षा नही होती,)[32] से सिद्ध होता कि मेघो के नहीं होने से वृष्टि नहीं होती है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि अर्थापत्ति के रूप मे उन्हे श्रुतार्थापत्ति ही इष्ट थी जिसका अन्तर्भाव उन्होने अनुमान मे किया है।

उद्योतकर एव वाचस्पति मिश्र क उदाहरण निरूपण स भी यही बात ज्ञापित होती है।

उदयन ने भी अर्थापत्ति क अनुमान मे समाविष्ट किये जाने का समर्थन किया है। उनके अनुसार जिसे अर्थापत्तिवादियो ने अनुपपद्यमान तथा उपपादक कहा है वे ही नियम्य या व्याप्य तथा नियन्ता या व्यापक है। इसलिए अनियम्य अव्याप्य मे अनुपपद्यमानता तथा अनियन्ता व्यापक मे उपपादकता गृहीत नही की जा सकती अपितु अनुपपद्यमान–व्याप्य से ही उपपादक–व्यापक का ज्ञान होता है। इसलिए अर्थापत्ति को अनुमान मे समाविष्ट किया जा सकता है।[33] इसकी व्याख्या करते हुए **हरिदास** ने लिखा है कि जीवित देवदत्त घर मे नही है, इस ज्ञान के बाद बाहर है' इत्याकारक जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसी को अर्थापत्ति कहा जाता है। इसमे भी अनियम्य–अव्यापक की अयुक्ति अर्थात अनुपपत्ति नहीं है तथा अनियन्ता अव्यापक अर्थात् उपपादक नही होता। इसका कारण यह है कि व्यापक के अभाव अर्थात् उपपादकीभूत अर्थ 'वहिर्सत्ता का अभाव होने पर व्याप्य अर्थात् अनुपपद्यमान अर्थ– गृहाभाव का भी सर्वदा अभाव पाया जाता है। इस प्रकार अनुपपत्ति ज्ञान मे व्यतिरेक व्याप्ति ज्ञान कारण होने से उक्त दृष्टार्थापत्ति को **केवल व्यतिरेकी अनुमान** मे सुगमतापूर्वक समाविष्ट किया जा सकता है। अनुमान की प्रकिया इस प्रकार होगी–

1 जीवित देवदत्त बाहर है **प्रतिज्ञा।**

2 जीवित होने पर भी घर मे उपस्थित न होने से **हेतु।**

3 जो–जो व्यक्ति बाहर नही रहता है वह–वह जीवित होने पर घर मे अनुपस्थित नहीं, अपितु उपस्थित ही रहता है। जैसे हम स्वय अथवा गृह मे विद्यमान यज्ञदत्त आदि **उदाहरण।**

इस व्यतिरेक व्याप्ति का ग्रहण स्वय हमको अपने शरीर मे हो जाता है क्योकि जब हम घर मे नही रहते तो बाहर अवश्यमेव रहते है। इसलिए घर मे विद्यमान यज्ञदत्त आदि को भी व्यतिरेक उदाहरण बनाया जा सकता है।[34] इस रीति से श्रुतार्थापत्ति को भी केवल व्यतिरेकी अनुमान मे समाविष्ट किया जा सकता है–

प्रतिज्ञा देवदत्त रात्रि मे भोजन करता है

हेतु दिन मे भोजन न करते हुए पुष्ट होने से।

उदाहरण जो–जो व्यक्ति रात तथा दिन मे भोजन नही करता, वह–वह पुष्ट भी नहीं दिखाई देता। जैसे, नवरात्र उपवासी यज्ञदत्त।

इस प्रकार व्यापक उपपादकीभूत अर्थ रात्रिभोजन के अभाव मे व्याप्य अनुपपद्यमान अर्थ–पुष्टत्व का भी विरह पाया जाता है। अत अनुपपत्तिमूलक अर्थापत्ति को अनुमान मे अन्तर्भूत किया जा सकता है। **जयन्त भट्ट** ने भी कुमारिल समर्थित छ अर्थापत्तियो (दृष्टार्थापत्ति के पॉच

उपभेद एव श्रुतार्थापत्ति) का पूर्व पक्ष मे वर्णन करके उक्त दोनो अर्थापत्तियो का निराकरण करके इनका अन्तर्भाव अनुमान मे किया है।[35] श्रुतार्थापत्ति का अनुमान से अभेद प्रदर्शित करते हुए वे कहते है कि अर्थ की अनुपपत्ति होने से जो वचनैक देश की कल्पना की जाती है वह भी कार्यलिग द्वारा निष्पादित हो सकती है। जैसे– क्षितिधरकन्दरा रूप अधिकरण मे कार्य धूम का अवलोकन करने पर उसके कारण अग्नि का अनुमान होता है वैसे ही आगम द्वारा पीनत्व का आख्यान होने पर कार्य अवधारण से, उसके कारण भोजन का भी अनुमान हो जाता है। इसलिए इसे अनुमान से विशेष नही माना जा सकता।[36] प्रभाकर द्वारा स्वीकृत अर्थापत्ति को जयन्त भटट ने व्यतिरेकी अनुमान मे अन्तर्भावित किया है।[37] **आचार्य गगेश उपाध्याय** ने शालिकनाथ सम्मत सशयकारणक और भाटट मीमासक, प्रभाकर एव अद्वैतवेदान्तियो द्वारा समर्थित अनुपपत्तिकारणक अर्थापत्तियो को पूर्व पक्ष मे उपस्थित करते हुए दोनो को व्यतिरेकी अनुमान मे अन्तर्भावित किया है।[38] **केशव मिश्र**[39] तथा **विश्वनाथ**[40] ने भी अर्थापत्ति का अन्तर्भाव अनुमान मे किया है।

लेकिन **मीमासको** एव **अद्वैत वेदान्तियो** ने बौद्धो नैयायिको एव वैशेषिको का खण्डन करके अर्थापत्ति की पृथक् प्रमाणता का प्रतिपादन किया है। मीमासको के अनुसार नैयायिको ने जिस प्रक्रिया के द्वारा अर्थापत्ति का अन्तर्भाव अनुमान मे किया है वह अन्तर्भाव उचित नही है क्योकि अनुमान मे पक्ष मे रहने वाले एक धर्म के द्वारा पक्ष मे ही रहने वाले धर्मान्तर का अनुमान किया जाता है किन्तु गृहगत अभाव न तो देवदत्त का धर्म है न वहिर्देश का। अत गृहाभावरूप हेतु देवदत्त पक्ष मे न रहने के कारण देवदत्त की वहिर्सत्ता का अनुमापक वैसे ही नहीं हो सकता, जैसे पर्वत मे अवृत्तिधूम के द्वारा पर्वतवृत्त अग्नि की अनुमिति नहीं होती। **शालिकनाथ मिश्र** ने अन्यान्य हेतुओ की सम्भावना दिखाकर उनमे दोष प्रदर्शित करते हुए उसका निराकरण किया है।[41] यदि किसी ज्योतिषविद् ने देवदत्त के लिए जीवित होने या विद्यमान होने का कथन किया हो, तो इतने मात्र से देवदत्त की वहिर्सत्ता का अनुमान नहीं किया जा सकता, क्योकि जीवित होना या विद्यमान होना स्वय अपने मे सदिग्ध है जो कि देवदत्त की वहिर्सत्ता का अनुमापक वैसे नही हो सकता, जैसे कि सदिग्ध धूम अग्नि का।

इसी प्रकार गृहाभाव को भी हेतु नही बनाया जा सकता– **"न च गृहाभावो वहिर्देशसम्बन्धावगमे लिङ्गमित्युपपन्नम्।"**[42] गृहाभाव के लिए **वार्तिककार** का कथन है कि वह पक्ष का धर्म नही है। यदि स्वनिरूपक प्रतियोगित्व–सम्बन्ध से गृहाभाव को देवदत्त का धर्म माना जाता है, तब भी केवल गृहाभाव देवदत्त की वहिर्सत्ता सभव नहीं होती। जीवन विशिष्ट गृहाभाव को भी गृहाभाव की अनुमिति का जनक नहीं माना जा सकता। **कुमारिल भट्ट** ने भी यही दोष उपन्यस्त किया है–

"गृहेभावस्तु यश्शुद्धो विद्यमानत्ववर्जित ।"
स मृतेष्वपि दृष्टत्वाद्वहिर्वृत्तेन साधक ।।[43]

शुद्ध गृहाभाव वहिर्भाव का साधक नही हो सकता क्योकि मृत देवदत्त मे रहने वाले गृहाभाव से व्याभिचार देखा जाता है। जीवन विशिष्ट गृहाभाव के द्वारा भी बहिर्सत्ता का अनुमान नही हो सकता क्योकि जीवन सदिग्ध होने के कारण जीवनविशिष्ट गृहाभाव भी सदिग्ध हो जाता है। सदिग्ध हेतु कभी भी साध्य का साधक नही माना जाता है– **जीव च विशेषणभूत सन्दिग्धमिति न तद्विशिष्टस्य लिङ्गत्वम्"।**[44]

प्रभाकर ने अर्थापत्ति का अनुमान से भेद करने के लिए कहा है कि अनुमान व्याप्ति पर आधारित होता है किन्तु अर्थापत्ति व्याप्ति पर आधरित नही होता। इसके अतिरिक्त कार्य से कारण के अनुमान मे कार्य अनुपपन्न रहता है और कारण का निर्देश उसका समाधान करता है जबकि अर्थापत्ति मे कारण अनुपपन्न होता है और कार्य की कल्पना से उसका समाधान किया जाता है। पुनश्च अनुमान मे विचार प्रक्रिया अनुपपन्न से 'उपपादक की ओर बढती है, किन्तु अर्थापत्ति मे विचार प्रकिया उपपादक' से अनुपपन्न की ओर बढती है।[45] जैसे जीवित चैत्र के गृहाभाव से उसके वहिर्भाव का ज्ञान होता है।

यहॉ प्रभाकर व कुमारिल के मतो मे अतर दिखाई देता है। उपरोक्त सन्दर्भ मे कुमारिल का मत प्रभाकर के मत से उल्टा है। **प्रभाकर यह मानते है कि जीवित चैत्र के गृहाभाव से उसके वहिर्भाव का ज्ञान होता है, जबकि कुमारिल के अनुसार जीवित चैत्र के वहिर्भाव की कल्पना करने से उसके गृहाभाव का समाधान होता है।** इससे स्पष्ट होता है कि कुमारिल और प्रभाकर द्वारा प्रस्तुत व्याख्याओ मे कुछ अतर है। वस्तुत कुमारिल ने भाष्य के क्रम मे परिवर्तन नहीं किया जबकि प्रभाकर ने भाष्य के शब्दो का क्रम बदल दिया[46] और भाष्य का यह आशय बताया कि यदि कोई दृष्ट या श्रुत अर्थ ऐसे किसी दूसरे अर्थ के बोध का साधन बनता है जिसकी सगति प्रथम अर्थ की कल्पना किये बिना ठीक नहीं बैठती, तो यह अर्थापत्ति प्रमाण कहा जायेगा। इस प्रकार प्रभाकर का मत मूल भाष्य के अनुरूप नहीं कहा जा सकता।

अद्वैत वेदान्तियो का भी कथन है कि अनुमान मे अर्थापत्ति का अन्तर्भाव नहीं हो सकता, क्योकि अन्वय व्याप्ति का ज्ञान न होने से अन्वयि लिग (अनुमान) मे इसका अन्तर्भाव नही होता। व्यतिरेकी अनुमान मे इसके अन्तर्भाव का प्रश्न ही नही उठता, क्योकि व्यतिरेकी अनुमान का निराकरण करके अद्वैतवेदान्त मे उसका अन्तर्भाव अर्थापत्ति मे कर दिया गया है। अत अद्वैत वेदान्तानुसार भी अर्थापत्ति का अत्तर्भाव अनुमान मे नही हो सकता– **"न चेयमर्थापत्तिरनुमानेऽन्तर्भवति। अन्वयव्याप्त्य ज्ञानेनान्वयिन्यनन्तर्भावात्। व्यतिरेकिणश्चानुमानत्व प्रागेव निरस्तम्"।**[47]

अर्थापत्ति के विषय मे अब तक के विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि समग्र भारतीय दर्शन मे केवल पूर्वमीमासा और अद्वैत वेदान्त मे अर्थापत्ति को पृथक् प्रमाण माना गया है। उभय मत

मे उक्त प्रमाण का स्वरूप लगभग समान है। वस्तुत **प्रत्यक्षादि प्रमाण से जिस अर्थ की प्रतीति होती है और वह प्रतीत अर्थ जिसके बिना सिद्व नही हो पाता है तब उस अर्थ की कल्पना के लिए अर्थपत्ति नामक प्रमाण को स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है।**

अर्थापत्तिवादी दार्शनिको मे अर्थापत्ति के भेद के बारे मे विवाद है। **प्रभाकर मिश्र** केवल दृष्टार्थापत्ति को ही अर्थापत्ति मानते हैं। उनके अनुसार दृष्ट और श्रुत दोनो एक ही अर्थ के बोधक है। अत श्रुतार्थपत्ति के रूप मे अर्थापत्ति के अन्य भेद को कल्पित करने की आवश्यकता नही है।[48] लेकिन प्रभाकर का यह मत उचित नहीं है क्योकि **दृष्टार्थापत्ति'** शब्द से सग्रहीत सभी अर्थापत्तियॉ **प्रमेयग्राहिणी** है। अर्थात् जीवित देवदत्त के गृहाभावदर्शन से उसके वहिरस्तिव स्वरूप **प्रमेय** का ही ग्रहण होता है जबकि श्रुतार्थापत्ति के द्वारा दिवाभुञ्जान पीन देवदत्त के रात्रि भोजन स्वरूप **'प्रमेय** के ग्राहक **'रात्रौ भुङ्क्ते** इस वाक्य स्वरूप **'प्रमाण'** का ग्रहण होता है। तत्पश्चात् **रात्रि** वाक्यस्वरूप प्रमाण के द्वारा **रात्रि भोजन** रूप अर्थ का बोध होता है। इस प्रकार श्रुतार्थापत्ति प्रमाणग्रहिणी है। दृष्टार्थापत्ति से विलक्षण होने के कारण उसका पृथक अभिधान उचित ही है।[49] इसी कारण भाटट मीमासा और अद्वैत वेदान्त मे श्रुतार्थापत्ति को अर्थापत्ति का अन्य प्रकार माना गया है। लेकिन दोनो की व्याख्याओ मे थोडा अतर है। भाटट मीमासको के अनुसार श्रुतार्थापत्ति मे **शब्द या वाक्य की कल्पना करनी पड़ती है, जबकि अद्वैत वेदान्तियो के अनुसार इसमे कभी शब्द की तथा कभी तथ्य की कल्पना करनी पड़ती है। अद्वैत वेदान्तियो** का यह मत अधिक तर्कसगत हैं क्योकि कभी–कभी तथ्य की कल्पना आवश्यक हो जाती है, जहॉ शब्द या वाक्य से काम नहीं चल सकता। अद्वैत वेदान्त का यह मत उचित प्रतीत होता है।

अर्थापत्ति को न मानने वाले दार्शनिक अर्थापत्ति का अन्तर्भाव अनुमान मे करते हैं। नैयायिक अर्थापत्ति प्रमाण का अन्तर्भाव केवल व्यतिरेकी अनुमान मे करते है। किन्तु मीमासक व अद्वैत वेदान्ती केवल व्यतिरकी अनुमान को नहीं मानते, इसीलिए वे अर्थापत्ति को स्वतन्त्र प्रमाण मानते है। वस्तुत अनुमान से पृथक् अर्थापत्ति को स्वतन्त्र प्रमाण मानना उचित ही है। इसका कारण यह है कि अनुमान व्याप्ति पर आधारित होता है, जबकि अर्थापत्ति नहीं। दूसरी बात यह है कि अनुमान की प्रक्रिया अनुपन्नता पर आधारित नहीं है, जबकि अर्थापत्ति का मुख्य आधार ही अनुपन्नता है। इससे सिद्ध होता है कि अर्थापत्ति अनुमान की तरह ही एक स्वतन्त्र प्रमाण है। अत इसका अन्तर्भाव अनुमान मे नही किया जा सकता।

वस्तुत अर्थापत्ति की उपयोगिता सिद्ध है। **मीमासको** के अनुसार इसका उपयोग वैदिक मन्त्रो की व्याख्या करने तथा अनुच्चरित शब्द या अर्थों की कल्पना करके उनका अर्थ समझने के लिए किया जा सकता है। मीमासक मरणोपरान्त आत्मा की अमरता मे विश्वास भी अर्थापत्ति के आधार पर ही करते हैं। **अद्वैत वेदान्तियो** का माया का सिद्धान्त भी बहुत कुछ अर्थापत्ति पर

ही आधारित है। अद्वैत वेदान्ती उपनिषदीय महावाक्यो की व्याख्या म भी अर्थापत्ति को उपयोगी मानत हे। अद्वैत वेदान्ती अनुभूत तथ्यो की व्याख्या करन के लिए कुछ अदृष्ट तथ्यो प सिद्धातो की कल्पना करने मे भी अर्थापत्ति का प्रयोग करते है।[50] इससे स्पष्ट होता है कि एक पृथक प्रमाण के रूप मे अर्थापत्ति की उपयोगिता सिद्ध है।

सदर्भ-ग्रथ-सूचिका

1 तर्कभाषा मिश्र व्याख्या–शुक्ल बदरीनाथ मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी 1976 पृ० 157–158।

2 शाबरभाष्य 115 शबर स्वामी आनन्दाश्रम मुद्रणालय पूना 1929 पृष्ठ 30।

3 श्लोकवार्तिक पर काशिका राष्ट्रीय मुद्रणालय त्रिवेन्द्रम पृ० 160।

4 प्रकरणपचिका मिश्र शालिकनाथ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय मुद्रणालय काशी 1961 पृष्ठ 278–79।

5 वही पृष्ठ 280।

6 वेदान्तपरिभाषा धर्मराजाध्वरीन्द्र व्याख्या–मुसलगॉवकर श्रीगजानन शास्त्री चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी 1983 पृ० 265।

7 वही पृष्ठ 265।

8 वही पृ० 267।

9 श्लोकवार्तिक अर्था–3 भट्ट कुमारिल मद्रास विश्वविद्यालय प्रकाशन मद्रास 1940।

10 वही।

11 श्लोकवार्तिक अर्था–3 पर काशिका टीका मद्रास विश्वविद्यालय प्रकाशन मद्रास 1940।

12 श्लोकवार्तिक अर्था–4 भट्ट कुमारिल मद्रास विश्वविद्यालय प्रकाशन मद्रास 1940।

13 वही अर्था० 6–7।

14 वही अर्था० 8–9 का पूर्वार्द्ध।

15 वही अर्था० 51।

16 वही अर्था० 2।

17 वही अर्था० 52।

18 वही अर्था० 53।

19 बृहती 115 मिश्र प्रभाकर चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी 1929 पृष्ठ 115।

20 प्रकरणपचिका मिश्र, शालिकनाथ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय मुद्रणालय काशी 1961 पृ० 278–79।

21 श्लोकवार्तिक अर्थापत्ति–2 भट्ट कुमारिल, मद्रास विश्वविद्यालय प्रकाशन मद्रास 1940।

22 वेदान्तपरिभाषा धर्मराजाध्वरीन्द्र व्याख्या–मुसलगॉवकर श्री गजानन शास्त्री चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी 1983 पृष्ट 268।

23 वही पृ० 268।

24 वही पृ० 263।

25 वही पृ० 270।

26 वही पृ० 271।

27 वही पृ० 273।

28 रत्नकीर्ति निबन्धावली रत्नकीर्ति के०पी० जायसवाल अनुशीलन। सस्था पटना 1955 पृ० 104।

29 न्यायसूत्र 2 2 2 गौतम कलकत्ता सस्कृत ग्रन्थमाला ग्रन्थाक 18 कलकत्ता 1936।

30 न्यायभाष्य वात्स्यायन कलकत्ता सस्कृत ग्रन्थमाला ग्रन्थाक 18 कलकत्ता 1936 पृ० 576।

31 न्यायवार्तिक उद्योतकर कलकत्ता सस्कृत ग्रन्थमाला ग्रन्थाक 18 कलकत्ता 1936 पृ० 576

32 न्यायभाष्य वात्स्यायन कलकत्ता सस्कृत ग्रन्थमाला ग्रन्थाक 18 कलकत्ता 1936 पृ० 573।

33 न्यायकुसमाजलि 3 19 उदयन चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी 1957।

34 हरिदासवृत्ति हरिदास चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी 1962 पृ० 140।

35 न्यायमजरी–5 भट्ट जयन्त चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी 1936 पृ० 137–38।

36 वही पृ० 42।

37 वही पृ० 111–13।

38 तत्त्वचिन्तामणि उपाध्याय गगेश चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी 1917 141–49 154–59।

39 तर्कभाषा मिश्र केशव चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी 1953 पृ० 115–16।

40 सिद्धातमुक्तावली विश्वनाथ चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी 1951 पृ० 187–90।

41 प्रकरणपचिका मिश्र शालिकनाथ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय मुद्रणालय काशी 1961 पृ० 273।

42 वही पृ० 274।

43 श्लोकवार्तिक अर्थापत्ति–21 भट्ट कुमारिल मद्रास विश्वविद्यालय प्रकाशन मद्रास 1940।

44 प्रकरणपचिका मिश्र शालिकनाथ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय मुद्रणालय 1961 पृ० 274।

45 बृहती मिश्र प्रभाकर चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी 1929 पृ० 86।

46 वही पृ० 85।

47 वेदान्तपरिभाषा धर्मराजाध्वरीन्द्र व्याख्या–मुसलगॉवकर श्री गजानन शास्त्री चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी 1983 पृ० 274–75।

48 बृहती मिश्र प्रभाकर चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी 1929 पृ० 115।

49 श्लोकवार्तिक अर्थापत्ति–2 भट्ट, कुमारिल मद्रास विश्वविद्यालय प्रकाशन, मद्रास 1940

50 *The six ways of knowing, Datta, D M , Calcutta University Press, 2nd edition, Culcutta 1960, P 240*

● ●

अध्याय सप्तम

अनुपलब्धि प्रमाण

अनुपलब्धि प्रमाण

अभाव प्रमा के साधकतम् कारण को **अनुपलब्धि** (अभाव) प्रमाण कहते हैं। प्रत्यक्षादि प्रमाणो से ज्ञेय पदार्थो के अभाव का ज्ञान जिस साधन से होता है उसे अनुपलब्धि या अभाव प्रमाण कहते है। अभाव के पृथक् प्रमाणत्व को लेकर दार्शनिको मे मतभेद है। प्राभाकर मीमासक न्याय–वैशेषिक साख्य–योग बौद्ध एव जैन दार्शनक अभाव या अनुपलब्धि को पृथक प्रमाण नही मानते है, जबकि **भाट्ट मीमासक** एव **अद्वैत वेदान्ती** इसे पृथक् प्रमाण मानते हैं।

वस्तुत अनुपलब्धि के प्रामाण्य के बारे मे विवाद के मूल मे अभाव का स्वरूप है। अभाव के स्वरूप के सम्बन्ध मे भारतीय दार्शनिको मे पर्याप्त मतभेद रहा है। **नैयायिको** के अनुसार अभाव एक पदार्थ है और उसका ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से होता है। **वैशेषिको** के अनुसार भी अभाव एक पदार्थ है, किन्तु उसका ज्ञान अनुमान से होता है। **बौद्धो** के अनुसार अभाव कल्पना मात्र है और उसका ज्ञान अनुमान से होता है। **प्रभाकर मीमासको** और **साख्यो** के विचार मे सत्ता और असत्ता ये एक ही वस्तु के दो रूप है। अभाव कोई पदार्थ नहीं है, किन्तु उसका ज्ञान प्रत्यक्ष से हो जाता है। **भाट्ट मीमासक** और **अद्वैत वेदान्ती** मानते हैं कि अभाव एक पदार्थ है और उसका ज्ञान अनुपलब्धि प्रमाण से होता है। भाट्ट मीमासक अभाव को अधिष्ठान से अतिरिक्त तत्त्व मानते हैं। वे प्राभाकर मीमासको और साख्य दार्शनिको की भॉति अभाव को अधिकरण स्वरूप (आधार स्वरूप) नही मानते। कुमारिल के अनुसार सभी वस्तुऍ सद् (भाव) एव असद् (अभाव) रूप से दो प्रकार की होती हैं। इनमे से भावात्मक पदार्थों का ज्ञान प्रत्यक्षादि भावात्मक प्रमाणो से और अभावात्मक पदार्थों का ज्ञान अभावात्मक प्रमाण से होता है। यही अभावात्मक प्रमाण अनुपलब्धि के नाम से जाना जाता है।

अनुपलब्धि का लक्षण

पूर्व मीमासा दर्शन मे प्राभाकर मीमासको को छोडकर अन्य सभी मीमासक अभाव (अनुपलब्धि) को पृथक प्रमाण मानते है। **आचार्य जैमिनि** ने अनुपलब्धि प्रमाण का कोई लक्षण नहीं दिया है, परन्तु उनके मीमासा सूत्रो पर भाष्य लिखने वाले **आचार्य शबर** ने अनुपलब्धि प्रमाण के लक्षण का उल्लेख अपने **"शाबरभाष्य"** मे किया है।

आचार्य शबर स्वामी के अनुसार अनुपलब्धि प्रमाण वहॉ होता है, जहॉ प्रत्यक्षादि प्रमाणो द्वारा बोध्य वस्तु का अभाव हो। उनके शब्द है– चक्षु आदि इन्द्रियो के सन्निकर्ष मे जो वस्तु न आये, उस वस्तु के विषय मे 'यह नहीं है' इत्याकारक ज्ञान जिस (साधकतम्) कारण से होता है,

उसे अनुपलब्धि प्रमाण कहते है– **'अभावोऽपि प्रमाणाभावोऽपि नास्त्यीत्यस्यार्थस्य असन्निकृष्टस्य ।'**[1]

आचार्य कुमारिल भट्ट के अनुसार अभाव के सन्दर्भ मे अन्य पॉच प्रमाण चरितार्थ नही हो सकते। अत उसके ज्ञान के लिए अनुपलब्धि को प्रमाण मानना आवश्यक है। उनका कथन है कि वस्तु की सत्ता के अवबोधनार्थ प्रत्यक्षादि प्रमाणो से जहॉ वस्तु–रूप का ज्ञान नही होता है, वहॉ अनुपलब्धि की प्रमाणता सिद्ध होती है –

'प्रमाणापञ्चक यत्र वस्तुरूपे न जायते।
वस्तुसत्तावबोधार्थ तत्राभावप्रमाणता ।।'[2]

अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाणो से जब किसी वस्तु के अस्तित्त्व की सिद्धि नहीं होती है तब अनुपलब्धि प्रमाण के द्वारा उस वस्तु के न होने का ज्ञान होता है। यह ज्ञान जिस साधन से होता है उसे ही अनुपलब्धि प्रमााण कहते है।

अद्वैत वेदान्तानुसार ज्ञान रूपी करण से उत्पन्न न होने वाले अभावानुभव के असाधारण कारण को अनुपलब्धि प्रमाण कहा जाता है– **'ज्ञानकरणाजन्याभावानुभवासाधारणकरणमनुपलब्धि रूप प्रमाणम्।'**[3] **धर्मराजाध्वरीन्द्र** के अनुसार अनुमानादिजन्य अतीन्द्रिय अभाव मे अतिव्याप्ति की निवृत्ति हेतु लक्षण मे ज्ञानकरणाजन्यत्व विशेषण का प्रयोग किया गया है। अनुमान व्याप्तिज्ञान–जन्य होता है, जबकि अनुपलब्धि मे ऐसा नही होता–**'अनुमान जन्यातीन्द्रियाभावानुभव हेतावनुमानादावतिव्याप्तिवारणाय अजन्यान्त पदम्।'**[4] धर्मराजाध्वरीन्द्र का यह भी कहना है कि ईश्वर, काल, अदृष्टादि की कारणता तो सभी कार्यों के साथ रहती है अत उनके निवारण के लिए अनुपलब्धि के लक्षण मे 'असाधारण' शब्द को समाविष्ट किया गया है। इसी प्रकार अभाव की स्मृति मे अतिव्याप्ति की निवृत्ति के लिए अनुभव शब्द का प्रयोग किया गया है–**'अदृष्टादौ साधारणकारणेऽतिव्याप्तिवारणाय असाधारणेति पदम्। अभावस्मृत्यसाधारण हेतु–सस्कारेऽतिव्याप्तिवारणाय अनुभवेति विशेषणम्।'**[5]

अनुपलब्धि प्रमाण के स्वरूप के बारे मे ऊर्ध्व विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि भाट्ट मीमासको एव अद्वैत वेदान्तियो के अनुसार किसी स्थान विशेष पर किसी वस्तु के विद्यमान न होने की स्थिति मे उस वस्तु का अभाव माना जायेगा और उस अभाव का ज्ञान जिस साधन से होता है, वही अनुपलब्धि प्रमाण है। जैसे, किसी ऐसे स्थल पर जहॉ हमने पहले घट देखा हो, यदि अन्य समस्त साधनो के विद्यमान होने पर भी घट न दिखाई दे रहा हो, तो यह कहा जा सकता है कि इस समय उस स्थल पर घटाभाव है और उस अभाव का बोध अनुपलब्धि प्रमाण से होता है।

अनुपलब्धि प्रमाण के विवेचन स्थल पर सहज ही यह जिज्ञासा होती है कि क्या अभाव का ज्ञान सदैव अनुपलब्धि प्रमाण से ही होता है? यदि नही, तो अनुपलब्धि प्रमाण से अभाव का ज्ञान कब होता है? **भाट्ट मीमासको** एव **अद्वैत वेदान्तियो** के अनुसार अभाव की ग्राहक

'योग्यानुपलब्धि है। **पार्थसारथि मिश्र** का कहना है कि अभाव मे दृश्यादर्शन (योग्यानुपलब्धि) ही प्रमाण है केवल अदर्शन नही– **"दृश्यादर्शनमभावे प्रमाण नादर्शनमात्रम्।"**[6] भूतलादि आश्रय स्वरूप वस्तु के सद्‌भाव का इन्द्रिय जनित ज्ञान एव अभाव के घटादि प्रतियोगियो का स्मरण– इन दोनो के साहाय्य से ही उक्त अभाव की प्रतीति होती है–

गृहीत्वा वस्तुसद्‌भाव स्मृत्वा च प्रतियोगिनम्।
मानस नास्ति ज्ञानत्व जायते ज्ञान प्रेक्षणात्।।"[7]

डॉ गगानाथ झा ने इस वार्तिक से सम्बन्धित टिप्पणी मे अनुपलब्धि ज्ञान की प्रक्रिया को इस प्रकार से समझाया है– 1 आश्रय का नेत्र से प्रत्यक्ष होता है, 2 (जो पूर्व दृष्ट है तथा यदि वह उपस्थित होता तो उसका दर्शन हो सकता था) का (इस रूप मे) स्मरण होता है। तत्पश्चात्, 3 मानसिक प्रक्रिया के द्वारा घटाभाव का ज्ञान होता है।[8] उक्त तीनो की सहायता से ही अभाव का ज्ञान सभव है। आश्रय के गृहीत होने तथा प्रतियोगी घट के स्मृत होने पर ही दृश्यादर्शन की सहायता से ही मन के द्वारा (मानसिक प्रक्रिया के द्वारा) अभाव का ज्ञान होता है। इस अभाव के ज्ञान मे इन्द्रिय की शक्ति की कल्पना नही करनी चाहिए– **"गृहीते चाक्ष्ये प्रतियोगिनि च स्मृते स्थानीयेन दृश्यादर्शनसहायेन मनसेवाभावज्ञानजन्मोपपत्तेर्नेन्द्रियस्याभावे शक्ति शक्त्या कल्पयितुम्"**।[9] यदि कोई यह आक्षेप करे कि योग्यानुपलब्धि (दृश्यादर्शन) नामक कोई प्रमाण नही है तो इसके उत्तर मे **वार्तिककार** का कहना है कि 'स्वरूप' अर्थात् आधारभूत देश को देखकर कोई व्यक्ति पूर्वाधिगत देश का स्मरण करते हुए वहाँ अन्य वस्तु के अभाव का प्रतिपादन करता है। अर्थात जब कोई व्यक्ति केवल स्वरूप को (आधारभूत देश मात्र को) देखता है, उस देश मे व्याघ्रादि हिस्र पशुओ को नही देखता है तो व्याघ्रादि प्रतियोगियो का स्मरण सभव न होने के कारण उनके अभाव का ग्रहण भी सभव नही हो पाता। देशमात्र को देखकर जाने के बाद यदि कोई व्यक्ति उससे पूछता है कि प्रात काल आपके वहाँ उपस्थित रहने पर व्याघ्र, गज सिह आदि आये थे, तब वह पुरूष उस अधिगत देश का स्मरण करते हुए व्याघ्रादि के अभाव का उसी समय अनुभव करता है जिसका उसे पूर्वानुभव न था। इस प्रकार व्याघ्रादि के अभाव का ज्ञान वह अनुपलब्धि प्रमाण से करता है।

अद्वैत वेदान्त दर्शन मे भी योग्यानुपलब्धि को ही अभाव का ग्राहक (ज्ञापिका) माना गया है। धर्माधर्म जैसी वस्तुओ मे प्रत्यक्षयोग्यता नही होती, अत उनकी अनुपलब्धि योग्यानुपलब्धि नहीं कहला सकती। वस्तुत प्रत्यक्ष योग्य वस्तु के ही अभाव का ज्ञान अनुपलब्धि प्रमाण से होता है न कि प्रत्यक्षायोग्य वस्तु के अभाव का भी–**"न चातीन्द्रियाभावानुमिति– स्थलेऽप्यनुपलब्ध्यैवाभावो गृह्यता विशेषाभावादिति वाच्यम्। धर्माधर्माद्यनुपलब्धिसत्त्वेऽपि तदभावानिश्चयेन योग्यानुपलब्धेरेवाभाव– ग्राहकत्वात्।।"**[10] ज्ञान के कारणो के रहते हुए भी ज्ञानयोग्य पदार्थ

का ज्ञान न होना उस पदार्थ के अभाव के ज्ञान का कारण होता है। अत्यन्त दूरवर्ती पदार्थ का भी ज्ञान नही हुआ करता किन्तु उसका अभाव नही माना जा सकता क्योकि वह ज्ञान के योग्य ही नहीं है। अत यह सिद्ध होता है कि ज्ञानयोग्य पदार्थ की अनुपलब्धि ही उस पदार्थ के अभाव को सिद्ध कर सकती है न कि ज्ञान के अयोग्य पदार्थ की अनुपलब्धि।

अनुपलब्धि का प्रामाण्य

इस अध्याय के प्रारम्भ मे ही इस बात का उल्लेख किया गया है कि **भाट्ट मीमासा** एव **अद्वैत वेदान्त** के अतिरिक्त अन्य किसी भी विवेच्य दर्शन मे अनुपलब्धि का पृथक प्रमाणत्व स्वीकार नही किया गया है। **नैयायिको** ने इसे प्रत्यक्ष अनुमान और आगम प्रमाणो मे समाविष्ट किया है। भाटट मीमासक एव अद्वैत वेदान्ती अनुपलब्धि को पृथक प्रमाण की मान्यता देते है। इसका कारण यह है कि वे विशेषण–विशेष्यभाव सन्निकर्ष को नहीं मानते हैं जबकि नैयायिको ने विशेषण–विशेष्यभाव सन्निकर्ष से अभाव का ग्रहण मानकर अनुपलब्धि (अभाव) को प्रत्यक्ष प्रमाण मे समाविष्ट किया है। **बौद्ध दार्शनिको** ने भी अनुपलब्धि को प्रत्यक्ष मे अन्तर्भूत किया है। **रत्नकीर्ति** का कहना है कि अनुपलब्धि प्रत्यक्ष विशेष का ही दूसरा नाम है–**"न ह्यभाव कस्यचित् प्रतिपत्ति प्रतिपत्ति हेतुर्वा प्रत्यक्ष विशेषस्यैवाभावनामकरणात्।"** बौद्धो के अनुसार अनुपलब्धि को स्वतन्त्र प्रमाण के रूप मे स्वीकार करना प्रमाण सख्या का अतार्किक विस्तार मात्र है।

किन्तु मीमासक एव अद्वैत वेदान्ती अनुपलब्धि को पृथक् प्रमाण मानते हैं और इसके पीछे यह तथ्य प्रस्तुत करते है कि प्रत्यक्ष मे इन्द्रिय से भाव पदार्थो का ही सन्निकर्ष होता है अभाव का नही। इन्द्रिय और अभाव का कोई सम्बन्ध नही हो सकता, क्योकि ससार मे सयोग और समवाय दो ही सम्बन्ध हैं। सयोग दो द्रव्यो के बीच होता है। चूँकि अभाव द्रव्य नहीं है, अत इन्द्रिय से अभाव का सयोग सम्बन्ध नहीं हो सकता। समवाय सम्बन्ध भी दो अयुतसिद्ध पदार्थो के बीच होता है जबकि चक्षु और अभाव दोनो एक दूसरे की अनुपस्थिति मे भी विद्यमान रहते है। इस प्रकार अभाव का सन्निकर्ष न होने से अनुपलब्धि को अलग प्रमाण मानना पडेगा।

नैयायिक उपर्युक्त मत का खण्डन करते है और कहते है कि इन्द्रिय से अभाव का ग्रहण होता है। इसके लिए हम लोग विशेषण–विशेष्यभाव को सम्बन्ध' मानते है। हमारे मत मे इन्द्रिय बिना सम्बन्ध के अभाव को ग्रहण नहीं करती है। चूँकि विशेषण–विशेष्यभाव सन्निकर्ष' से इन्द्रिय द्वारा अभाव का ग्रहण होता है[11] अत अभाव के ग्रहण के लिए अलग से अभाव या अनुपलब्धि प्रमाण की आवश्यकता नही है।

अद्वैत वेदान्ती न्यायाभिमत उपर्युक्त विशेषण–विशेष्यभाव सन्निकर्ष' का खण्डन करते है और कहते हैं कि यह कोई सम्बन्ध नही है, क्योकि इस पर सम्बन्ध का लक्षण घटित नहीं होता

है। सम्बन्ध वह है जो दो व्यक्तियो पर आश्रित हो आश्रयभूत दोनो व्यक्तियो से भिन्न हो और स्वय एक हो। ये तीनो ही बाते विशेषण–विशेष्यभाव पर लागू नही होती। विशेषणता केवल विशेषण मे रहती है और विशेष्यता केवल विशेष्य मे। अत विशेषण–विशेष्यभाव उभयाश्रित नही है। पुनश्च विशेषणता विशेषण से और विशेष्यता विशेष्य से भिन्न नही है। अभाव मे "भूतल घटाभावविशिष्ट है" इस बुद्धि की जनकता है वही अभावगत विशेषणता है। यह अभाव से भिन्न नही अपितु अभावरूप है। अत विशेषण–विशेष्य भाव भी अपने आश्रय से भिन्न नहीं माना जा सकता। द्वन्द्व समास (विशेषण च विशेष्य च) के बाद श्रूयमाण भाव शब्द का सम्बन्ध विशेषण और विशेष्य दोनो से है। अत विशेषण–विशेष्यभाव एक व्यक्ति भी नही है।

ऊर्ध्व रीति से अद्वैत वेदान्ती यह सिद्ध करते है कि विशेषण–विशेष्यभाव कोई सम्बन्ध नही है। इसलिए इसके आधार पर अभाव को प्रत्यक्षागम्य नही माना जा सकता। वस्तुत इन्द्रियो का अभाव के साथ सयुक्त विशेषणता' का सन्निकर्ष न होकर अधिकरण से ही सम्बन्ध रहता है। इसलिए नैयायिको द्वारा उक्त 'इन्द्रिय–सम्बन्ध–विशेषणता सम्बन्ध नही बन सकता। इस कारण विशेषणता सम्बन्ध (सन्निकर्ष) को अभाव प्रमा का जनक नही माना जा सकता। इससे सिद्ध होता है कि अभाव प्रमा मे अनुपलब्धि ही प्रमाण है, प्रत्यक्ष नही।

यहाँ **नैयायिक** यह प्रतिप्रश्न करते हैं कि प्रत्यक्ष ज्ञान परिच्छेद मे अद्वैत वेदान्तियो ने प्रत्यक्ष को ही प्रत्यक्ष ज्ञान का करण बताया है अत अब वे कैसे यह कह सकते हैं कि अभावानुभव का कारण इन्द्रिय न होकर अनुपलब्धि प्रमाण है?

प्रत्युत्तर मे **वेदान्तपरिभाषाकार** का कहना है कि अभावप्रतीति के प्रत्यक्ष होने पर भी उसमे करण अनुपलब्धिसज्ञक पृथक् प्रमाण ही है, क्योकि यह कोई नियम नहीं है कि फलभूत (साध्यभूत) ज्ञान के प्रत्यक्ष होने से उसका करण (साधन) भी प्रत्यक्ष ही हो। 'तू दसवॉ है आदि वाक्य से उत्पन्न हुए मै दसवॉ हूँ ज्ञान मे प्रत्यक्षत्व होने पर भी उसका (ज्ञान का) कारण जो वाक्य है वह प्रत्यक्ष प्रमाण से भिन्न शब्द रूप प्रमाण है– **"अभाव प्रतीते प्रत्यक्षत्वेऽपि तत्करणस्यानुपलब्धेर्मानारन्तरत्वात्। न हि फलीभूत–ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वे तत्करणस्य प्रत्यक्षप्रमाणता नियतत्त्वमस्ति, दशमस्त्वमसीत्यादिवाक्यजन्य– ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वेऽपि तत्करणस्य वाक्यस्य प्रत्यक्षप्रमाणभिन्नप्रमाणत्वाभ्युपगमात्।"**[12] इसी आधार पर यह नियम भग हो जाता है कि 'प्रमा के प्रत्यक्ष रहने पर उसका प्रमाण भी प्रत्यक्ष होना चाहिए।' इस आधार पर कहा जा सकता है कि अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष रहने पर भी उसका प्रमाण (साधन) प्रत्यक्ष (इन्द्रिय) नही है, प्रत्युत् उक्त प्रकार से अनुपलब्धि ही अभाव प्रत्यक्ष मे करण है। अत अभाव को प्रत्यक्ष मानने के बाद भी वेदान्त मत दूषित नहीं होता है। **भाट्ट मीमासक** भी नैयायिको के इस मत का खण्डन करते हैं कि जिस इन्द्रिय से भाव पदार्थ का ज्ञान होता हे उसी इन्द्रिय (प्रत्यक्ष) से उस पदार्थ के अभाव का भी ज्ञान होता है। **कुमारिल भट्ट** का कहना है कि प्रत्यक्ष प्रमाण

से अभाव का ज्ञान नही हो सकता। उनके अनुसार नास्ति इत्याकारक बुद्धि प्रत्यक्ष प्रमाण से उत्पन्न नहीं होती है उससे तो भावविषयक बुद्धि ही उत्पन्न होती है क्योकि इन्द्रियॉ भाव पदार्थो के साथ ही सयुक्त हो पाती है–

"न तावदिरिन्द्रियैरेषा नास्तियुत्पद्यते मति ।

भावाशेनैव सयोगो योगत्वादिन्द्रिस्याहि ।।"[13]

अद्वैत वेदान्त मे भी कहा गया है कि अभाव के साथ इन्द्रियो का सन्निकर्ष नही होता है। इस कारण अभाव ज्ञान मे इन्द्रिय को हेतु नही माना जा सकता है– **"इन्द्रियस्य भावेन स म सन्निकर्षाभावेनाभावग्रहाहेतुत्वात् ।"**[14] इस प्रकार भाट्ट मीमासा मे भी अभावानुभव के प्रति इन्द्रियो की कारणता का खण्डन किया गया है।

प्रत्यक्ष के अतिरिक्त **नैयायिको** ने अनुपलब्धि का **अनुमान** और **शब्द** प्रमाण मे अन्तर्भाव किया है। नैयायिको मे सर्वप्रथम **न्यायसूत्रकार** ने इसे अनुमान मे समाविष्ट किया है।[15] अपनी अभाव व्याख्या मे वैशेषिक सूत्र[16] प्रयुक्त करते हुए **वात्स्यायन** ने लिखा है कि विरोधी अभूत अर्थात् अविद्यमान विरोधी पदार्थ से भूत अर्थात् अविद्यमान पदार्थ की कल्पना को ही अभाव प्रमाण कहा जाता है। जैसे अविद्यमान वर्षा के अभाव से उसके विरोधी वायु–अभ्रसयोग का प्रतिपादन होता है।[17] किन्तु इस अभाव का अन्तभाव अनुमान मे किया जा सकता है, क्योकि कार्य की अनुपपत्ति से (कार्य के अभाव से) कारण के प्रतिबन्धक (अर्थात् कारण के अभाव) का अनुमान किया जाता है। **प्रशस्तपाद** के अनुसार भी अनुपलब्धि का अन्तर्भाव अनुमान मे हो जाता है। जैसे उत्पन्न कार्य को देखकर कारण सामग्री का अनुमान होता है उसी प्रकार घटादि कार्य के प्राग्भाव से उसकी कारण सामग्री के अभाव की भी अनुमान से सिद्धि हो जाती है। **"प्रशस्तपादभाष्य"** के अनुपलब्धि प्रकरण मे वे लिखते हैं कि **"अभावोऽप्यनुमानमेव। यथोत्पन्न कार्य कारणसद्भावे लिगम्। एवमनुत्पन्न कार्य कारणासद्भावे लिगम्।"**

यहॉ एक स्वाभाविक जिज्ञासा यह उत्पन्न होती है कि अभाव का अन्तर्भाव किस अनुमान मे होता है? **उद्योतकर** का कहना है कि अभाव का अन्तर्भाव सामान्यतोदृष्ट अनुमान मे होता है।[18] **वाचस्पति मिश्र** का भी यही मत है।[19] **विश्वनाथ** ने **"न्यासूत्रवृत्ति"** मे यद्यपि भाष्यकार के समर्थन हेतु अभाव का अनुमान मे अन्तर्भाव करते हुए लिखा है कि अभाव व्याप्ति सापेक्ष होने के कारण अनुमान से अतिरिक्त प्रमाण नही है,[20] किन्तु **"सिद्धान्तमुक्तावली"**[21] मे इन्होने अभाव का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष मे किया है। **जयन्त भट्ट** ने अभाव को अनुमान और प्रत्यक्ष मे समाहित करने का प्रयास किया है।[22] **भासर्वज्ञ** ने अभाव प्रतिपत्ति को आगम अनुमान और प्रत्यक्ष तीनो मे समाहित किया है।[23] जैसे कौरव शब्द के अभाव का, आत्मादि मे रूप के अभाव का और भूतल मे घटादि के अभाव का ज्ञान क्रमश आगम अनुमान तथा प्रत्यक्ष मे समाविष्ट किया जा सकता है। इस प्रकार नैयायिको ने अभाव (अनुपलब्धि) का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाणो मे किया है।

लेकिन **भाट्ट मीमासको** व **अद्वैत वेदान्तियो** का कहना है कि जिस प्रकार अनुपलब्धि का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष मे नही हो सकता उसी प्रकार अनुपलब्धि प्रमाण का अन्तर्भाव अनुमान प्रमाण मे भी नहीं हो सकता। अर्थात् अभाव का बोध अनुमान प्रमाण से भी नही हो सकता क्योकि अभाव के ग्रहणार्थ उपयुक्त लिंग अप्राप्त है। यहॉ प्रश्न यह उठता है कि क्या अभाव विषयक ज्ञान मे भासित होने वाला **भाव** पदार्थ ही अभाव विषयक अनुमान का हेतु होगा? इसका उत्तर है कि भाट्ट मीमासक ऐसा नही मानते है। वे कहते है कि भाव विषयक ज्ञान के न होने पर ही अभावज्ञान का जन्म होता है। अभाव विषयक ज्ञान के समय भाव पदार्थ का ग्रहण नहीं हो पाता।[24]

कुमारिल भट्ट का यह भी कहना है कि यदि अभाव का ग्रहण अनुमान प्रमाण से माना जाय, तो व्याप्तिरूप सम्बन्ध के ग्रहण मे दोनो सम्बन्धियो का ज्ञान आवश्यक है। **भूतले घटाभाव** इसको यदि अनुमानगम्य माने तो साध्यरूप अभाव का ज्ञान आवश्यक है। इस अभाव का ज्ञान किस प्रमाण से होगा? इससे सिद्ध होता है कि अनुमान प्रमाण से अभाव का बोध नहीं हो सकता–

"सम्बन्धे गृह्यमाणे च सम्बन्धिग्रहण ध्रुवम्।
तत्राभावमति केन प्रमाणेनोपजायते।।"[25]

अद्वैत वेदान्त मे भी इसी मत का समर्थन किया गया है।[26] अभाव का ग्रहण **शब्द प्रमाण** के द्वारा भी नहीं हो सकता, क्योकि **शाब्द प्रमा** मे पद ज्ञान करण होता है और उससे शब्द प्रमा की उत्पत्ति होती है। लेकिन अभावानुभव ज्ञानरूपी करण से उत्पन्न नहीं होता। यहॉ घटाभाव का जो साक्षात् ज्ञान हमे प्राप्त होता है वह किसी आप्त वाक्य से जन्य नहीं है। घटाभाव का यह ज्ञान सादृश्य ज्ञान भी नही है। इसलिए यह ज्ञान **उपमान** के अन्तर्गत भी नहीं आता। अत अभावानुभव के असाधारण कारण के रूप मे अनुपलब्धि प्रमाण को मानना आवश्यक है।[27]

पूर्व विवेचन मे ही यह स्पष्ट किया जा चुका है कि मीमासको मे केवल आचार्य शबर और भाट्ट मीमासक ही अनुपलब्धि को पृथक प्रमाण की सज्ञा प्रदान करते है। **प्राभाकर मीमासक** अनुपलब्धि को पृथक् प्रमाण की मान्यता नहीं देते है। प्रभाकर मिश्र अधिकरणो से भिन्न घटाभाव आदि की पृथक सत्ता नहीं मानते हैं, जिसके ज्ञान के लिए प्रमाणाभावरूप अनुपलब्धि प्रमाण की आवश्यकता पडे। प्रभाकर मिश्र ने उपर्युक्त मीमासको के छठे प्रमाण अथवा अनुपलब्धि प्रमाण की मान्यता का उपहास किया है– **"अस्ति चेय प्रसिद्धिर्मीमासकानाम्–षष्ठ किलेद प्रमाणम् इति। न चास्य ग्रन्थतो लोकतश्च प्रमाणतावसीयते। अतो न विद्म प्रसिद्धे कि बीजमिति।"**[28] **शालिकनाथ मिश्र** ने भी मीमासक प्रसिद्धि पर प्रहार करने लिए प्रबल पौरूष की अपेक्षा की है– **"ये पुनरभावाख्य षष्ठ प्रमाणमिच्छति, तत्प्रतिबोधनाय सम्प्रति यत्न आरम्यते।"**[29]

प्राभाकरो के अनुसार प्रमाण की उपयोगिता प्रमेय की सिद्धि के लिए मानी जाती है। जिस प्रमाण का अपना कोई पृथक प्रमेय सिद्ध नहीं होता है उस प्रमाण को मानना उचित नहीं

भॉति अवस्तु नही। अभाव भी गवादि वस्तुओ के समान प्रमेय है अत अभाव अवस्तुक नही है। यदि अभाव को प्रमेय न मानकर अनुपलब्धि मे प्रमाणता न स्वीकार किया जाय तो दूध मे दही है दही मे दूध है घट मे पट है शश मे श्रृग है पृथिव्यादि भूतवर्ग मे चैतन्य है वायु मे रूप रस गन्धादि है आकाश मे स्पर्श है –इत्यादि प्रतीतियो की आपत्ति होगी।[33] अतएव अनुपलब्धि नामक पृथक प्रमाण है जिसका अभाव प्रमेय है।

अभाव के भेद

भाट्ट मीमासको और अद्वैत वेदान्तियो के अनुसार अनुपलब्धि प्रमाण के प्रमेयभूत अभाव के चार भेद होते है, जिन्हे क्रमश **प्रागभाव प्रध्वसाभाव, अन्योन्याभाव** और **अत्यन्ताभाव** कहा गया है।[34]

स्वोत्पत्ति से पूर्व उपादानकरण मे कार्य का जो अभाव रहता है, उसे **प्रागभाव** कहते हैं। जैसे घडे की उत्पत्ति से पूर्व मृत्तिका मे घडे का अभाव– **'तत्र मृत्पिण्डादौ कारणे कार्यस्य घटादेरूत्पत्ते पूर्वं योऽभाव स प्रागभाव।'**[35] वार्तिककार ने प्रागभाव का उदाहरण देते हुए कहा है कि दूध मे दही की नास्तिता की क्षीरे दधि नास्ति' इत्याकारक प्रतीति होती है। उस नास्तिता' को अर्थात् दूध मे दही की असद्रूपता को प्रागभाव' कहते हैं।

भाट्ट मीमासा और अद्वैत वेदान्त के अनुसार कार्यनाश के अनन्तर जो उसका अभाव होता है, वह **प्रध्वसाभाव** है। प्रागभाव के समान ही प्रध्वसाभाव का भी अधिकरण कार्य का उपादान कारण ही होता है। जैसे, घडे के नष्ट हो जाने के बाद मृदा मे घडे का अभाव। **नैयायिको** के अनुसार प्रध्वसाभाव का कभी नाश नहीं होता। लेकिन **अद्वैत वेदान्ती** न्यायमत का खण्डन करते हुए कहते है कि **"सादिरनन्त प्रध्वस"** मानने पर प्रध्वसाभाव और ब्रह्म दोनो को नित्य मानना पडेगा जिससे द्वैतापत्ति होगी। इसलिए प्रध्वसाभाव का जिस– मृत्तिकादि अध्किरण मे ध्वस्त'–इत्याकारक प्रत्यय (बोध) होता है उस मृत्तिकादि उपादान कारण का नाश होने पर उसमे स्थित घटध्वस का भी ध्वस मानना होगा।

भाट्ट मीमासा और अद्वैत वेदान्त के अनुसार जिस अधिकरण मे जिसका कालत्रय मे भी अभाव रहता है उसे **अत्यन्ताभाव** कहते हैं। जैसे, वायु मे रूप का अभाव– **"यत्राधिकरणे यस्य कालत्र्येप्यभाव, सोऽत्यन्ताभाव। यथा वायौ रूपात्यन्ताभाव।"**[36] **श्लोकवार्तिक** मे अत्यन्ताभाव के उदाहरण मे शशश्रृग को प्रस्तुत किया गया है।[37] **नैयायिको** ने अत्यन्ताभाव का उदाहरण इह भूतले घटो नास्ति दिया है। किन्तु एक स्थान पर घट के अत्यन्ताभाव से यह तो सिद्ध नहीं होता कि तदितरिक्त स्थल पर भी घट का अत्यन्ताभाव रहता है। वायु मे रूप का अभाव–अत्यन्ताभाव का यह उदाहरण निर्विवाद रूप से सत्य है।

नैयायिक अत्यन्ताभाव को नित्य मानते हैं, किन्तु **अद्वैत वेदान्ती** इसका खण्डन करते हुए कहते है कि घटादि पदार्थ जैसे ध्वस के प्रतियोगी होते हैं (अर्थात् उनका ध्वस होता है) वैसे ही अत्यन्ताभाव भी ध्वसप्रतियोगी ही है। उसका भी प्रलयकाल मे ध्वस होता है। इस कारण ध्वसाप्रतियोगित्वरूप नित्यत्व अत्यन्ताभाव मे नही होता। वस्तुत जब तक जगत् है तब तक ही यह अत्यन्ताभाव रहता है और प्रलयावस्था मे समस्त पदार्थो का ध्वस होने पर उन पर अवलबित होकर रहने वाले अत्यन्ताभाव का नाश होता ही है। प्रलयकाल मे ब्रह्मातिरिक्त सत्ता ही नहीं होती।

'यह यह नही है इस प्रतीति का विषय जो अभाव है वह **अन्योन्याभाव** है– **"इदमिद नेति प्रतीतिविषयोऽन्योऽन्याभाव ।"**[38] इसे ध्यान मे रखकर ही तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिता वाले अभाव को अन्योन्याभाव माना गया है। अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता घटादि अनेक प्रतियोगियो के सयोग, समवाय आदि अनेक सम्बधियो से अवच्छिन्न होती है, किन्तु अन्योन्याभाव की प्रतियोगिता केवल तादात्म्य सम्बन्ध से ही अवच्छिन्न होती है। **वार्तिककार कुमारिल भट्ट** के अनुसार अय गौ नाश्व' इत्याकारक गो मे जो अश्वाभाव की प्रतीति होती है उसे अन्योन्याभाव कहते हैं।

न्याय–वैशेषिक के अनुसार अन्योन्याभाव **अनादिरनन्त** होता है लेकिन **अद्वैत वेदान्तियो** का कहना है कि अन्योन्याभाव सादि और अनन्त दोनो होता है। उनके अनुसार अन्योन्याभाव का अधिकरण यदि सादि (उत्पत्तिमत्) हो, तो वह सादि (उत्पत्तिमान्) होता है। जैसै घट मे पट का भेद। परन्तु अधिकरण यदि अनादि हो तो वह भी अनादि ही होता है। जैसे, जीव मे ब्रह्म का भेद या ब्रह्म मे जीव का भेद। यह दोनो प्रकार का भेद ध्वस का प्रतियोगी (विनाशी) होता है क्योंकि मूल विद्या की निवृत्ति होने पर उसके अधीन रहने वाले भेदो की निवृत्ति होना अवश्यम्भावी है।[39]

धर्मराजाध्वरीन्द्र के अनुसार अन्योन्याभाव के दो भेद हैं– सोपाधिक और निरूपाधिक। जिसकी सत्ता उपाधि की सत्ता से व्याप्त होती है, वह **सोपाधिक भेद** है और वैसी सत्ता से रहित भेद **निरूपाधिक भेद** है। दूसरे शब्दो मे जिस भेद मे उपाधिसत्ता की अपेक्षा नहीं होती, उसे निरूपाधिक भेद कहते है। एक ही आकाश का घटादि उपाधियो के भेद से जो (घटाकाश महाकाश नही है) भेद होता है, वह या एक ही सूर्य का पात्रो (कलशो) के भेद से जो भेद होता है, वह सोपाधिक भेद का उदाहरण है। एक ही ब्रह्म का अन्त करणभेद से जो भेद होता है, वह भी सोपाधिक भेद ही होता है। निरूपाधिक भेद का उदाहरण इस प्रकार है– घट मे पट का भेद।[40]

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अनुपलब्धि (अभाव) प्रमाण का विस्तृत विवेचन पूर्वमीमासा एव अद्वैत वेदान्त दर्शन मे किया गया है। पूर्वमीमासा दर्शन मे प्राभाकर मीमासको के अतिरिक्त अन्य सभी मीमासक अनुपलब्धि को पृथक प्रमाण मानते

है। मीमासा दर्शन के प्रवर्तक आचार्य जैमिनि ने अभाव प्रमाण का कोई लक्षण नही दिया है। यह कार्य करने का श्रेय आचार्य शबर स्वामी को प्राप्त है। वैसे मीमासको मे भाट्ट मीमासको ने तथा अद्वैत वेदान्तियो ने अनुपलब्धि प्रमाण पर गहन चिन्तन किया है। अनुपलब्धि प्रमाण के बारे मे इन दोनो दर्शनो मे कोई विशेष मतभेद देखने को नही मिलता। उभय मत मे उक्त प्रमाण का स्वरूप लगभग समान है। इनके अनुसार अभावानुभव का असाधारण कारण ही अनुपलब्धि प्रमाण है। लेकिन प्रत्येक अभावानुभव का ज्ञान अनुपलब्धि प्रमाण से नही होता। वस्तुत जिस वस्तु की जिस परिस्थित मे उपलब्धि होनी चाहिए उस परिस्थिति मे उसकी उपलब्धि न होने से ही उसका अभाव जाना जाता है। इस तरह अभाव ज्ञान का कारण **योग्यानुपलब्धि** है।

प्राभाकार मीमासक अनुपलब्धि प्रमाण को नहीं मानते है। इनके अनुसार अभाव केवल अधिकरण स्वरूप है। इह भूतले घटोनास्ति' इत्याकारक अभाव प्रतीति को भाट्ट मीमासक आदि माना करते है इस अभाव नामक पदार्थ की सत्ता की गवेषणा करने पर भी उसकी पृथक सत्ता सिद्ध नही होती है। परन्तु अभावरूप पदार्थ के साथ भूतलादि का ससर्ग प्रतीत नहीं होता है। अभाव जैसे पदार्थों के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध सभव न होने के कारण प्रत्यक्षादि प्रमाणो के द्वारा भी अभाव की सिद्धि कदापि नही हो सकती। साक्षात् या परम्परया सम्बन्ध रहित प्रमेय की साधकता किसी भी प्रमाण मे नही देखी जाती, जिसके परिणामस्वरूप अभाव सज्ञक अनुपलब्धि प्रमाण की सत्ता किसी भी प्रकार सिद्ध नही हो सकती।

नैयायिको ने भी प्राभाकरो की तरह अभाव के पृथक् प्रमाणत्व का खण्डन किया है। इन्होने प्रत्यक्ष, अनुमान एव आगम इन तीनो प्रमाणो मे उक्त प्रमाण का अन्तर्भाव किया है। **भासर्वज्ञ** ने अनुपलब्धि को उपर्युक्त तीनो प्रमाणो मे (न्या सा, पृ 114) और **जयन्त भट्ट** ने अनुमान और प्रत्यक्ष मे (न्या म पृ 48 51) समाविष्ट किया है। इस तरह से इस विषय मे नैयायिको एव प्राभाकर मीमासको के मतो मे समानता है। अन्तर केवल इतना ही है कि नैयायिक अभाव को पृथक पदार्थ भी मानते हैं जबकि प्राभाकर अभाव पदार्थ का खण्डन करते हैं। इनके मत मे वह अधिकरणस्वरूप ही है। इस प्रकार प्राभाकर न तो अभाव (अनुपलब्धि) प्रमाण मानते है और न अभाव नामक पदार्थ। भाट्ट मीमासको के मत मे अभाव अधिकरणरूप नही है, बल्कि अधिकरण से अधिक तत्त्व है। नैयायिक भी अभाव को अधिकरण से अतिरिक्त मानते हैं, परन्तु वे उसका ग्रहण विशेष्य–विशेषणभाव सन्निकर्ष के माध्यम से प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा अथवा अनुमान प्रमाण या शब्द प्रमाण से कर लेते है।

लेकिन ध्यान पूर्वक विचार करने पर यह स्पष्ट होता हैं कि विशेषण–विशेष्यभाव कोई सम्बन्ध ही नही है क्योकि इस पर सम्बन्ध का कोई लक्षण घटित ही नहीं होता है। इस लिए उक्त सम्बन्ध के आधार पर अभाव को प्रत्यक्षगम्य नहीं माना जा सकता है। वस्तुत इन्द्रियो का अभाव के साथ 'सयुक्त विशेषणता' का सन्निकर्ष न होकर अधिकरण से ही सम्बन्ध रहता है।

इसलिए नैयायिको द्वारा उक्त इन्द्रिय–सम्बन्ध विशेषणता सम्बन्ध नही बन सकता। इस कारण विशेषणता सम्बन्ध (सन्निकर्ष) को अभाव प्रमा का जनक नही माना जा सकता। नैयायिको का यह कथन भी उचित नही हे कि जिस इन्द्रिय से भाव पदार्थ का ज्ञान होता है उसी इन्द्रिय (प्रत्यक्ष) से अभाव पदार्थ का भी ज्ञान होता है। इसका कारण यह है कि केवल भाव पदार्थो के साथ ही इन्द्रियो का सन्निकर्ष हो सकता है अभाव पदार्थो के साथ नही। इसलिए अभाव प्रमा के ज्ञान के लिए अनुपलब्धि प्रमाण को मानना आवश्यक है।

प्राभाकर मीमासक अभाव की प्रमेयता का ही खण्डन कर देते हैं फिर भी यह कहते हैं कि अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से हो जाता है। किन्तु अभाव की प्रमेयता सिद्ध है। यदि अभाव वस्तु नहीं है तो उसके प्रागभाव तथा प्रध्वसाभाव जैसे भेद अमान्य हो जायेगे। ऐसी स्थिति मे उपादान कारण से कार्य के प्रादुर्भाव तथा कार्य मे कारण के अभाव की व्याख्या नहीं हो सकेगी। अभाव को न मानने से कार्य–कारणभाव अनुपपन्न हो जायेगा। अत अभाव की प्रमेयता का खण्डन करके प्रत्यक्ष को अभाव प्रमा का जनक नही माना जा सकता।

अनुमान प्रमाण से भी अभाव का ज्ञान नही हो सकता क्योकि अभाव के ग्रहणार्थ उपयुक्त लिग अप्राप्त है। यह कहना सगत नही होगा कि घट का अभाव घट के अदर्शन से अनुमान किया जाता है, क्योकि ऐसा अनुमान तभी सभव होता जब हमे अदर्शन (अनुपलब्धि) और अभाव मे व्याप्ति सम्बन्ध का ज्ञान रहता। परन्तु यदि ऐसा मान लिया जाय, तो आत्माश्रय दोष ,च्मजपजपव च्तपदबपचपपद्व उपस्थित होगा। इसी तरह यह ज्ञान शब्द या उपमान के अन्तर्गत भी नहीं आता क्योकि यहॉ आप्त वाक्य या सादृश्य ज्ञान नहीं है। अत अनुपलब्धि का अन्तर्भाव किसी अन्य प्रमाण मे नहीं किया जा सकता। अभाव पदार्थ के बोध के लिए एक स्वतन्त्र प्रमाण के रूप मे अनुपलब्धि को मानना आवश्यक है। जीवन मे अभाव का बहुत महत्व है। यदि सामान्य व्यक्ति को ध्यान मे रखकर हम विचार करे तो भाव के साथ अभाव की समस्या सदैव जुडी रहती है। यदि अभाव की कोई सत्ता न होती, तो लोगो पर अभाव का प्रमाव ही क्यो पडता। अत अभाव ज्ञान के लिए अनुपलब्धि प्रमाण को मानना आवश्यक है।

सदर्भ-ग्रथ-सूचिका

1 शाबरभाष्य शबर स्वामी आनन्दाश्रम मुद्राणय पूना 1929 पृ० 30।

2 श्लोकवार्तिक अभाव–1 भट्ट कुमारिल मद्रास विश्वविद्यालय प्रकाशन मद्रास 1940।

3 वेदान्तपरिभाषा धर्मराजाध्वरीन्द्र व्याख्या–मुसलगॉवकर श्री गजानन शास्त्री चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी 1983 पृ० 279।

4 वही पृ० 279।

5 वही पृ० 279।

6 न्यायरत्नमाला मिश्र पार्थसारथि चौखम्बा सस्कृत बुक डिपो वाराणसी 1900 पृ० 342।

7 श्लोकवार्तिक अभाव–27 भट्ट कुमारिल मद्रास विश्वविद्यालय प्रकाशन मद्रास 1940।

8 "Shloka Vartika (Eng Translation), Jha, G N Assiatic Society of Bengal, Calcutta, 1900, p 247

9 न्यायरत्नमाला मिश्र पार्थसारथि चौखम्बा सस्कृत बुक डिपो वाराणसी 1900 पृ० 342।

10 वेदान्तपरिभाषा धर्मराजाध्वरीन्द्र व्याख्या–मुसलगॉवकर श्री गजानन शास्त्री चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी 1983 पृ० 282।

11 न्याय सूत्र 222 गौतम कलकत्ता सस्कृत गन्थमाला गन्थाक 18 कलकत्ता 1936।

12 वेदान्तपरिभाषा धर्मराजाध्वरीन्द्र व्याख्या–मुसलगॉवकर श्री गजानन शास्त्री चौखम्बा विद्याभवन् वाराणसी 1983 पृ० 292।

13 श्लोकवार्तिक अभाव–18 भट्ट, कुमारिल मद्रास विश्वविद्यालय प्रकाशन मद्रास 1940।

14 वेदान्तपरिभाषा धर्मराजाध्वरीन्द्र व्याख्या–मुसलगॉवकर श्रीगजाननशास्त्री चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी 1983 पृ0 288।

15 न्यायसूत्र 222, गौतम कलकत्ता सस्कृत ग्रन्थमाला ग्रन्थाक 19 कलकत्ता 1936।

16 वैशेषिकसूत्र 3111 कणाद चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी, 1933।

17 न्यायभाष्य वात्स्यायन कलकत्ता सस्कृत ग्रन्थमाला ग्रन्थाक 18 कलकत्ता 1936 पृ० 574।

18 न्यायवार्तिक उद्योतकर कलकत्ता सस्कृत ग्रन्थमाला ग्रन्थाक 18 कलकत्ता 1936 पृ० 578।

19 न्यायवर्तिकतात्पर्यटीका मिश्र, वाचस्पति कलकत्ता सस्कृत ग्रन्थमाला ग्रन्थाक 18, कलकत्ता 1936 पृ० 578।

20 न्यायसूत्रवृत्ति विश्वनाथ कलकत्ता सस्कृत ग्रन्थमाला ग्रन्थाक 18, कलकत्ता 1936 पृ० 578।

21 सिद्धातमुक्तावली–3 विश्वनाथ चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी 1951 पृ० 191।

22 न्याय मजरी–1 भट्ट जयन्त प्राच्यविद्या प्राच्यसशोधनालय मैसूर 1970 पृ० 48–51।

23 न्यायसार, भासर्वज्ञ, राष्ट्रीय मुद्रणालय त्रिवेन्द्रम, 1931, पृ० 114।

24 श्लोकवार्तिक अभाव-23 भट्ट कुमारिल मद्रास विश्वविद्यालय प्रकाशन मद्रास 1940।

25 वही 36।

26 वेदान्तपरिभाषा धर्मराजाध्वरीन्द्र व्याख्या–मुसलगॉवकर श्री गजाननशास्त्री चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी 1983 पृ० 279।

27 वही पृ० 279।

28 वृहती 115 मिश्र प्रभाकर चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी 1929 पृ 120।

29 प्रकरणपचिका मिश्र शालिकनाथ काशी विश्वविद्यालय मुद्रणालय वाराणसी 1961 पृ० 2।

30 न्यायरत्नमाला मिश्र पार्थसारथि चौखम्बा सस्कृत बुक डिपो वाराणसी 1900, पृ० 236।

31 श्लोकवार्तिक अभाव–7 भट्ट कुमारिल मद्रास विश्वविद्यालय प्रकाशन मद्रास 1940

32 वही 9।

33 वही 5–6।

34 वेदान्तपरिभाषा धर्मराजाध्वरीन्द्र व्याख्या–मुसलगॉवकर श्री गजानन शास्त्री चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी 1983 पृ० 300।

35 वही पृ 300।

36 वही, पृ० 305।

37 श्लोकवार्तिक अभाव–5 भट्ट कुमरिल मद्रास विश्वविद्यालय प्रकाशन मद्रास 1940।

38 वेदान्तपरिभाषा धर्मराजाध्वरीन्द्र व्याख्या–मुसलगॉवकर, श्री गजानन शास्त्री चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी 1983 पृ० 306।

39 वही, पृ० 306–07।

40 वही पृ० 309

● ●
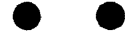
उपसंहार

उपसंहार

अपने शोध–विषय प्रमाण और उसके भेदो के प्रामाण्य की परीक्षा" के अन्तर्गत भारतीय दर्शन मे विभिन्न प्रमाणो से सम्बन्धित समस्याओ को समझने से पूर्व हमने इस विषय पर अपना दृष्टिकोण स्पष्ट किया है कि प्रमा अप्रमा तथा प्रमाण का स्वरूप क्या है ? तथा प्रमा व प्रमाण के बीच किस प्रकार का सम्बन्ध है? सामान्यत यथार्थ ज्ञान को प्रमा तथा अयथार्थ ज्ञान को अप्रमा कहा जाता है। किन्तु यह यथार्थता किन ज्ञानो या अवस्थाओ मे है, इस बारे मे भारतीय दार्शनिको मे मतभेद है।

न्याय दर्शन के अनुसार विषय का असदिग्ध तथा यथार्थ अनुभव प्रमा है। दूसरे शब्दो मे यथा विषय तथा अनुभव होने पर वह अनुभव प्रमा रूप है अन्यथा अप्रमारूप है। स्मृति चूँकि किसी अतीत घटना के अनुभव पर आधारित होती है, इसलिए वह प्रमारूप न होकर अप्रमा है। **जयन्त भट्ट** ने 'असदिग्ध तथा अव्यभिचारी अर्थोपलब्धि" के रूप मे प्रमा को परिभाषित किया है। उनके अनुसार अर्थ (विषय) से उत्पन्न होने वाला ज्ञान प्रमा है और ऐसा न होने वाला ज्ञान अप्रमा है। मीमासक **प्रभाकर मिश्र** की भॉति वे मानते है कि अर्थजन्य न होने से स्मृति अप्रमारूप है। सक्षेप मे नैयायिको के अनुसार सवादी ज्ञान प्रमा है और असवादी ज्ञान अप्रमा है। यह प्राचीन नैययिको का मत है।

किन्तु प्राचीन न्याय का उपर्युक्त मत उचित नहीं है। यदि सवादी ज्ञान को प्रमा माना जाय तो इसका अर्थ यह होगा कि वस्तु ज्ञान से स्वतन्त्र है और दोनो के भिन्न आयाम हैं। ऐसा स्थिति मे दोनो मे तुलना असभव होगी और तुलना के अभाव मे इस बात का निर्णय नहीं हो पायेगा कि ज्ञान वस्तु के अनुरूप है या नही। जयन्त के लक्षण को मान लेने से भूतकालीन तथा भविष्यकालीन वस्तुओ का ज्ञान भी विषय द्वारा उत्पन्न न होने के कारण अप्रमा ही होगा। अत प्रमा के लक्षण के बारे मे प्राचीन न्याय का मत अस्वीकार्य है।

नव्य न्याय के जनक **गगेश उपाध्याय** ने "तद्वति तत्प्रकारकानुभवो वा" के रूप मे प्रमा को परिभाषित किया है। उनके अनुसार वस्तुत जो वस्तु जिस तरह की हो, उसे उसी तरह का समझना प्रमा है। किन्तु गगेश द्वारा निर्धारित प्रमा का लक्षण सन्तोषजनक नहीं है। **प्रो० जे० एन० मोहन्ती** के अनुसार गगेश की परिभाषा का अर्थ है कि यदि ज्ञानात्मक स्थिति तात्त्विक स्थिति के अनुरूप हो, तो वह ज्ञान प्रमारूप होगा अन्यथा अप्रमारूप। निश्चित रूप से प्रमा का यह लक्षण यथार्थता की कठिनाइयो की ओर ले जाता है। इसलिए प्रमा का यह लक्षण भी हमे अमान्य है।

साख्य दार्शनिको के अुनसार प्रमा वह ज्ञान है जो उस विषय को बताता है जो सशयरहित वास्तविक और नवीन हो। यह ज्ञान जड बुद्धि मे पुरूष (चैतन्य) के प्रकाश के विना नही हो सकता है। किन्तु प्रमा के साक्षी पुरूष को प्रमाता मान लेने पर उसमे कर्त्तृत्व का आरोप हो जायेगा जो उचित नही है। इसलिए साख्य मत भी निर्दोष नहीं है। **जैन दार्शनिको** का प्रमा

एव प्रमाण सम्बन्धी विचार बौद्धो व मीमासको के मतो से पर्याप्त साम्यता रखता है। इसलिए जैन मत मे उनके सारे दोष आ जाते है।

बौद्ध दर्शन मे दो विशेषताओ से युक्त ज्ञान को प्रमा माना गया है– अविसवादकत्व अर्थात् सवादप्रवृत्ति या अर्थक्रियाकारित्व और अनधिगतता अर्थात् नवीनता। किन्तु प्रमा के ये दोनो लक्षण दोषपूर्ण है। धर्मराजाध्वरीन्द्र का कहना है कि कभी–कभी मिथ्या सज्ञान भी हमारे प्रयोजन की पूर्ति कर देता है। अत प्रयोजनपूरकता मात्र को प्रमा का स्वतन्त्र निकष नही माना जा सकता है। मीमासक **नारायण** के अनुसार किसी ज्ञान की उपयोगिता के आधार पर उसके प्रमात्व का निर्धारण करने से अतिव्याप्त परिभाषा–दोष उत्पन्न हो जाता है क्योकि स्मृति की उपयोगिता के आधार पर उसे भी प्रमा माना जा सकता है। इसी प्रकार अनधिगतता को प्रमा का लक्षण मान लेने पर भूत तथा भविष्य के विषय मे ज्ञान तथा अनुमान से प्राप्त ज्ञान की सत्यता पर भी सन्देह उत्पन्न हो जायेगा। इसलिए अविसवादक ज्ञान की भाति ही अनधिगत ज्ञान को प्रमा का स्वतन्त्र लक्षण नही माना जा सकता है। इस प्रकार प्रमा सम्बन्धी बौद्ध मत भी निर्दोष न होने से हमे स्वीकार्य नही है।

प्राभाकर मीमासको ने अनुभूति जिसकी उत्पत्ति प्रत्यक्षत वस्तु व इन्द्रिय के सम्पर्क से होती है को प्रमा माना है– अनुभूति प्रमाणम्।" चूँकि स्मृति सस्कारजन्य होती है, इसलिए वह अप्रमा है, प्रमा नहीं । किन्तु प्राभाकरो के इस मत को मान लेने से सम्पूर्ण धारावाहिक ज्ञान अप्रमा हो जायेगा क्योकि धारावाहिक ज्ञान मे बाद के क्षणो का ज्ञान सस्कारजन्य होता है। किन्तु ऐसा मानना उचित नहीं होगा क्योकि धारावाहिक ज्ञान से भी हमे सत्य ज्ञान की प्राप्ति होती है। इस कठिनाई के निवारणार्थ कुछ प्राभाकरो ने व्यवहार–अविसवाद को प्रमा का लक्षण माना है। यहाँ प्राभाकरो का मत **बौद्धो** व **नैयायिको** के मत के सदृश हो जाता है जिसके परिणाम स्वरूप प्राभाकर मत मे भी बौद्ध व न्याय मत की सारी कठिनाइयाँ आ जाती है। इसलिए प्राभाकर मत भी निर्दोष नही रह पाता ।

भाट्ट मीमासको ने चार विशिष्टताओ से युक्त ज्ञान को प्रमा माना है । ये हैं– अनधिगतता दृढता कारण–दोषरहितता और बाधकज्ञानरहितता । इनमे से अनधिगतता को प्रमा का लक्षण मान लेने से बौद्ध मत की सारी कठिनाइयाँ भाट्ट मत मे आ जायेगी । अत अनधिगतता को प्रमा का लक्षण नही माना जा सकता है, किन्तु दृढता को प्रमा का लक्षण माना जा सकता है, किन्तु दृढ़ता या निश्चितता का आधार मनोवैज्ञानिक न होकर तार्किक होना चाहिए । कारणदोषरहितता तथा बाधकज्ञानरहितता को प्रमा का लक्षण मानने मे हमे कोई आपत्ति नहीं है।

अद्वैत वेदान्त मे अबाधित विषय के ज्ञान को प्रमा कहा गया है । इसके अनुसार उत्तरकाल मे जिस ज्ञान का बाध न हो वह प्रमा है । यह लक्षण अनुभव तथा स्मृति पर समान रूप से घटित होता है इसलिए अद्वैत वेदान्त मे स्मृति को प्रमा रूप मानने का विरोध नहीं किया गया है। **जैन** और

वैशेषिक दार्शनिको ने भी स्मृति को प्रमारूप माना है।

लेकिन नव्य न्याय क जनक **गगेश उपाध्याय** ने अबाधिता को प्रमा का लक्षण मानने का इस आधार पर विरोध किया है कि अबाधिता को प्रमा का लक्षण मान लेने पर अप्रमा को भी प्रमारूप मानना पडेगा क्योकि कभी–कभी अज्ञान भी काफी समय तक अबाधित रहता है। उनका तर्क है कि यद्यपि एक सत्य ज्ञान असत्य ज्ञान द्वारा बाधित होता है किन्तु यह बाधा उसी समय होगी जब एक ज्ञान सत्य और दूसरा ज्ञान असत्य होगा। किन्तु यदि दोनो ही ज्ञान असत्य होगे, तो बाधा होगी ही नहीं। अत अबाधिता को प्रमा का लक्षण नहीं माना जा सकता ।

परन्तु अद्वैत वेदान्त के विरूद्ध गगेश का आक्षेप केवल तभी स्वीकार्य हो सकता है जब यह मान लिया जाय कि जिस समय एक ज्ञान दूसरे ज्ञान से बाधित होता है और अन्य ज्ञान के रूप मे परिवर्तित होता है तो यह परिवर्तन आकस्मिक या अकारण होता है। किन्तु अद्वैत वेदान्तियो का मत इसके पूर्णत प्रतिकूल है । उनके अनुसार अबाधिता का अर्थ है कि यदि दो ज्ञानो मे विरोध हो तो इस विरोध की कोई न कोई उपयुक्त व्याख्या अवश्यमेव उपलब्ध होनी चाहिए । अबाधिता के इस अर्थ को स्वीकार कर लेने पर कारण–दोषरहितता तथा निश्चितता की विशेषताऍ स्वत ही स्वीकृत हो जायेगी और न्याय दर्शन मे स्वीकृत यथार्थता की विशेषताओ से उत्पन्न कठिनाइयो का भी समाधान हो जायेगा। इसलिए **अबाधिता को प्रमा का सर्वोच्च मापदण्ड एव लक्षण माना जा सकता है।**

यहॉ एक प्रश्न यह उठता है कि अबाधित यथार्थ ज्ञान को परखने की कसौटी या साधन क्या है ? उत्तर है प्रमाण । प्रमाणो के अभाव मे कोई भी ज्ञान सिद्धान्त तार्किक रूप से पगु ही रहता है। अत विभिन्न प्रमाणो के लक्षण, भेद आदि की प्रामाणिकता की परीक्षा करने से पूर्व हमने यह जानने का प्रयास किया है कि प्रमाण का लक्षण क्या है तथा प्रमाण के कितने भेद हैं ?

जिस तरह से प्रमा को यथार्थनुभरूप मानने मे दार्शनिको मे मतैक्य है, उसी तरह से प्रमा के करण के रूप मे प्रमाण को परिभाषित करने मे दार्शनिको मे मतैक्य है । प्राय सभी दर्शनो मे यह माना गया है कि **प्रमा का साधकतम् करण ही प्रमाण है**। साधकतम् वह है जो क्रिया का सर्वाधिक समीपवर्ती हो जिसका व्यापार होते ही क्रिया के फल की निष्पत्ति हो जाय तथा बीच मे किसी वस्तु का व्यवधान न हो।किन्तु 'प्रमाकरण प्रमाणम्" के रूप मे प्रमाण को परिभाषित करते हुए भी विभिन्न दर्शनो मे अपनी–अपनी विशिष्ट दार्शनिक मान्यताओ के आधार पर प्रमाण के विशिष्ट लक्षण निर्धारित किये गये है जिसके मूल मे प्रमा ज्ञान का विशेष विवेचन है। अत जिन दर्शनो द्वारा निर्धारित प्रमा का लक्षण दोषपूर्ण है, उनका प्रमाण–लक्षण भी निर्दोष नहीं रह पाया है। 'प्रमा एव प्रमाण' के विवेचन मे हमने विस्तारपूर्वक यह देखा है कि प्रमा के लक्षण के बारे मे केवल अद्वैत वेदान्त का मत ही तर्कसगत है। अत हमारे विचार से प्रमाण–लक्षण के बारे मे भी **अद्वैत वेदान्त** का मत ही अधिक तर्कसगत है जिसके अनुसार **"अबाधित अर्थविषयक ज्ञान का करण ही प्रमाण है।"**

भारतीय दर्शन मे प्रमा और प्रमाण के लक्षण की ही भॉति **प्रमाण–सख्या** के बारे मे भी विवाद

है। इस सम्बन्ध मे एक से लेकर आठ प्रमाण तक माने गये है जिनमे प्रत्यक्ष ही सभी दर्शनो मे सर्वस्वीकृत प्रमाण है। विषय वस्तु को अति विस्तार से बचाने के लिये केवल प्रथम छ प्रमाणो का ही विवेचन प्रस्तुत शोध प्रबन्ध मे किया गया है।

जहॉ तक **प्रत्यक्ष** का प्रश्न है **चार्वाको** के अनुसार इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से जन्य ज्ञान ही प्रत्यक्ष है। इसके अतिरिक्त चार्वाक दर्शन मे प्रत्यक्ष का कोई निश्चित लक्षण निर्धारित नहीं किया गया है। **जैन दर्शन** के अनुसार आत्म–सापेक्ष ज्ञान ही प्रत्यक्ष है। अर्थात् प्रत्यक्ष वह ज्ञान है जिसे आत्मा स्वय जानता है और जिसके लिये आत्मा को इन्द्रिय या मन रूपी माध्यम की आवश्यकता नहीं होती। लेकिन **नव्य जैन दार्शनिको** ने प्रत्यक्ष ज्ञान के लिये इन्द्रयो को माध्यम के रूप मे आवश्यक माना है। व्यावहारिक प्रत्यक्ष की सकल्पना इसका प्रमाण है।

बौद्ध दर्शन के विभिन्न आचार्यो ने भिन्न–भिन्न रूप मे प्रत्यक्ष को परिभाषित किया है। **बसुबन्धु** के अनुसार जिस अर्थ का जो ज्ञान होता है यदि उससे ही वह उत्पन्न होता है अन्य अर्थ से नही तो वह प्रत्यक्ष है–'ततोऽर्थाद् विज्ञान प्रत्यक्ष।" किन्तु प्रत्यक्ष का यह लक्षण दोषपूर्ण है क्योकि जैसाकि **वाचस्पति मिश्र** ने कहा है कि ग्राह्य अर्थ ग्राहक ज्ञान एक साथ नही रहते है।" **दिङ्नाग** और **श्चेरवात्स्की** के अनुसार भी बसुबन्धु कृत प्रत्यक्ष लक्षण असगत है। इसलिए प्रत्यक्ष का यह लक्षण अग्राह्य है। **दिङ्नाग** के अनुसार कल्पना, नाम, जाति आदि से असयुक्त धारणा ही प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष के इस लक्षण से प्रत्यक्ष का सविकल्पक प्रत्यक्ष और अनुमानादि से व्यावृत्ति हो जाती है। इसके अनुसार निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ही वास्तविक प्रत्यक्ष है। किन्तु **धर्मकीर्ति** ने इसकी आलोचना करते हुए कहा है कि प्रत्यक्ष के उक्त लक्षण को स्वीकार कर लेने से सत्य को सभी प्रकार की भ्रान्तियो से मुक्त नही रखा जा सकता। इसके लिये प्रत्यक्ष की परिभाषा मे कल्पनापोढम् पद के साथ 'अभ्रान्त पद का समावेश आवश्यक है। उनके शब्द है– प्रत्यक्ष कल्पनापोढमऽभ्रान्तम्।" अर्थात् कल्पनारहित (निविकल्पक) तथा निर्भ्रान्त (सभी सशयो से रहित) ज्ञान प्रत्यक्ष है। यहॉ निर्विकल्पक से धर्मकीर्ति का तात्पर्य साक्षात् ज्ञान से है। अर्थात् जो वस्तु जैसी है, यदि उसी रूप मे हमे ज्ञात हो सके, तो ऐसे प्राप्त हुए ज्ञान को साक्षात्कारात्मक ज्ञान कहा जायेगा। दिङ्नागकी तरह ही धर्मकीर्ति भी सविकल्पक प्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष की परिधि से बहिष्कृत करके केवल निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को वास्तविक प्रत्यक्ष मानते हैं। धर्मकीर्ति द्वारा निर्धारित प्रत्यक्ष का लक्षण प्रत्यक्ष के बारे मे सम्पूर्ण बौद्ध दर्शन का प्रतिनिधत्व करता हुआ प्रतीत होता है। बौद्धो के अनुसार नामजात्यादि की योजना से युक्त वस्तु का ज्ञान सविकल्पक प्रत्यक्ष की परिधि मे आ जाता है। इसलिए इसे प्रामाणिक नहीं माना जा सकता है। केवल निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ही प्रामाणिक प्रत्यक्ष है।

किन्तु कल्पना से अपोढ अर्थात् नामजात्यादि की योजना से रहित, भ्रमभिन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष

नही माना जा सकता है क्योकि जैसा कि मीमासको ने माना है इन्द्रिय ज्ञान के द्वारा जाति आदि की योजना सहित पदार्थ का जो सविकल्पक प्रत्यक्ष होता है उसका निराकरण नही किया जा सकता है क्योकि यह अनुभव सिद्ध तथ्य है कि जाति गुण आदि की प्रतीति सदैव द्रव्य के साथ ही होती है उससे पृथक रूप मे नहीं। इसी तरह नामादि की योजना को भी असगत मानना अनुचित है क्योकि अय देवदत्त" इस ज्ञान की प्रत्यक्षात्मक प्रतीति होती है। वस्तुत इन्द्रियो से होने वाले ज्ञान मे नाम योजना आवश्यक है। इसलिए नाम योजना से उत्पन्न ज्ञान को प्रत्यक्षात्मक न मानना उचित नहीं है। इस तरह से हमारी दृष्टि मे प्रत्यक्ष का बौद्ध लक्षण दोषपूर्ण होने से अग्राह्य है।

जहाँ तक **न्याय दर्शन** की बात है उसमे इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष माना गया है जिसे अधिकाश भारतीय दर्शनो मे स्वीकृति प्रदान की गयी है। न्याय दर्शन के जनक **महर्षि गौतम** ने प्रत्यक्ष का विशिष्ट लक्षण निर्धारित करते हुए इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से जन्य अव्यपदेश्य (अशाब्दज) अव्यभिचारी (सशय–विपर्यय से रहित) व्यवसायात्मक ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है। किन्तु प्रत्यक्ष की यह परिभाषा अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और अन्योन्याश्रय दोष से ग्रसित होने के कारण हमे अस्वीकार्य है।

नव्य न्याय के जनक **गगेश उपाध्याय** के अनुसार साक्षात् प्रतीति ही प्रत्यक्ष है– "प्रत्यक्षस्य साक्षात्कारित्व लक्षण। साक्षात्कारित्व की उत्पत्ति इन्द्रिय अर्थ मन और आत्मादि के सन्निकर्ष से होती है। प्रत्यक्ष की यह परिभाषा प्राचीन न्याय की परिभाषा की तुलना मे अधिक सन्तोषजनक है क्योकि इससे लौकिक एव अलौकिक मानवीय तथा ईश्वरीय सभी प्रकार के प्रत्यक्षो की व्याख्या हो जाती है। अन्य ज्ञानो से प्रत्यक्ष का भेद प्रदर्शित करने के लिये गगेश ने प्रत्यक्ष का यह लक्षण भी निर्धारित किया है कि "ज्ञानाकारणक ज्ञान प्रत्यक्षम्।" अर्थात् जिसका कारण कोई अन्य ज्ञान नहीं है, वह प्रत्यक्ष है। **विश्वनाथ पचानन** भी इसी मत के समर्थक है।

परन्तु 'ज्ञानाकारणक ज्ञान प्रत्यक्षम्" के रूप मे नव्य न्याय द्वारा निर्धारित प्रत्यक्ष का लक्षण भी दोषपूर्ण है, क्योकि सविकल्पक प्रत्यक्ष मे यह लक्षण अव्याप्त है। पुनश्च, ज्ञानाकरणक ज्ञानत्वरूप प्रत्यक्ष का लक्षण केवल तभी प्रयोज्य हो सकता है, जब मन को अतरिन्द्रिय के रूप मे स्वीकार कर लिया जाये। जो दार्शनिक मन को अतरिन्द्रिय नही मानते, उनके लिये प्रत्यक्ष की यह परिभाषा सन्तोषजनक नही हो पाने के कारण अस्वीकार्य हो जाती है। **वैशेषिक दर्शन** द्वारा निर्धारित प्रत्यक्ष का लक्षण बहुत कुछ प्राचीन न्याय के समान है। अत इसके प्रत्यक्ष–लक्षण मे प्राचीन न्याय की परिभाषा के सारे दोष आ जाते हैं। इसलिए वैशेषिक मत भी अमान्य है।

मीमासको का प्रत्यक्ष लक्षण विवेचन बहुत कुछ नैयायिको के समान है। भाट्ट मीमासको का मत प्राचीन न्याय के सदृश है जबकि प्राभाकरो का मत नव्य न्याय के समतुल्य है। इसलिए मीमासको के प्रत्यक्ष लक्षण मे वे सारे दोष आ जाते हैं जो न्याय दर्शन के प्रत्यक्ष के लक्षण मे विद्यमान हैं।

इसलिए प्रत्यक्ष–लक्षण क बारे मे मीमासा मत भी हमे स्वीकार्य नही है।

साख्य–योग दर्शन मे भी न्याय–वैशेषिक एव मीमासा दर्शनो की भॉति प्रत्यक्ष की उपलब्धि मे इन्द्रियो को आवश्यक एव अनवार्य माना गया है। इसलिए साख्य–योग मत भी निर्दोष नही है।

अद्वैत वेदान्त मे अन्य सभी दर्शनो द्वारा प्रतिपादित प्रत्यक्ष की परिभाषाओ के लक्षणो के प्रति सामूहिक अरूचि प्रदर्शित करते हुए कहा गया है कि प्रत्यक्ष साक्षात्कारी ज्ञान है और सर्व प्रथम प्रकाश या चैतन्य का ही साक्षात्कार होता है। तत्पश्चात् उसके विशेषण के रूप मे अन्य वस्तुओ का भान होता है। प्रत्यक्ष को साक्षात्कारी ज्ञानरूप मानने मे नव्य न्याय से अद्वैत वेदान्त की समानता है। लेकिन दोनो मे प्रमुख अतर यह है कि **नव्य न्याय के अनुसार साक्षात्कारित्व की उत्पत्ति इन्द्रिय अर्थ और मनसादि के सन्निकर्ष से होती है जबकि अद्वैत वेदान्त मे मन के इन्द्रियत्व का निषेध करके यह माना गया है कि प्रत्यक्ष अर्थात् साक्षात्कारी ज्ञान के लिये इन्द्रियो का होना आवश्यक नही है।**

बौद्ध दर्शन मे भी अद्वैत वेदान्त के ही समान मन के इन्द्रियत्व का निषेध करके प्रत्यक्ष को साक्षात् अनुभूति रूप माना गया है। परन्तु साक्षात् अनुभूति के स्वरूप के बारे मे दोनो दर्शनो मे मतभेद है। **बौद्ध दर्शन की साक्षात् अनुभूति ऐन्द्रिक भी है जबकि अद्वैत वेदान्त के अनुसार साक्षात् अनुभूति का स्वरूप पराबौद्धिक है।** अनेक पाश्चात्य दार्शनिको ने भी साक्षात् अनुभूति को पराबौद्धिक माना है। अत अद्वैत वेदान्त का मत अधिक औचित्यपूर्ण जान पडता है।

अद्वैत वेदान्त मे प्रत्यक्ष को चैतन्य रूप माना गया है तथा चैतन्य के तीन रूप निर्धारित किये गये है–प्रमाण –चैतन्य, प्रमातृ–चैतन्य और विषय चैतन्य। चैतन्य अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमा के आधार पर प्रत्यक्ष के दो भेद माने गये हैं– विषयगत प्रत्यक्ष तथा ज्ञानगत प्रत्यक्ष। जब प्रमाण चैतन्य का विषय चैतन्य से अभेद होता है तो उसे ज्ञानगत प्रत्यक्ष कहते हैं और जब प्रामतृ चैतन्य का विषय चैतन्य से तादात्म्य होता है तो उसे विषयगत प्रत्यक्ष कहते हैं।

अद्वैत वेदान्त की विशिष्टता यह है कि इसमे प्रत्यक्ष प्रमा व प्रत्यक्ष प्रमाण का अलग–अलग व स्पष्ट विवेचना किया है। इसमे प्रत्यक्ष प्रमा के करण को प्रत्यक्ष प्रमाण तथा अन्त करण की वृत्ति को प्रत्यक्ष प्रमा का करण (साधकतम् या असाधारण) माना गया है। इसके अनुसार **प्रमाण चैतन्य के साथ विषय चैतन्य का अभेद ही प्रत्यक्ष है और ऐसा करने वाली वृत्ति प्रत्यक्ष प्रमाण है।** इस प्रकार अद्वैत वेदान्त मे ज्ञाता व ज्ञेय के मध्यस्त दोनो आवरणो का भग करके उन दोनो से अवच्छिन्न चैतन्यो के अभेद को अभिव्यक्त करने के द्वारा विषय को अपरोक्ष बनाने वाली वृत्ति को प्रत्यक्ष प्रमाण माना गया है। अद्वैत वेदान्त का यह मत अधिक तर्कसगत है। इसलिए इसे सिद्धात के रूप मे स्वीकार किया जा सकता है।

भारतीय दर्शन मे प्रत्यक्षात्मक **विषय–ग्रहण की प्रक्रिया** के सम्बन्ध मे विविध मत पाये जाते है। **चार्वाको** के अनुसार इन्द्रियार्थ सयोग से प्रत्यक्ष ज्ञान की प्राप्ति होती है। **जैन दर्शन** के अनुसार

पारमार्थिक प्रत्यक्ष" मे इन्द्रियादि की सहायता के विना ही तथा व्यावहारिक प्रत्यक्ष" मे इन्द्रिय या मन की सहायता से आत्मा व ज्ञेय वस्तुओ मे सम्बन्ध होने के पश्चात् अवग्रह" "ईहा" आवाय" और धारणा" के क्रम मे प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति होती है। **बौद्ध दर्शन** के अनुसार इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से प्रथम क्षण मे सर्वोपाधि विविक्त वस्तुमात्र (स्वलक्षण) का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष होता है। **साख्य–योग** के अनुसार बुद्धितत्त्व इन्द्रिय प्रणालिका के द्वारा विषयाकार मे परिणत होकर विषय का ग्रहण करती है। **न्याय–वैशेषिक** प्रत्यक्ष के विषय ग्रहण हेतु षडविध सन्निकर्षों की तथा **मीमासको** ने तीन प्रकार के सन्निकर्षो की कल्पना करके इन्द्रियो का वस्तु से सम्बन्ध मन का इन्द्रियो से सम्बन्ध आत्मा का मन से सम्बन्ध की पृष्ठभूमि मे प्रत्यक्ष को उत्पन्न होना मानते है। प्रत्यक्ष की प्रक्रिया के विषय मे **अद्वैत वेदान्तियो** का कहना है कि सर्वप्रथम अन्त करण नेत्रादि इन्द्रिय द्वारा निकल कर घटपटादि के पास जाता है और फिर उस विषय के आकार मे परिणत हो जाता है। इसी परिणाम का नाम वृत्ति है। चूँकि अन्त करण मे वृत्ति प्रतिक्षण उत्पन्न होती रहती है इस कारण इससे उत्पन्न ज्ञान को जन्य कहा जाता है। **प्रत्यक्ष के विषय ग्रहण की प्रक्रिया के बारे मे अद्वैत वेदान्त का मत अन्य मतो की तुलना मे अधिक तर्कसगत प्रतीत होता है।**

न्याय–वैशेषिक दर्शन मे इन्द्रिय इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष और ज्ञान (निर्विकल्पक ज्ञान) को प्रत्यक्ष का करण माना गया है। **भाट्ट मीमासको** ने प्रत्यक्ष ज्ञान के तीन करण माना है– इन्द्रिय निर्विकल्पक ज्ञान और सविकल्पक ज्ञान। प्राभाकर मीमासको के भी अनुसार प्रत्यक्ष ज्ञान के तीन करण हैं– इन्द्रिय आत्म–मन सन्निकर्ष और प्रकाश रूप ज्ञान। **अद्वैत वेदान्त** मे इन्द्रिय सन्निकर्षादि को करण माना गया है। अधिकाश दार्शनिको ने इन्द्रियो के करणत्व को स्वीकार किया है।

प्रत्यक्ष को इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य ज्ञान के रूप मे परिभाषित करने वाले दार्शनिको ने प्रत्यक्ष ज्ञान के **तीन घटक** माने है– इन्द्रिय सन्निकर्ष और पदार्थ। **न्याय–वैशेषिक, साख्य–योग** और **मीमासा** दर्शनो मे कुल छ इन्द्रियो को माना गया है– पच ज्ञानेन्द्रियाँ और मन। इन्द्रियो के बारे मे न्याय एव साख्य दर्शन मे विस्तृत विवेचन किया गया है। न्याय–वैशेषिक के अनुसार पच ज्ञानेन्द्रियो की उत्पत्ति पच महाभूतो से होती है, जब कि साख्य–योग के अनुसार इन्द्रियो की उत्पत्ति अहकार से होती है। **न्याय–वैशेषिक** के अनुसार मन, नित्य एव अणुरूप है। मन का एक समय मे एक ही इन्द्रिय के साथ सन्निकर्ष होता है। **साख्य–योग** मत इससे भिन्न है। इनके अनुसार मन अणुरूप न होकर सावयव है अत एक ही साथ भिन्न–भिन्न इन्द्रियो के साथ सयुक्त हो सकता है। मन नित्य पदार्थ नही है बल्कि प्रकृति का एक कार्यद्रव्य है। अत वह उत्पन्न एव विनष्ट होता रहता है। **बौद्ध, जैन** एव **अद्वैत वेदान्त** दर्शन मे मन के इन्द्रियत्व का निषेध किया गया है। मीमासको का इन्द्रिय सम्बन्धी विचार प्राचीन नैयायिको के समान है किन्तु वे श्रोतेन्द्रिय को आकाशस्व रूप न मानकर दिग्भागीय मानते है।

जहॉ तक **इन्द्रियो की प्राप्यकारिता** का प्रश्न है, प्राचीन न्याय, साख्य और अद्वैत वेदान्त

मे इन्द्रियो को प्राप्यकारी माना गया है जबकि नव्य न्याय मे इन्द्रयो की प्राप्य कारिता का निषेध किया गया है। भाट्ट मीमासक केवल घ्राण त्वक एव जिह्वा इन्द्रियो को ही प्राप्यकारी मानते हैं। प्राभाकर मीमासक इन्द्रिय सम्बध को केवल असमवायि कारण मानते है। जैन दार्शनिक चक्षुरिन्द्रिय के अतिरिक्त शेष चारो इन्द्रियो को प्राप्यकारी मानते है।

सन्निकर्ष के बारे मे मुख्य विवाद नैयायिको व मीमासको मे है। **नैयानिक** लौकिक सन्निकर्ष के छ भेद मानते है– सयोग, सयुक्त समवाय सयुक्त समवेतसमवाय, समवाय समवेत समवाय विशेष्य–विशेषणभाव। नैयायिक अलौकिक सन्निकर्ष के भी तीन भेद मानते है– सामान्य लक्षण, ज्ञान लक्षण ओर योगज। **मीमासा दर्शन** मे अलौकिक सन्निकर्ष का खण्डन किया गया है क्योकि मीमासक अविद्यमान विषयो का प्रतयक्ष मानते ही नही है। मीमासको ने न्याय के छ प्रकार के लौकिक सन्निकर्षो का भी खण्डन किया है। भाट्ट मत मे सयोग और सयुक्त तादात्म्य नामक दो प्रकार दो प्रकार के सन्निकर्ष को माना गया है, जबकि प्राभाकर केवल तीन प्रकार के सन्निकर्ष मानते हैं– सयोग सयुक्त समवाय और समवाय।

प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय के बारे मे भी भारतीय दार्शनिको मे मतभेद है। न्याय–वैशेषिक के अनुसार सप्त पदार्थ ही प्रत्यक्ष के विषय है। मीमासको के अनुसार सत् (विद्यमान) पदार्थ ही प्रत्यक्ष के विषय है। बौद्धो के अनुसार प्रत्यक्ष का विषय क्षणिक स्वलक्षण है, जबकि अद्वैत वेदान्त के अनुसार ब्रह्म ही एक मात्र प्रत्यक्ष का विषय है। अद्वैत वेदान्त का मत अधिक तर्कसगत प्रतीत होता है, क्योकि परमार्थिक दृष्टि से ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी की सत्ता ही नही है। इसलिए ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी के प्रत्यक्ष का विषय होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

जहॉ तक **प्रत्यक्ष के भेद** की बात है, **चार्वाक दर्शन** मे प्रत्यक्ष के भेदो का कोई सपष्ट उल्लेख नही किया गया है। जैन व नव्य न्याय दर्शन मे केवल सविकल्पक प्रत्यक्ष, योग और पूर्वमीमासा दर्शनो मे प्रत्यक्ष के निर्विकल्पक एव सविकल्पक दोनो भेदो को वैध माना गया है। किन्तु **न्याय दर्शन मे निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को केवल तर्क के आधार पर सविकल्पक प्रत्यक्ष की प्रागवस्था के रूप मे माना जाता है, जबकि पूर्व मीमासा दर्शन मे निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को मनुष्य के अनुभव की एक अवस्था विशेष माना जाता है।**

न्याय दर्शन मे लौकिक और अलौकिक भेद से प्रत्यक्ष के कुल छ भेद माने गये हैं। निर्विकल्पक, सविकल्पक, और प्रत्यभिज्ञा–लौकिक प्रत्यक्ष के भेद हैं, जबकि सामान्य लक्षणाजन्य ज्ञानलक्षणाजन्य और योगज–अलौकिक प्रत्यक्ष के भेद हैं। षड्विध इन्द्रियो के आधार पर नैयायिको ने अन्य दृष्टि से लौकिक प्रत्यक्ष के छ अन्य भेद माना है– चाक्षुष, श्रौत, स्पार्शन, रासन, घ्राणज तथा मानस। **बौद्धो** और **अद्वैत वेदान्तियो** ने नैयायिको के निर्विकल्पक आदि लौकिक प्रतयक्ष के भेदो का खण्डन किया है। अद्वैत वेदान्तियो ने मन के इन्द्रियत्व का निषेध करके नैयायिको के मानस प्रत्यक्ष तथा सामान्यलक्षणाजन्य एव ज्ञानलक्षणाजन्य प्रत्यक्ष का भी खण्डन किया है। **मीमासक** चूॅकि

अविद्यमान विषयो का प्रत्यक्ष नही मानत इसलिए व न्याय दर्शन के अलौकिक प्रत्यक्ष को भी नही मानते है।

बौद्ध और अद्वेत वेदान्त दर्शन मे अपनी–अपनी तत्त्वमीमासीय धारणाओ के आधार पर केवल निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को ही वैध प्रत्यक्ष माना गया है। बौद्ध दर्शन और अद्वैत वेदान्त के अनुसार क्रमश केवल स्वलक्षण एव ब्रह्म" ही परम पारमार्थिक सत्ताएँ है जो कि नाम रूपादि सभी प्रकार के भेदो से परे है। इसलिए नाम रूप भेद से युक्त सविकल्पक प्रत्यक्ष द्वारा नामरूपादि भेदो से परे "स्वलक्षण" एव 'ब्रह्म" का साक्षात्कार नहीं किया जा सकता। सविकल्पक प्रत्यक्ष के लिये प्रमाता से भिन्न प्रमेय की सत्ता को मानना आवश्य है। किन्तु ऐसा मानने पर स्वलक्षण" एव ब्रह्म" की एकतत्त्वता विनषट हो जायेगी। इसलिए सविकल्पक प्रत्यक्ष को नही माना जा सकता। लेकिन निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के स्वरूप के बारे मे दोनो दर्शनो मे मतभेद है। बौद्ध दर्शन मे स्वीकृत निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का स्वरूप ऐन्द्रिक भी है क्योकि बौद्धो के अनुसार प्रथम क्षण मे इन्द्रिय और अर्थ के द्वारा प्राप्त किया जाने वाला ज्ञान ही प्रत्यक्ष है जबकि वेदान्त के अनुसार निर्विकल्पक प्रत्यक्ष विना किसी इन्द्रिय की सहायता के प्राप्त किया गया वह ज्ञान है जो किसी विषय का बिना उसके अन्तर्सम्बन्धो का बोध कराये ही साक्षात् ज्ञान कराता है। **शकरोत्तर अद्वैत वेदान्तियो** के अनुसार ज्ञान की प्रत्यक्षात्मकता का स्रोत ऐन्द्रिक न होकर प्रमाण चैतन्य का प्रमेय चैतन्य के साथ अभेद होने मे है। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि **जहाँ बौद्ध दर्शन के निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का स्वरूप ऐन्द्रिक भी है वहाँ अद्वैत वेदान्त के निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का स्वरूप पराबौद्धिक है**। अद्वैत वेदान्त के मत का समर्थन अनेक पाश्चात्य दार्शनिको द्वारा भी किया गया है तथा तर्क की कसौटी पर भी यह मत अधिक खरा उतरता है। **इसलिए अद्वैत वेदान्त–मत का समर्थन किया जा सकता है।**

बौद्ध दर्शन मे प्रत्यक्ष के चार भेद माने गये है– इन्द्रिय प्रत्यक्ष मानस प्रत्यक्ष योगज प्रत्यक्ष एव स्वसवेदन प्रत्यक्ष। ये निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के ही भेद है। अद्वैत वेदान्त मे ज्ञानगत एव विषयगत आधार पर प्रत्यक्ष के दो भेद किये गये है– निर्विकल्पक एव सविकल्पक। इन दोनो के पुन जीवसाक्षी एव ईश्वरसाक्षी दृष्टि से दो भेद किये गये हैं। जन्य एव अजन्य दृष्टि से भी प्रत्यक्ष के दो भेद माने गये है– इन्द्रियजन्य एव इन्द्रियाजन्य। अद्वैत वेदान्त कृत प्रत्यक्ष का उपर्युक्त भेद बौद्ध दर्शन सम्मत प्रत्यक्ष–भेद की तुलना मे जहॉ एक ओर प्रत्यक्ष को विस्तृत आयाम प्रदान करता है, वहीं दूसरी ओर केवल निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की तात्त्विक यथार्थता तथा सविकल्पक प्रत्यक्ष की केवल व्यावहारिक यथार्थता स्वीकार करके व्यवहार एव परमार्थ मे सामञ्जस्य स्थापित करने के साथ ही तत्त्वमीमासीय अद्वैतवाद से ज्ञान मीमासीय अद्वैतवाद का सामञ्जस्य भी स्थापित कर देता है। उल्लेखनीय है कि बौद्ध दर्शन मे सविकल्पक प्रत्यक्ष को काल्पनिक एव भ्रान्त कह कर उसका निराकरण कर दिया गया है, जबकि अद्वैत वेदान्त मे सविकल्पक प्रत्यक्ष को व्यावहारिक वेधता प्रदान की गयी है, न कि तार्किक वैधता। तार्किक वैधता केवल निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को ही प्राप्त है। दूसरी बात यह है कि प्रत्यक्ष प्रमा

और प्रत्यक्ष प्रमाण का जितना अलग–अलग और स्पष्ट विवेचन अद्वैत वेदान्त मे किया गया है उतना अन्य दर्शनो मे दृष्टिगोचर नही होता। इन सब आधारो पर **निष्कर्ष के रूप मे हम कहना चाहते है कि प्रत्यक्ष के सम्पूर्ण पक्षो पर अद्वैत वेदानत का मत अधिक तर्क सगत और स्वीकार्य प्रतीत होता है।**

प्रमाणो मे प्रत्यक्ष के पश्चात् द्वितीय स्थान **अनुमान** का है। अनुमान उस ज्ञान को कहते है जो किसी पूर्व ज्ञान के पश्चात् आता है। सामान्यत प्रत्यक्ष को ही अनुमान का आधार माना जाता है किन्तु जहॉ प्रत्यक्ष द्वारा अनुमान को आधार नही मिलता वहॉ आप्त वचन द्वारा प्राप्त ज्ञान ही अनुमान का आधार हो जाता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि अनुमान मे एक ज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् ही दूसरी वस्तु का ज्ञान होता है। ज्ञानमीमासाा मे अनुमान के सन्दर्भ मे एक ज्ञान के पश्चात जिस माध्यम से दूसरी वस्तु का ज्ञान होता है उसे हेतु' या साधन' कहते हैं और हेतु के द्वारा जिसका ज्ञान होता है उसे साध्य कहते है तथा जिसके सम्बन्ध मे अनुमान होता है उसे पक्ष' कहते है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि अनुमान वह है जिसमे किसी हेतु या साधन के द्वारा किसी अन्य वस्तु का ज्ञान प्राप्त होता है। हेतु या साधन को करण भी कहते हैं इसीलिए अनुमान प्रमाण को अनुमिति के करण के रूप मे भी परिभाषित किया जाता है। अनुमान की प्रक्रिया हेतु पद और साध्य पद के बीच व्याप्ति' के पूर्व ज्ञान से सम्पूरित होती है। इस तरह से अनुमान को परिभाषित करते हुए कहा जा सकता है कि अनुमान वह विचार प्रणाणी है जिसमे हेतु के द्वारा पक्ष के सम्बन्ध मे साध्य का ज्ञान प्राप्त होत है क्योकि उन दोनो मे पूर्ण व्याप्ति का सम्बन्ध विद्यमान रहता है। **धर्मराजाध्वरीन्द्र** के अनुसार अनुमान की प्रक्रिया मे सर्वप्रथम पक्ष मे हेतु के ज्ञान से महानस आदि मे ग्रहण किया हुआ व्याप्ति ज्ञान का सस्कार उद्‌बुद्ध होता है तदुपरान्त व्याप्ति के स्मरण से अनुमिति होती है। पक्ष धर्मता का ज्ञान होने पर भी व्याप्ति का स्मरण यदि न हुआ तो अनुमिति नहीं हो सकती। अद्वैत वेदान्त मे अनुमान के सामान्य ओर विशेष दोनो लक्षण दिये गये हैं। अनुमान के लक्षण के बारे मे अद्वैत वेदान्त का मत अधिक तर्कसगत प्रतीत होता है।

चार्वाक दार्शनिक अनुमान के प्रामाण्य को स्वीकार नहीं करते हैं। उनके अनुसार अनुमान का आधार व्याप्ति–वाक्य है। किन्तु व्याप्ति की स्थापना न तो प्रत्यक्ष द्वारा हो सकती है न अनुमान द्वारा और न ही शब्द के द्वारा। व्याप्ति को कार्य–करण सम्बन्ध के अनुसार भी स्थिर नही किया जा सकता, क्योकि कार्य–कारण सम्बन्ध स्वय एक व्याप्ति है। अत जब व्याप्ति की स्थापना ही नहीं हो सकती, तो उसके आधार पर अनुमान की सिद्धि का प्रश्न ही नहीं उठता। जब तक दो वस्तुओ का सम्बन्ध उपाधिरहित न हो, तब तक वह अनुमान का सही आधार नही हो सकता। प्रत्यक्ष के द्वारा यह सिद्ध नही हो सकता कि कोई व्याप्ति उपाधि–रहित है, क्योकि प्रत्यक्ष व्यापक नहीं हो सकता। उपाधि–निरास के लिये अनुमान या शब्द की सहायता लेना भी अनुचित होगा, क्योकि वे तो स्वय असिद्ध हैं, और जो स्वय असिद्ध है वह दूसरे को कैसे सिद्ध कर सकता है? इन तर्कों के आधार पर

चार्वाक दार्शनिक व्याप्ति ज्ञान की असिद्धि का प्रतिपादन करके अनुमान की असिद्धि का भी प्रतिपादन करते है जिसका विस्तृत विवेचन सम्बद्ध अध्याय मे किया गया है। अनुमान के प्रामाण्य के बारे मे चार्वाक विरोधी अनुमानवादी दार्शनिको मत उचित प्रतीत होता है। **अत अनुमान को एक स्वतन्त्र प्रमाण मानना उचित ही है।**

प्राय सभी अनुवादी दर्शनो मे अनुमान के इस सामान्य लक्षण को स्वीकार किया गया है कि अनुमिति का करण अनुमान प्रमाण है किन्तु अनुमिति के करण अनुमान के अवयव व्याप्ति पक्षधर्मता एव अनुमान के भेद आदि के बारे मे मतभेद परिलक्षित होता है। **अनुमिति के करण** के सम्बन्ध मे प्रमुखत चार मत प्रचलित है– लिग या लिगज्ञान लिग परामर्श एव ज्ञात ज्ञायमान या परामृश्यामान लिग तथा व्याप्ति ज्ञान।

प्राचीन नैयायिक लिग को अनुमिति का करण मानते है। लेकिन **लिग** को अनुमिति का करण नही माना जा सकता, क्योकि लिग के अभाव मे भी अनुमिति होती है। जैसे घूलि–पटल मे धूम का भ्रम हाने से पर्वत वह्निमान् है ऐसी अयथार्थ अनुमिति होती है। इसी प्रकार लिग ज्ञान को भी अनुमिति का करण नहीं माना जा सकता क्योकि जिस व्यक्ति ने पहले कभी पाकशाला आदि मे हेतु और साध्य के अविनाभाव सम्बन्ध का ग्रहण नही किया है अथवा जिसे उक्त सम्बन्ध ग्रहण करने के बाद भी पर्वत पर धूम को देखकर अर्थात पर्वत वह्निमान है' इत्याकारक लिग ज्ञान होने पर भी व्याप्ति सम्बन्ध का स्मरण न हुआ हो उसे पर्वत् वह्निमान है' इस प्रकार की अनुमिति नही हो सकती। इसलिए लिगज्ञान को भी अनुमिति का करण नही माना जा सकता है।

लिग परामर्श को भी अनुमिति के प्रति करण नही माना जा सकता। न्याय दार्शनिको का मत है कि तृतीय लिग परामर्श ही अनुमिति का करण है क्योकि इसके बाद ही उत्तर क्षण मे अनुमिति होती है। किन्तु यह मत अनुचित है कयोकि पक्ष धर्मता ज्ञान से सर्वप्रथम व्याप्ति का सस्कार उद्बुद्ध होता है। तदनन्तर व्याप्ति का स्मरण होते ही साध्य की अनुमिति होती है। लिगज्ञान या पक्षधर्मताज्ञान होने पर भी यदि व्याप्ति का स्मरण न हो तो अनुमिति नही हो सकती। इसलिए लिग परामर्श नही बल्कि व्याप्ति ज्ञान को अनुमिति का करण मानना चाहिए।

प्राचीन नैयायिको का यह मत भी अग्राह्य है कि ज्ञायमान लिग अनुमिति का करण है, क्योकि ऐसा मानने पर पर्वतोवह्निमान् भविष्यद् धूमात्' इत्यादि स्थलो मे सबको जो अनुमिति होती है वह नही होगी, क्योकि उस समय वहॉ लिग नही है। इसलिए वहॉ उसके करणत्व का व्यभिचार होता है। इसलिए ज्ञात ज्ञायमान या परामृश्यमान लिग को अनुमिति के प्रति करण नहीं माना जा सकता है।

वस्तुत **व्याप्ति ज्ञान** को ही अनुमिति के प्रति करण मानना चाहिए क्योकि व्याप्तिज्ञान ही सस्कार द्वारा अनुमिति का करण बनता है। 'पर्वत धूमवान् है' ऐसा पक्षधर्मताज्ञान होने पर और धूमवह्निव्याप्य है' इस अनुभव से उत्पन्न हुए सस्कार का उद्बोध होने पर ही 'वह्निमान्' इत्याकारक

अनुमिति होती है। इसलिए **मीमासको** एव **अद्वैत** वेदान्तियो के इस मत का समर्थन करते हुए कहा जा सकता है कि व्याप्ति ज्ञान ही अनुमिति का करण है। **कुछ नैयायिको** ने भी 'व्याप्ति ज्ञान ही अनुमिति का करण है। किन्तु व्यापार के बारे मे उनका अद्वैत वेदान्तियो एव मीमासको से मतभेद है। **नैयायिक परामर्श को व्यापार मानते है जबकि अद्वैत वेदान्ती व मीमासक व्याप्ति–स्मरण को व्याप्ति ज्ञान का व्यापार मानते है। अद्वैत वेदान्तियो एव मीमासको का मत अधिक तर्कसगत प्रतीत होता है।**

अनुमान के अवयवो (वाक्यो) के बारे मे भारतीय दर्शन मे मुख्यत दो मत प्रचलित हैं– प्रथम मतानुसार अनुमान के पॉच अवयव होते है। ये है– प्रतिज्ञा हेतु उदाहरण, उपनय और निगमन। द्वितीय मत के अनुसार उपरोक्त मे से प्रथम तीन या अन्तिम तीन ही अनुमान के अवयव माने जा सकते है। पचावयवी परम्परा के अग्रगण्य आचार्य नैयायिक है, जबकि अवयवत्रयी परम्परा के मुख्य प्रचारक मीमासक, अद्वैत वेदान्ती और बौद्ध दार्शनिक है। **न्याय मत** मे चूँकि चार प्रमाण ही स्वीकृत हैं, इसलिए उनकी प्रामाणिकता को सिद्ध करने के लिये न्यायाचार्य अनुमान के पॉच अवयव मानते हैं। उनके अनुसार प्रतिज्ञा मे शब्द प्रमाण हेतु मे अनुमान प्रमाण एव उपनय' मे उपमान प्रमाण समाविष्ट है। निगमन मे चारो प्रमाणो की प्रतिष्ठा होती है। इसलिए प्रमाणचतुष्टय की प्रतिष्ठा को सिद्ध करने के लिये अनुमान के पॉच अवयवो को मानना आवश्यक है।

अवयवत्रयी परम्परा के अग्रगण्य आचार्य मीमासको के अनुसार चूँकि सदर्भ केवल अनुमान प्रमाण से ही सम्बन्धित है इसलिए अनुमान के केवल तीन अवयव ही माने जाने चाहिए। तीनो अवयवो से ही परार्थनुमान की सिद्धि हो जाती है। **मीमासको** व **अद्वैत वेदान्तियो** के अनुसार केवल तीन अवयवो से ही व्याप्ति और पक्ष धर्मता का ज्ञान हो जाता है, इसलिए दो अतिरिक्त अवयवो को मानने की कोई आवश्यकता नही है। उन्हे मानने से पुनरूक्ति दोष' होगा। हमारा मानना है कि मीमासको व अद्वैत वेदान्तियो का मत उचित है।

अनुमान के आधार **व्याप्ति** के लक्षण व साधन के बारे मे भी भारतीय दार्शनिको मे मतभेद है। प्राचीन नयाय–वैशेषिक, साख्य–योग, जैन, बौद्ध तथा मीमासको ने अपने–अपने लक्षणो द्वारा व्याप्यत्व' का परिष्कार करते हुए, साधन और साध्य के यथार्थ सम्बन्ध को सूचित करने के लिये हेतु की अव्यभिचारता पर ही अधिक बल दिया है। गगेश एव उनके उत्तरवर्ती आचार्यों ने उक्त परिष्कार को पूर्वपक्ष मे रखकर सिद्धान्त लक्षण मे रखकर 'व्यापकत्व' का भी परिष्कार किया है एव व्याप्ति को व्याप्य एव व्यापक दोनो का धर्म मानकर दोनो का सामन्वय करते हुए दोनो को समान अधिकरण मे गृहीत होना भी आवश्यक माना है। **अद्वैत वेदान्तानुसार समस्त साधनो के आश्रय (पक्ष) के आश्रित (साध्य) के साथ हेतु का समानाधिकरण्य ही व्याप्ति है।** व्याप्ति के इस लक्षण के आधार पर अनुमान करने से वह्निरूप असद् हेतु मे व्याप्ति लक्षण की 'अतिव्याप्ति भी नहीं होगी। **अत व्याप्ति लक्षण के बारे मे अद्वैत वेदान्त का मत अधिक तर्कयुक्त प्रतीत होता है।**

व्याप्ति–ग्रहण के साधन को लेकर भी अनुमानवादी भारतीय दार्शनिको म मतभेद है। विभिन्न दर्शनो मे अपनी–अपनी दार्शनिक मान्यताओ के अनुसार **तर्क** सहचारदर्शन भूयोदर्शन या सकृद्दर्शन तादात्म्य एव तदुत्पत्ति तथा व्यभिचारादर्शन सहकृत सहचार दर्शन आदि को व्याप्ति ग्रहण का साधन माना गया है। लेकिन तर्क से व्याप्ति का ग्रहण नही हो सकता क्योकि व्याप्य के आरोप से व्यापक का आरोप करनारूप जो तर्क है वह व्याप्ति के अधीन है। केवल सहचार दर्शन स भी व्याप्ति का ग्रहण नही हो सकता क्योकि दो पदार्थो का साहचर्य एक बार या बार–बार दिखायी देन पर भी सहचार का क्वचिद् व्यभिचार भी दिखाई देता है। भूयोदर्शन या सकृद्दर्शन को भी व्याप्ति–ग्रहण का साधन नहीं माना जा सकता है। तादात्म्य व तदुत्पत्ति को व्याप्ति ग्रहण का साधन मानने से अनेक कठिनाइयॉ उत्पन्न हो जाती है जिनका विस्तृत विवेचन सम्बन्धित प्रकरण मे किया गया है। वस्तुत ध्यानपूर्वक समीक्षा करने से **अतीत व्यभिचार शून्य सहचार दर्शन ही व्याप्ति का प्रयोजक प्रतीत होता है।** अतीत मे यदि दो वस्तुओ का साहचर्य देखा जाय और उनका व्यभिचार (अपवाद) देखने मे न आये, तो दोनो मे साहचर्य सम्बन्ध अर्थात् व्याप्ति सम्बन्ध मानना चाहिए। **इस तरह से व्याप्ति ग्रहण के साधन के सम्बन्ध मे भी अद्वैत वेदान्त का मत अधिक उचित प्रतीत होता है।**

अनुमान के आधार के रूप मे सभी अनुमानवादी चितक व्याप्ति के अतिरिक्त एक अन्य तत्त्व **'पक्षधर्मता** को मानते है। वस्तुत व्याप्ति के सस्कार के उद्बोधन के लिये पक्षधर्मता को मानना आवश्यक है। अनुमान के लिए पक्षधर्मता के अतिरिक्त सभी दार्शिनिक इस बात मे भी मतैक्य रखते है कि अनुमान मे **तीन पद** आवश्यक है। ये है– पक्ष पद हेतु पद और साध्य पद।

अद्वैत वेदान्त के अतिरिक्त अन्य वैदिक दर्शनो मे **अनुमान के तीन भेद** माने गये हैं। ये हैं– केवलान्वयी केवलव्यतिरेकी और अन्वयव्यतिरेकी। **अद्वैत वेदान्त** मे अनुमान के इन भेदो का खण्डन करके **अनुमान का केवल एक ही भेद** माना गया है। वह है अन्वयिरूप। अनुमान के भेद–प्रकरण मे इस बात का विस्तृत विवेचन किया गया है कि केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी और अन्वयव्यतिरेकी के रूप मे अनुमान का जो वर्गीकरण किया गया है वह दोषपूर्ण व अतार्किक है। **इस सम्बन्ध मे अद्वैत वेदान्त का मत अधिक तर्कसगत एव ग्राह्य प्रतीत होता है।**

एक अन्य दृष्टि से अनुमान का वर्गीकरण स्वार्थ' और परार्थ' इन दो रूपो मे किया गया है, जिसे सभी अनुमानवादी दार्शनिको ने स्वीकार किया है। किन्तु परार्थनुमान को व्यक्त करने के लिये जहॉ न्यायादि दार्शनिको ने पॉच वाक्यो को आवश्यक माना है वहॉ मीमासको वेदान्तियो और बसुबन्धु आदि बौद्धो ने परार्थानुमान के लिए केवल तीन अवयवो को ही आवश्यक एव पर्याप्त माना है जिसे तर्क सगत माना जा सकता है क्योकि यदि त्रिअवयव–समुदाय से ही व्याप्ति और पक्ष धर्मता का ज्ञान हो जाता है तो दो अन्य अवयवो को मानना अनुचित है। मीमासको व अद्वैत वेदान्तियो का यह

दृष्टिकोण अधिक तर्कसगत एव सुग्राह्य है। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर **निष्कर्षत हमारा मत है कि अनुमान के समस्त पक्षो पर अद्वैत वेदान्त का मत अधिक औचित्यपूर्ण है।**

जहाँ तक **उपमान** का प्रश्न है सभी उपमानवादी दर्शनो मे सादृश्य ज्ञान के करण को उपमान प्रमाण मानने मे सामान्य सहमति है किन्तु उपमिति प्रमा इसके करण उपमान की प्रक्रिया व प्रयोजन को लेकर मतभेद है। **न्याय दार्शनिको** के अनुसार सञ्ज्ञा–सञ्ज्ञि या नाम–नामी की प्रतीति उपमिति है। गो सदृश पशु विशेष गवय पद का वाच्य है– इस प्रकार की प्रतीति उपमिति है। लेकिन **मीमासको** व **अद्वैत वेदान्तियो** का मानना है कि "गवय गाय के सदृश है" यह ज्ञान उपमिति नहीं है वल्कि 'गाय गवय के सदृश है" यह ज्ञान उपमिति है। इस प्रकार मीमासक व अद्वैत वेदान्ती सादृश्य ज्ञान के कारण को उपमान प्रमाण मानने मे नैयायिको से सहमति रखते है लेकिन उपमान प्रमाण के फल के बारे मे वे न्यायाचार्यों से भिन्न मत रखते है।

न्याय दर्शन के दोनो सम्प्रदायो मे उपमिति के करण को लेकर मतभेद है। **प्राचीन न्याय** के अनुसार उपमिति का करण आप्त पुरूष का वचन है जबकि **नव्य न्याय** के अनुसार अतिदेशवाक्य स्मृतिसापेक्ष सादृश्य का इन्द्रिय जन्य ज्ञान उपमिति का करण है। मीमासको व अद्वैत वेदान्तियो ने उपर्युक्त दोनो मतो का खण्डन किया है। **कुमरिल भट्ट** के अनुसार प्राच्य नैयायिको का उपमान प्रमाण शब्द प्रमाण मे अन्तर्भूत किया जा सकता है क्योकि नैयायिक आप्त पुरूष के उपदेश को शब्द प्रमाण मानते हैं तथा उपमान भी आरण्यक के "यथागौर्गवयस्तथा" इस अतितदेश वाक्य से होता है। अत प्राचीन न्याय सम्मत उपमान को आगम से भिन्न नहीं माना जा सकता है। नव्य न्याय मत के खण्डन मे कुमरिल भट्ट का कहना है कि नव्य न्याय का उपमान स्मृति सहित सादृश्य का प्रत्यक्ष ज्ञान है जिसमे गाय का तो प्रत्यक्ष होता है तथा गवय मे गोसादृश्य अतिदेशवाक्य द्वारा पूर्वकथित होने के कारण पूर्वानुभूत है इसलिए वह स्मृति है। **प्राभाकर मीमासको** ने भी कहा है कि न्याय सम्मत उपमान प्रमाण का अन्तर्भाव शब्द, प्रत्यभिज्ञा तथा अनुमान आदि मे हो जाता है। इसलिए नैयायिको का उपमान लक्षण निर्दुष्ट नही है। **अद्वैत वेदान्तियो** के अनुसार भी न्याय के उपमान प्रमाण का अन्तर भाव अनुमान या शब्द प्रमाण मे सरलता से किया जा सकता है। इसलिए न्याय दर्शन मे स्वीकृत उपमान प्रमाण स्वतन्त्र प्रमाण न रह पाने के कारण दोषपूर्ण है। अद्वैत वेदान्त से यहाँ पर हम पूरी तरह से सहमत हैं।

भाट्ट शबर स्वामी के अुनसार "गोसादृश्य विविष्ट गवय का दर्शन" उपमिति का करण (उपमान प्रमाण) है और 'गो स्मरण" उसका फल (उपमिति) है। परन्तु भाट्ट एव प्राभाकर मीमासक आचार्य शबर के उपर्युक्त मत से पूर्णतया सहमत नहीं है। **कुमारिल भट्ट** का कहना है कि स्मरण किये जाने वाले अर्थ गो" को इन्द्रियासन्निकृष्ट मानने पर उपमान और स्मृति मे कोई भेद नहीं रह जायेगा। **प्रभाकर** भी यहाँ कुमारिल भट्ट से सहमत है। इसलिए उभय आचार्यों का मानना है कि "गो सादृश्य विशिष्ट गवय दर्शन" उपमिति का करण और "गवयसादृश्यज्ञान" अर्थात् "अनेन सदृशी मदीया

गौ (इसी के समान मेरी गाय है) उसका फल है।

अद्वैत वेदान्त मे सादृश्य ज्ञान को उपमिति तथा सादृश्य प्रमा के करण को उपमान कहा गया है और इन दोनो के मध्य किसी अन्य व्यापार की विद्यमानता का निराकरण किया गया है। अद्वैत वेदान्त मे यद्यपि सादृश्य ज्ञान को प्रमा और प्रमाण दोनो माना गया है तथापि दोनो म मुख्य अतर यह है कि प्रमाणरूप सादृश्यज्ञान मे गो" उपमान और गवय उपमेय है और प्रमारूप सादृश्य ज्ञान मे गवय' उपमान और गो उपमेय है। यही दोनो मे अन्तर है। इनमे प्रथम सादृश्य ज्ञान द्वितीय सादृश्य ज्ञान का जनक (करण) है और द्वितीय सादृश्य ज्ञान उसका फल (कार्य) है। इस प्रकार उनमे जनक–जन्यभाव सम्बन्ध है। इस सादृश्य ज्ञान की उत्पत्ति इन्द्रियादिको से नही होती है। इसलिए उपमान एक पृथक प्रमाण सिद्ध होता है। यहाँ चार्वाक जैन, बौद्ध, वैशेषिक और साख्य–योग मत का खण्डन भी हो जाता है जो या तो उपमान को प्रमाण मानते ही नहीं हैं या उसका अन्तर्भाव प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष, अनुमान या शब्दपूर्वक प्रत्यक्ष प्रमाण मे कर देते हैं। उपमान के स्वतन्त्र प्रामाण्य का समर्थन करते हुए हम कहना चाहेगे कि उपमिति व उसके करण के लक्षण के बारे मे अद्वैत वेदान्त का मत अधिक तर्कसगत है।

उपमान की प्रक्रिया मे अवान्तर व्यापार को लेकर दार्शनिको मे मतभेद है। **अद्वैत वेदान्त** मे उपमानरूप सादृश्यज्ञान और उपमितिरूप सादृश्य प्रमा के बीच कोई अन्य व्यापार नही माना गया है। **मीमासा दर्शन** मे भी उपमान की प्रक्रिया मे अवान्तर व्यापार का कोई उल्लेख नहीं मिलता है। **न्याय दार्शनिक** उपमान की प्रक्रिया मे अवान्तर व्यापार को मानते हैं। उनके अनुसार किसी आरण्यक व्यक्ति से गवय गो सदृश होता है सुनकर अरण्य मे गये हुए शहरी व्यक्ति का गवय' के साथ इन्दिय सन्निकर्ष होने पर यह गो सदृश है', ऐसा गोसादृश्य ज्ञान होता है। तदनन्तर आरण्यक व्यक्ति के बताए हुए गवय, गोसदृश होता है' वाक्यार्थ का स्मरण होता है, इसके पश्चात् अय गवयपदवाच्य (यह गवय पशु गवय शब्द का वाच्य अर्थ है) –यह ज्ञान होना ही उपमिति है। न्याय मत मे उपमान प्रमाण वस्तुबोधक न होकर शक्तिग्राहक है। गवय' पद की एक विशिष्ट पशु मे शक्ति है, इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त कराना ही उपमान का प्रयोजन है।

किन्तु **अद्वैत वेदान्ती** उपमान का उपर्युक्त प्रयोजन नही स्वीकार करते है। उनके मतानुसार अनेन सदृशी मदीया गौ'– यह ज्ञान होना ही उपमिति है। हमे अनुभव भी यही होता है कि 'इस पशु जैसी ही मेरी गाय है।' अत गोसादृशो गवय' इस अतिदेश–वाक्य के स्मृतिरूप व्यापार की कल्पना करने के पश्चात् उससे गवय, गवय शब्द का वाच्य है' ज्ञान की कल्पना करना, यह सब अनुभव के विरूद्ध है और इसलिए उपमान को शक्तिग्राहक नहीं माना जा सकता है। सामान्य अनुभव और तर्क दोनो ही दृष्टियो से अद्वैत वेदान्त का मत अधिक सन्तोष जनक प्रतीत होता है। **निष्कर्त सम्पूर्ण उपमान प्रमाण के बारे मे अद्वैत वेदान्त का दृष्टिकोण अधिक औचित्यपूर्ण जान पडता है।**

शोध–विषय मे विवेचन क्रम मे उपमान के पश्चात् **शब्द प्रमाण** का स्थान है। प्राय शाब्दी प्रमा के करण को शब्द प्रमाण माना जाता है। लेकिन शब्द को पृथक प्रमाणत्व प्रदान करने वाले जैन साख्य–योग, न्याय पूर्वमीमासा एव अद्वैत वेदान्त दर्शनो मे शब्द प्रमाण के विशिष्ट लक्षण के बारे मे मतभेद परिलक्षित होता है। **जैन दर्शन** मे श्रुत ज्ञान या शाब्द ज्ञान को आगम माना गया है। **न्याय दर्शन** के दोनो सम्प्रदायो मे शब्द प्रमाण के बारे मे किचित् मतभेद परिलक्षित होता है। **प्राचीन न्याय** मे आप्तोपदेश' को शब्द प्रमाण माना गया है। **नव्य न्याय** मे आप्तता के विचार का परित्याग करके वाक्यार्थ ज्ञान' को शब्द प्रमाण माना गया है और वाक्यार्थ ज्ञान का अर्थ वाक्य के अन्तर्गत पदसमूह का स्मरणात्मक ज्ञान' किया गया है। **केशव मिश्र** तथा **अन्नभट्ट** ने उपदेश को हटाकर आप्तवाक्य' को शब्द प्रमाण माना है।

न्याय दर्शन के दोनो सम्प्रदाय यह मानते है कि शब्द प्रमाण होने के लिये वाक्य का अर्थपूर्ण एव विशेष ढग से क्रमबद्ध होना आवश्यक है। इसके लिये प्राचीन नैयायिक आकाक्षा योग्यता एव सन्निधि को आवश्यक मानते है, जबकि नव्य नैयायिक तात्पर्यज्ञान को भी आवश्यक मानते हैं।

आप्त' शब्द की व्याख्या के अतिरिक्त शब्द प्रमाण के लक्षण के बारे मे साख्य–योग और न्याय दर्शन मे कोई विशेष अतर नही है। साख्य–योग के अनुसार सुदृढ प्रमाणो के द्वारा पदार्थ का अवधारण कराने वाला आप्त व्यक्ति जब अपने अनुभव के अनुसार किसी पदार्थ के वास्तविक स्वरूप का वर्णन करता है तो उस समय के उसके कथन को शब्द प्रमाण कहते हैं।

शब्द प्रमाण के लक्षण के सम्बन्ध मे मीमासको ने पूर्ववर्तियो के लक्षणो का तर्कपूर्ण ढग से खण्डन करके शब्द प्रमाण का लक्षण निर्धारित किया है। **शबर स्वामी** के अनुसार "वर्ण ही शब्द है।" भाष्यकार की भॉति **प्रभाकर मिश्र** भी वर्ण को ही शब्द मानते है। उनके अनुसार शब्द उन अक्षरो से भिन्न नही हैं जिनसे यह बना है। शब्दो मे अर्थद्योतन की नैसर्गिक शक्ति होती है, जिसके द्वारा वे पदार्थों को प्रकट करते है। इस प्रकार प्रभाकर के मत मे अक्षर शाब्दिक बोध के साधन हैं।

आचार्य शबर पर प्राय यह आक्षेप लगाया जाता है कि उन्होने शब्द सामान्य का लक्षण न करके अपने मत को दोषयुक्त बना दिया है, क्योकि सामान्य को समझे विना विशेष को नहीं समझा जा सकता है।

कुमारिल भट्ट के अनुसार 'विज्ञात' शब्द के द्वारा पदार्थ का अभिधान करते हुए जो असन्निकृष्ट (इन्द्रिय से असम्बद्ध) वाक्यार्थ विषयक ज्ञान होता है, उसे शब्द प्रमाण कहते हैं। **नैयायिक शाब्दबोध के प्रति ज्ञायमान पद अथवा पद–ज्ञान को करण मानते हैं, परन्तु भाट्ट मीमासक पदो के**

द्वारा पदार्थों का स्मरण होने पर जो वाक्यार्थ ज्ञान होता है उसे ही शब्द प्रमाण कहते है। पार्थसारथि मिश्र के अनुसार उस प्रमाण के द्वारा जो ज्ञान हो उसे नवीन होना चाहिए।

प्राभाकर मीमासक लौकिक या पौरूषेय शाब्दबोध के प्रामाण्य को अस्वीकार करते है। उनके अनुसार चूँकि पुरूष वचन केवल वक्ता पुरूष के अभिप्राय का अनुमान कराते है, स्वय वाक्यार्थ का बोध नही कराते है इसलिए पौरूषेय शाब्दबोध का अन्तर्भाव अनुमान प्रमाण मे हो जाता है। किन्तु **भाट्ट मीमासको** के अनुसार वक्ता के बुद्धि की सिद्धि अनुमान से किसी भी प्रकार से नहीं हो सकती। इसलिए असिद्ध वक्तृबुद्धिरूप हेतु से श्रोता मे शब्दार्थ विषयक अनुमिति नही की जा सकती। इसलिए लौकिक शब्द अनुमान मे अन्तर्भूत नही किया जा सकता। वैदिक शब्द के समान ही लौकिक शब्द भी प्रमाण है। भाट्ट मीमासको का यह मत अधिक उचित प्रतीत होता है।

अद्वैत वेदान्त मे शब्द प्रमाण का अधिक सन्तुलित एव तर्कसगत लक्षण प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि जिसका पदार्थ ससर्ग किसी भी अन्य प्रमाण से बधित नहीं होता, ऐसे और वक्ता के तात्पर्यविषयीभूत, ससर्ग के बोधक वाक्य को शब्द प्रमाण कहते हैं– **"वाक्यस्य तात्पर्यविषयीभूतससर्गो मानान्तरेण न बाध्यते तत् वाक्य प्रमाणम्।" धर्मराजाध्वरीन्द्र** के अनुसार लक्षण मे 'वाक्यस्य' पद के प्रयोग द्वारा अन्य प्रमाणो से प्रत्यक्ष का भेद प्रदर्शित किया गया है। इससे शब्द प्रमाण का अनुमान मे अन्तर्भाव किये जाने का खण्डन भी हो जाता है। इसलिए शब्द प्रमाण के लक्षण के बारे मे अद्वैत वेदान्त का मत अधिक सन्तोषजनक प्रतीत होता है।

चार्वाक, बौद्ध और **वैशेषिक दार्शनिको** के अनुसार शब्द का अन्तर्भाव अनुमान मे हो जाता है। हमारा मानना है कि शब्द प्रमाण को अनुमान मे अन्तर्भावित करना उचित नहीं है, क्योकि शब्द प्रमाण व्याप्ति–निरपेक्ष होता है, जबकि अनमान का आधार व्याप्ति है। दूसरी बात यह है कि शब्द प्रमाण के लिए आकाक्षा योग्यता, आसत्ति और तात्पर्यज्ञान आवश्यक होता है, जो कि अनुमान मे नहीं होता। इसलिए शब्द का प्रामाण्य सिद्ध होता है।

एक प्रश्न यह उठता है कि **शब्द का अर्थ** क्या है? इसके उत्तर मे व्यक्तिवाद, आकृतिवाद, अपोहवाद, स्फोटवाद, जात्याकृतिव्यक्तिवाद जातिविशिष्टव्यक्तिवाद तथा जातिवाद जैसे अनेक सिद्धातो का प्रतिपादन किया गया है। किन्तु जातिवाद के अतिरिक्त अन्य सभी सिद्धान्त दोषपूर्ण हैं। इनका विस्तृत विवेचन सम्बन्धित स्थल पर किया गया है। **जातिवाद** के अनुसार जाति ही शब्द का अर्थ है। हमारे मतानुसार पूर्वमीमासा एव अद्वैत वेदान्त मे स्वीकृत जातिवाद ही शब्दार्थ की सही एव सन्तुलित व्याख्या करता है।

जहॉ तक **शब्दार्थ सम्बन्ध** की बात है, जैन और न्याय–वैशेषिक के अनुसार शब्द और अर्थ के बीच अनित्य सम्बन्ध है, जबकि व्याकरण, साख्य, मीमासा और अद्वैत वेदान्त के अनुसार यह सम्बन्ध नित्य है। अनित्यवादियो के अनुसार शब्दार्थ सम्बन्ध को नित्य मान लेने पर प्रथम बार मे ही उसका ज्ञान हो जाना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता। अत शब्दार्थ सम्बन्ध को अनित्य मानना चाहिए।

किन्तु शब्दार्थ–सम्बन्ध का प्रथम बार मे ज्ञान न होने मात्र से ही यह सिद्ध नहीं होता कि दोनो का सम्बन्ध अतित्य है। वस्तुत शब्द की उत्पत्ति न होकर अभिव्यक्ति मात्र होती है। शब्द और उससे निर्दिष्ट अर्थ दोनो ही नित्य है और अज्ञातकाल से मनुष्य उन्ही शब्दार्थों के लिये उन्हीं शब्दो का प्रयोग करते रहे है। इससे सिद्ध होता है कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य है।

अद्वैत वेदान्त और नव्य न्याय के अनुसार **वाक्यज्ञान** के लिए वाक्यगत पदो मे परस्पर आकाक्षा, योग्यता सन्निधि एव तात्पर्यज्ञान का होना आवश्यक है जबकि अन्य शब्दवादी दर्शनो मे वाक्यबोध के लिए केवल प्रथम तीन को ही आवश्यक माना गया है। किनतु वाक्यबोध के लिये तात्पर्यज्ञान को मानना आवश्यक है। नव्य नैयायिको के अनुसार सन्दर्भ एव प्रसग के अनुसार अर्थ बदलते रहते हैं अत विशेष सन्दर्भों मे अर्थ के निर्धारण के लिये तात्पर्यज्ञान से श्रोता को विवक्षित अर्थ का बोध होता है तथा वाक्य के अर्थ के बारे मे सशय का निवारण भी होता है। इसलिए वाक्यार्थ बोध के लिये तात्पर्य ज्ञान को कारण मानना आवश्यक है।

वाक्यार्थ बोध के प्रसग मे मुख्यत चार मत दृष्टिगोचर होते है। प्रथम मत **वैयाकरणो** का है जिसके अनुसार वाक्य ही वाक्यार्थ का बोधक होता है। इस वाक्यार्थ बोध मे धात्वर्थ को ही मुख्य विशेष्य माना जाता है और पदार्थ उसी मे विशेषण के रूप मे प्रतीत होते हैं। किन्तु यह मत उचित नहीं है क्योकि वाक्य और वाक्यार्थ दोनो निरवयव होते हैं। किसी समय वाक्य का एकदेश विस्मृत हो जाने पर भी वाक्यार्थ निकल आता है–यह अनुभवसिद्ध है। किन्तु वैयाकरणो के मत को मानने पर उस अनुभव का अपलाप करना पड़ेगा।

द्वितीय मत **तार्किको** का है जिसमे प्रथमान्त पद से उपस्थापित अर्थ को विशेष्य माना जाता है और पदार्थ उसी मे विशेषण रूप मे प्रतीत होते हैं। किन्तु यह विचार भी तक की कसौटी पर खरा नहीं उतरता, क्योकि तार्किको का मत सर्वत्र एक सा नहीं है। **गदाधर भट्टाचार्य** ने 'व्युत्पत्तिवाद' मे कहा है कि 'भूतल घटो नास्ति" इत्यादि स्थलो मे तार्किको का नियम लागू नहीं होता। इसलिए यह नियम सीमित होने से अस्वीकार्य है।

तीसरा मत अन्विताभिधानवाद' **प्राभाकर मीमासको** का है। इसके अनुसार वाक्य तो पदसमुदायरूप है। अर्थात् पद ही वाक्य है और पदार्थ ही वाक्यार्थ है। तात्पर्य यह है कि पद अन्वित अर्थ को बताता है। किन्तु यह मत भी सन्तोषजनक नहीं है, क्योकि इसमे पदो की अन्वय तथा अर्थ मे दो शक्तियॉं माननी पडती हैं। इसलिए गौरव प्रतीत होता है और लाक्षणिक स्थलो मे अन्विताभिधान का होना सभव नहीं है।

चतुर्थ और अन्तिम मत **भाट्ट मीमासको** का है जिसे अभिहितान्वयवाद कहा जाता है। **अद्वैत वेदान्त** मे भी इसी मत का समर्थन किया गया है। इसके अनुसार पद पदार्थ के स्वरूप के ही वाचक होते है। वे आकाक्षा योग्यता आसत्तिरूप सहकारी कारणो से युक्त होकर लक्षणा से वाक्यार्थ को बताते है। अद्वैत वेदान्तियो ने किञ्चित सशोधन के साथ इस मत का समर्थन किया है। इनके अनुसार वाक्यार्थ बोध के लिये उपर्युक्त तीन सहकारी कारणो के अतिरिक्त तात्पर्यज्ञान को भी मानना चाहिए। अद्वैत वेदान्त का यह मत उचित ही है। इसका विस्तृत विवेचन वाक्य के स्वरूप विवेचन प्रकरण मे किया गया है। हमारा मानना है कि अद्वैत वेदान्त द्वारा सशोधित अभिहितान्वयवाद' को सिद्धान्त के रूप मे स्वीकार किया जा सकता है।

शब्द प्रमाण के मुख्यत **दो भेद** माने गये है– वैदिक व लौकिक। प्राभाकर आदि कुछ दार्शनिक लौकिक शब्द के प्रामाण्य को नही मानते किन्तु वैदिक शब्द के प्रामाण्य को प्राय सभी शब्दवादी दार्शनिक मानते है। हमारे मतानुसार लौकिक शब्द को प्रामाणिक माना जाना चाहिए। वैदिक शब्द को एक मत से प्रमाण मानते हुए भी दार्शनिको मे वेद के प्रामाण्यादि के बारे मे दार्शनिको मे मतभेद है। **न्याय** के अनुसार वेद पौरूषेय व नित्य है जबकि **पूर्वमीमासा** मे वेद को अपौरूषेय और नित्य माना गया है। **अद्वैत वेदान्त** के अनुसार वेदार्थ तो नित्य है किन्तु वेद अपौरूषेय होते हुए भी **नित्य नहीं हैं, क्योकि ईश्वर प्रत्येक सृष्टि के आरम्भ मे फिर से उनका उच्चारण करता है। अद्वैत वेदान्त का यह मत तर्क की कसौटी पर अधिक खरा उतरता है, क्योंकि वस्तुत तात्त्विक दृष्टि से** ईश्वर (ब्रहम) के अतिरिक्त अन्य किसी की नित्य सत्ता नही है। इसलिए वेदादि के परमार्थिक दृष्टि से नित्य होने का प्रश्न ही नही उठता। इस तरह से **निष्कर्षत हमारा मानना है कि शब्द प्रमाण के समग्र पक्षो पर अद्वैत वेदान्त का मत अधिक तर्कपूर्ण है।**

पूर्वमीमासा एव अद्वैत वेदान्त मे **अर्थापत्ति** को एक पृथक् प्रमाण माना गया है। दोनो ही दर्शनो मे अर्थापत्ति प्रमाण का स्वरूप लगभग समान है। सामान्यत सत्य अर्थ की कल्पना को अर्थापत्ति कहते हैं। अर्थापत्ति का लक्षण है– **"उपपाद्य के ज्ञान से उपपादक की कल्पना ही अर्थापत्ति है, जिसमे उपपाद्य का ज्ञान करण (प्रमाण) है।"** अर्थापत्ति प्रमाण तथा तज्जन्य प्रमा को भी अर्थापत्ति ही कहते हैं, उसी प्रकार जैसे प्रत्यक्ष प्रमाण तथा तज्जन्य प्रमा भी प्रत्यक्ष कहलाती है। यद्यपि प्रमा एव प्रमाण दोनो के लिये 'अर्थापत्ति' शब्द का प्रयोग होता है, तथापि दोनो मे 'अर्थापत्ति' शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त भिन्न–भिन्न है। अतएव अर्थो मे भी भिन्नता है। कल्पनारूप प्रमा मे अर्थापत्ति की प्रवृत्ति षष्ठी समास करके होती है। अर्थात् "अर्थस्य आपत्ति कल्पना इति अर्थापत्ति" एव कल्पना के करण के अर्थ मे अर्थापत्ति शब्द बहुब्रीह समास करके प्रयुक्त किया जाता है। अर्थात् "अर्थस्य आपत्ति यस्मात् तत्।"इस प्रकार प्रवृत्ति के निमित्त भेद से एक ही अर्थापत्ति शब्द के 'प्रमा' और 'प्रमाण' रूप दोनो ही अर्थ हो सकते हैं। सक्षेप मे अर्थापत्ति को परिभाषित करते हुए हम कह सकते हैं कि जहॉ दृष्ट अथवा श्रुत पदार्थ एक दूसरे से असगत जान पडते हो तो उस असगति को दूर करने के लिये एक सत्य

अर्थ की कल्पना करनी पडती है। इस अर्थ की कल्पना को ही अर्थापत्ति प्रमाण कहते हैं।

अर्थापत्ति के भेद को लेकर भी दार्शनिको मे मतभेद है। **भाट्ट मीमासक** और **अद्वैत वेदान्ती** अर्थापत्ति के दो भेद मानते है— दृष्टार्थापत्ति तथा श्रुतार्थापत्ति। **प्रभाकर मिश्र** केवल दृष्टार्थापत्ति को ही अर्थापत्ति मानते है। उनके अनुसार श्रुतार्थापत्ति को अर्थापत्ति का एक अन्य भेद मानने की आवश्यकता नही है, क्योकि दृष्ट और श्रुत दोनो एक ही अर्थ के बोधक है। लेकिन प्रभाकर का यह मत उचित प्रतीत नही होता क्योकि दृष्टार्थापत्ति से सगृहीत सभी अर्थापत्तियॉ 'प्रमेयग्राहिणी है जबकि श्रुतार्थापत्ति प्रमाणग्राहिणी' है। इसी कारण भाट्ट मीमासक एव अद्वैत वेदान्ती श्रुतार्थापत्ति को अर्थापत्ति का एक पृथम् भेद मानते है। जिसे उचित माना जा सकता है।

श्रुतार्थापत्ति को दृष्टार्थापत्ति से भिन्न मानते हुए भी भाट्टो एव अद्वैत वेदान्तियो मे श्रुतार्थापत्ति की व्याख्या मे थोड़ा मतभेद है। भाट्ट मीमासको का मत है कि श्रुतार्थापत्ति मे शब्द या वाक्य की कल्पना करनी पडती है, जबकि अद्वैत वेदान्तियो के अनुसार इसमे कभी शब्द की तथा कभी तथ्य की कल्पना करनी पडती है। अद्वैत वेदान्तियो का मत अनुभव के अधिक अनुकूल है क्योकि जहॉ शब्द या वाक्य से काम नही चल सकता, वहॉ कभी–कभी तथ्य की कल्पना करना आवश्यकत हो जाता है। इसलिए **श्रुतार्थापत्ति के बारे मे अद्वैत वेदान्त का मत अधिक सन्तोषजनक प्रतीत होता है।**

अर्थापत्ति के प्रामाण्य को न मानने वाले दर्शनो मे अर्थापत्ति का अन्तर्भाव अनुमान प्रमाण मे कर दिया गया है। **नैयायिक** इसे केवल व्यतिरेकी अनुमान मे अन्तर्भावित करते हैं। लेकिन **मीमासा** एव **अद्वैत वेदान्त** मे केवलव्यतिरेकी अनुमान को अस्वीकार कर दिया गया है। इसलिए वे इसका अन्तर्भाव केवल व्यतिरेकी अनुमान मे न करके स्वतन्त्र प्रमाणत्व प्रदान करते हैं। पुनश्च, अनुमान की प्रक्रिया अनुपपन्नता पर आधारित नहीं है जबकि अर्थापत्ति का मुख्य आधार ही अनुपन्नता है। अनुमान का आधार व्याप्ति है, किन्तु व्याप्ति अर्थापत्ति का आधार नहीं है। इसलिए **अर्थापत्ति को एक स्वतत्र प्रमाण मानना औचित्यपूर्ण है और इसके समग्र पक्षो पर अद्वैत वेदान्त का मत सर्वाधिक तर्कसगत है।**

प्रमाणो के विवेचन क्रम मे अन्तिम स्थान **अनुपलब्धि** प्रमाण का है। अभाव प्रमा के साधकतम् या असाधारण कारण को अनुपलब्धि प्रमाण कहते हैं। प्रत्यक्षादि प्रमाणो से ज्ञेय पदार्थों के अभाव का ज्ञान जिस साधन से होता है, उसे अनुपलब्धि या अभाव प्रमाण कहते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि प्रत्येक अभावानुभव का ज्ञान अनुपलब्धि प्रमाण से नहीं होता, प्रत्युत केवल उसी अभावानुभव का ज्ञान अनुपलब्धि प्रमाण से होता है जिसे जिस परिस्थिति मे उपलब्ध रहना चाहिए, उस परिस्थिति मे वह उपलब्ध नहीं होती है। इस प्रकार अभाव ज्ञान का कारण 'योग्यानुपलब्धि' है।

अनुपलब्धि के पृथक् प्रमाणत्व को लेकर दार्शनिकों मे मतभेद है। न्याय–वैशेषिक, साख्य–योग, बौद्ध, जैन एव प्राभाकर मीमासक अनुपलब्धि को पृथक प्रमाण नहीं मानते हैं जबकि

शाबर एव भाट्ट मीमासक तथा अद्वैत वेदान्ती इसे पृथक प्रमाण मानते है। भाट्ट मीमासा एव अद्वैत वेदान्त मे अनुपलब्धि प्रमाण के बारे मे गहन चिन्तन किया गया है। दोनो ही दर्शनो मे विवेच्य प्रमाण के बारे मे गहन चिन्तन किया गया है। दोनो ही दर्शनो मे विवेच्य प्रमाण का स्वरूप लगभग समान है।

प्राभाकर मीमासक अनुपलब्धि को प्रमाण नही मानते है। इनके अनुसार भावात्मक पदार्थ का ससर्ग तो होता है किन्तु अभावात्मक पदार्थ का ससर्ग नही होता। साक्षात् या परम्परया सम्बन्धरहित प्रमेय की साधकता किसी प्रमाण मे दृश्य न होने के कारण अनुपलब्धि प्रमाण की सत्ता किसी भी तरह से सिद्ध नहीं हो सकती है। **न्याय दर्शन** मे भी अनुपलब्धि का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष अनुमान एव आगम प्रमाणो मे किया गया है। नैयायिक अनुपलब्धि (अभाव) के प्रामाण्य का खण्डन करते हुए भी अभाव के पदार्थत्व को स्वीकार करते है जबकि प्राभाकर न तो अभाव प्रमाण को मानते हैं और न अभाव नामक पदार्थ को ही। इनके अनुसार अभाव अधिकरणरूप ही है। **भाट्ट मीमासको** के अनुसार अभाव अधिकरणरूप नही है बल्कि अधिकरण से अधिक है। नैयायिक भी अभाव को अधिकरण से अधिक मानते है, किन्तु वे उसका ग्रहण विशेष्य–विशेषणाभाव सन्निकर्ष के माध्यम से प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा अथवा अनुमान प्रमाण या शब्द प्रमाण से कर लेते है। प्राभाकर मीमासक अभाव की प्रमेयता का खण्डन करते हुए भी अभाव को प्रत्यक्षगम्य मानते हैं।

किन्तु विशेष्य–विशेषण भाव सन्निकर्ष के माध्यम से प्रत्यक्ष द्वारा अभाव का ज्ञान नहीं हो सकता, क्योकि विशेष्य–विशेषणभाव कोई सम्बन्ध ही नहीं है। दूसरी बात यह है कि इन्द्रियो का सन्निकर्ष केवल भावात्मक पदार्थों के साथ ही होता है अभावात्मक पदार्थों के साथ नहीं। इसलिए अनुपलब्धि (अभाव) का अनतर्भाव प्रत्यक्ष मे नहीं किया जा सकता। अनुमान प्रमाण से भी अभाव पदार्थ का ज्ञान नही हो सकता क्योकि अभाव के ग्रहणार्थ उपयुक्त लिग का अभाव है। शब्द प्रमाण या उपमान के लिए आप्तवाक्य और सादृश्यज्ञान आवश्यक होता है, जो कि अनुपलब्धि मे अप्राप्य है। इसलिए अभाव पदार्थ के ज्ञान के लिये अनुपलब्धि प्रमाण को मानना आवश्यक है।

न्याय–वैशेषिक दर्शन की ही भॉति भाट्ट मीमासा एव अद्वैत वेदान्त मे अनुपलब्धि के प्रमेय भूत **अभाव के चार भेद** माने गये है– प्रागभाव, प्रध्वसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव। **न्याय–वैशेषिको** के अनुसार इनमे से प्रथम दो क्रमश अनादि–सान्त तथा सादि– अनन्त होते हैं, जबकि अन्तिम दो अनादि और अनन्त इसलिए नित्य होते हैं। किन्तु **अद्वैत वेदान्त** के अनुसार प्रध्वसाभाव को अनादि अर्थात् नित्य मानने से ब्रह्म और प्रध्वसाभाव दोनो को नित्य मानना होगा, जिससे द्वैतापत्ति होगी। इसलिए प्रध्वसाभाव को ध्वसरूप अर्थात् अनित्य मानना चाहिए। पुनश्च,

प्रलय काल मे समस्त पदार्थो का ध्वस होने पर उन पर आश्रित अत्यन्ताभाव का भी नाश हो जाता है इसलिए अत्यन्ताभाव को नित्य नही माना जा सकता है। इसी तरह अन्योन्याभाव भी अनादि–अनन्त न होकर सादि और अनन्त दोनो होता है। अन्योन्याभाव के अधिकरण के सादि होने पर वह सादि होगा और अधिकरण के अनादि होने पर वह अनादि होगा। अद्वैत वेदान्त का मत तत्त्वमीमासीय दृष्टि से द्वैतवाद आदि दोषो से रहित होने के कारण अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। **वस्तुत अनुपलब्धि प्रमाण प्रमाण के समग्र पक्षो पर अद्वैत वेदान्त का मत अधिक तर्कपूर्ण प्रतीत होता है।**

निष्कर्षत हमारा मानना है कि प्रस्तुत शोध–विषय मे विवेचित छ प्रमाणो के बारे मे समग्र रूप से अद्वैत वेदान्त का मत अधिक सन्तुलित एव तर्कपूर्ण है। इसलिए षड प्रमाणो के समस्त पक्षो पर अद्वैत वेदान्त के मत को सिद्धान्त के रूप मे स्वीकार किया जा सकता है।

परिशिष्ट

संदर्भ-ग्रन्थ-सूचिका

संदर्भ-ग्रन्थ-सूचिका

अर्चट	*हेतुबिन्दु टीका गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज बडौदा 1949।*
अकलंक	*राजवार्तिक भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसी 1957।*
अनिरुद्ध	*अनिरुद्धवृत्ति प0 आशुतोष विद्याभूषण तथा प० नित्यबोध विद्यारत्न कलकत्ता 1935।*
आनन्दपूर्ण	*न्यायचन्द्रिका, गवर्नमेण्ट ओरिएण्टल मैनुस्क्रिप्ट लाइब्रेरी, मद्रास, 1959।*
अन्न भट्ट	*तर्कसग्रह भण्डारकर प्राच्यविद्या सशोधन मन्दिर, पूना 1930।*
बसुबन्धु	*विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि नव नालन्दा महाविहार रिसर्च पब्लिकेशन, नालन्दा, 1957।*
भट्टोजि दीक्षित	*वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी, मोती लाल बनारसी दास, 1979।*
चित्सुखाचार्य	*तत्त्वप्रदीपिका,उदासीन सस्कृत विद्यालय, काशी 1956।*
दिङ्नाग	*प्रमाणसमुच्चय मैसूर विश्वविद्यालय प्रकाशन, मैसूर, 1930।*
देवनन्दी	*सर्वार्थसिद्धि भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसी 1935।*
डॉ० राधाकृष्णन्	*भारतीय दर्शन, भाग–II राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, 1983।*
डॉ० चक्रधर विजल्वान	*भारतीय न्यायशास्त्र उत्तर प्रदेश हिन्दी सस्थान, लखनऊ, 1983।*
धर्मकीर्ति	*न्यायबिन्दु काशी प्रसाद जायसवाल अनुशीलन सस्था, पटना, 1955।*
धर्मकीर्ति	*प्रमाणवार्तिक, किताब महल इलाहाबाद 1943।*
धर्मोत्तर	*धर्मोत्तर प्रदीप, काशी प्रसाद जायसवाल अनुशीलन सस्था, पटना, 1955*
धर्मोत्तर	*न्यायबिन्दुटीका, काशी प्रसाद जायसवाल अनुशीलन सस्था, पटना 1955।*
धर्मभूषण	*न्यायदीपिका, वीरसेवा मन्दिर सहारनपुर, 1945।*
धर्मराजाध्वरीन्द्र	*वेदान्त परिभाषा, व्याख्या– श्री गजानन शास्त्री मुसलगॉवकर चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1983।*
गौतम	*न्यायसूत्र, कलकत्ता सस्कृत ग्रन्थमाला, कलकत्ता, 1936।*
गंगेश उपाध्याय	*तत्त्वचिन्तामणि, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1917।*
गदाधर भट्टाचार्य	*गादाधरी, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1917।*
हेमचन्द्र	*प्रमाणमीमासा, सिन्धी जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद, 1939।*
हरिदास	*हरिदासवृत्ति, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1962।*

ईश्वर कृष्ण — *साख्यकारिका चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी 1963।*

जैमिनि — *मीमासासूत्र (जैमिनिसूत्र) आनन्दश्रम मुद्रणालय पूना 1929।*

जयन्त भट्ट — *न्याय मजरी भाग–I प्राच्यविद्या सशोधनालय, मैसूर 1970।*

जयन्त भट्ट — *न्याय मजरी भाग–II, चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी 1936।*

कुमारिल भट्ट — *श्लोकवार्तिक मद्रास विश्वविद्यालय प्रकाशन मद्रास 1940*

कुमारिल भट्ट — *न्यायरत्नाकर चौखम्बा सस्कृत सीरीज वाराणसी 1953।*

कुमारिल भट्ट — *तन्त्रवार्तिक आनन्दाश्रम, पूना 1970।*

कणाद — *वैशेषिक सूत्र, चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी 1933।*

केशव मिश्र — *तर्कभाषा चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी, 1953।*

केशव मिश्र — *तर्कभाषा व्याख्या– बदरीनाथ शुक्ल, मोतीलाल वनारसीदास वाराणसी द्वितीय सस्करण 1976।*

कुन्दकुन्द — *प्रक्चनसार श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल बम्बई, 1936।*

मधुसूदन सरस्वती — *अद्वैत सिद्धि, निर्णय सागर मुद्रणालय बम्बई 1977।*

माधवाचार्य — *सर्वदर्शनसग्रह भण्डारकर प्राच्यविद्या सशोधन मन्दिर पूना 1951।*

मनोरथरन्दी — *मनोरथनन्दीवृत्ति, किताब महल इलाहाबाद 1943।*

महेन्द्र कुमार जैन — *जैन तर्कभाषा, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, 1978।*

नारायण भट्ट — *मानमेयोदय थियोसाफिकल पब्लिशिग हाउस अड्यार मद्रास 1933।*

पाणिनि — *अष्टाध्यायी, रामलाल कपूर ट्रस्ट बहालगढ सोनीपत, 1973।*

प्रशस्तपाद — *प्रशस्तपादभाष्य, निर्देशक अनुसन्धान सस्थान वाराणसेय सस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1963।*

प्रभाचन्द्र — *प्रमेयकमलमार्तण्ड निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, द्वितीय सस्करण, 1941।*

प्रो० सगमलाल पाण्डय — *भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण, सेण्ट्रल बुक डिपो इलाहाबाद, 1981।*

प्रभाकर मिश्र — *बृहती चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी 1933।*

पार्थसारथि मिश्र — शास्त्रदीपिका, चौखम्बा प्रकाशन 1913।

रत्नकीर्ति — *रत्नकीर्ति निबन्धावली, के0पी0 जायसवाल अनुशीलन सस्था, पटना, 1955।*

रगनाथ पाठक — *स्फोट दर्शन, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद, 1967।*

सिद्धसेन दिवाकर — *न्यायावतार, श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, 1936।*

श्री हर्ष — *खण्डनखण्डखाद्य, अच्युत ग्रन्थमाला, वाराणसी स0 2018।*

एस० सुब्रह्मण्यम् शास्त्री — *न्यायभूषण, गवर्नमेण्ट ओरिएण्टल मैनुस्क्रिप्ट लाइब्रेरी, मद्रास, 1961।*

शबर स्वामी — *शाबरभाष्य, आनन्दाश्रम मुद्रणालय पूना, 1951।*

शालिकनाथ मिश्र — *प्रकरणपचिका काशी हिन्दू विश्वविद्यालय मुद्रणालय काशी 1961।*

उदयन — *किरणावली चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी 1919।*

उद्योतकर — *न्यायवार्तिक कलकत्ता सस्कृत ग्रन्थमाला कलकत्ता 1936।*

उम्बेक — *श्लोकवार्तिकतात्पर्यटीका, मद्रास विश्वविद्यालय प्रकाशन मद्रास 1940।*

उमास्वामी — *तत्त्वार्थाधिगमसूत्र, भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसी, 1949।*

वात्स्यायन — *न्यायभाष्य, कलकत्ता सस्कृत ग्रन्थमाला कलकत्ता, 1936।*

वाचस्पति मिश्र — *साख्यतत्त्वकौमुदी सत्य प्रकाशन बलरामपुर हाउस, इलाहाबाद 1962।*

वाचस्पति मिश्र — *न्यायकणिका तारा पब्लिकेशन वाराणसी 1978।*

वाचस्पति मिश्र — *न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका कलकत्ता सस्कृत ग्रन्थमाला कलकत्ता 1936।*

विश्वनाथ — *सिद्धान्तमुक्तावली चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी 1951।*

विज्ञानभिक्षु — *साख्यप्रवचनभाष्य, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1951।*

व्यास — *व्यासभाष्य भारतीय विद्या प्रकाशन, पचगगाघाट, वाराणसी, 1963।*

BELVALKER, S K — *Upman in Indian Philosophy, Eastern book linkers, Jawahar Nagar, Delhi, 1980*

CHATTERJEE, S.C — *The Nyay Theory of Knowledge Calcutta University Press, Calcutta, 1950*

DATTA, D M — *The Six Ways of Knowing, Calcutta University Press, Calcutta, Second edition, 1978*

JHA, G N — *Slokavartika, English Translation, Asiatic Society of Bengal, Calcutta, 1980*

MOTILAL, B K — *Perception, Clarendon Press, Oxford, 1986*

MOHANTI, J N • *Gangesha's Theory of Truth*

RANADEL H.N • *Fragments from Dinnāge, Royal Asiatic Society London, 1929*

STCHERBATSKY, T. — *Buddhist Logic, Dover Publication, New York, 1962*